न हन्यते

न हन्यते

साहित्य अकादमी द्वारा सम्मानित
मैत्रेयी देवी
के मूल बंगला उपन्यास का
विमल मिश्र
द्वारा रूपान्तर

अजो नित्यः शाश्वतोऽयम् पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।

आत्मा जन्म-रहित, शाश्वत व पुरातन है,
शरीर का नाश होने पर भी यह नहीं मरता ।

क्रम

क्रम

न हन्यते : प्रथम पर्व

1 सितम्बर 1972।

पार्वती व गौतमी, आज मेरे जन्म-दिन के समारोह पर तुम आयी थीं। तुम्हीं लोगों ने ही यह समारोह किया था, किन्तु तुम लोगों को पता नहीं था कि तभी, ठीक तभी—जब इस कमरे में गाना हो रहा था, गप-शप चल रही थी, और मैं हँस रही थी—उस वक्त मैं यहाँ से जा भी रही थी। समय का प्रवाह मेरे मन में उछल रहा था, उसने मुझे छुआ था और मैं चली जा रही थी, चली जा रही थी भविष्य की ओर नहीं, अतीत की ओर।

अभी आधी रात जा चुकी है, शायद दो बजे हैं—मैं बरामदे में खड़ी हूँ—यहाँ से पूरा आकाश नज़र नहीं आ सकता है, आधे आकाश से सप्त-ऋषि अनन्त प्रश्न की तरह मेरे मुँह की ओर टुकुर-टुकुर निहार रहे हैं। प्रश्न-प्रश्न-प्रश्न, आज यह प्रश्न कितने युगों को पार कर फिर क्यों मेरे मन में आया ? क्यों मेरे जीवन में एक ऐसी घटना घटी जिसकी कोई ज़रूरत नहीं थी ? फिर, देख रही हूँ, इसका तो आदि-अन्त भी नहीं है।

आकाश में तारे चमक रहे हैं; कितने लोगों की कितनी यन्त्रणाओं के साक्षी हैं वे। यह आकाश मेरा तो समस्त मन खींच रहा है—मैं जैसे यहाँ नहीं हूँ, यहाँ नहीं हूँ, किन्तु मैं तो यहीं हूँ। यहाँ से क्या कही जा सकती हूँ मैं ? यही तो मेरा परिचित घर-संसार है। कमरे में मेरे पति निश्चिन्त होकर सो रहे हैं। कितने निःसंशय हैं मेरे सम्बन्ध में ? मुझे वे

अच्छी तरह नहीं पहचानते हैं, और कितना अधिक प्यार करते हैं, कितना विश्वास करते हैं मुझ पर ! मैं ही हूँ उनकी सब-कुछ । मुझे ही केन्द्र बनाकर उनकी दुनिया घूम रही है, परन्तु वे तो मेरे सब-कुछ नहीं हैं, वे किसी तरह इसे निश्चय-पूर्वक जानते हैं, तो भी इससे उन्हें कोई क्षोभ नहीं है । क्षोभ तो मुझे भी नहीं है । मेरा जीवन तो सब ओर से लबालब भरा हुआ है । संसार को जो कुछ देने को था, लगा था, वह दे सकी हूँ । प्यार की जो महिमा है, लगा था, उसे जानती हूँ । श्रद्धा और पूजा के साथ घुल-मिलकर उसके अलौकिक ऊर्ध्वगामी निवेदन ने मुझे अपने गुरु के प्रति कृतार्थ किया है । फिर भी कल से मेरे जीवन का आस्वाद ऐसा कैसे बदल गया ? तपते सहरा की बालू की तरह विचित्र दारुण अतृप्ति मेरी शस्यश्यामल, सुन्दर दुनिया पर छा गयी ! मैं जानती हूँ उसके नीचे सब-कुछ है, जैसा था ठीक वैसा ही । अभी भी उनके अवचेतन में मैं उसी तरह मौजूद हूँ—और ऊपर अपने माँ-बाप की बग़ल में सोया हुआ है मेरा पोता । कल सवेरे जब वह उतरकर आयेगा तब उसके नरम-नरम छोटे-से हाथ मुझे उसी तरह चिपटा लेंगे—मेरी दुनिया तो वैसी ही है—कोमल, सजीव, हरी-भरी । फिर भी, इसके ऊपर पिघला हुआ लावा लुढ़ककर क्यों आता है ? मेरे मुँह पर तो गरम हवा की ताप लगती है । नहीं, नहीं, लावा नहीं, पिघला हुआ सोना भी तो हो सकता है—यह तो लौटा देने लायक़ नहीं है, इसमें तो आनन्द है, इसका तो मूल्य है । मैं जानती हूँ, यह राख नहीं हो जायेगा; क्योंकि राख हो जाने पर भी जो बचेगा—यह तो वही अवशिष्ट है ।

तो भी आज दो दिनों से कितना कष्ट, कितना भयानक कष्ट पा रही हूँ मैं । कैसा कष्ट ? 'रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्'—जिस तरह मन व्याकुल होता है, जनान्तर सुहृद मन को क्या उसी तरह याद आता है—'पर्युत्सुकी भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः' ? ऐसा भी तो नहीं, यह तो किसी और जन्म की बात नहीं है, यह तो बस उस दिन की बात है—केवल बयालीस वर्ष पहले की बात है । केवल बयालीस वर्ष पीछे लौट गयी हूँ मैं—मनुष्य के लिए तो यह समय की लम्बी अवधि है, परन्तु अनन्त के लिए ?

समय का तो कहीं कोई पड़ाव-ठहराव नहीं है; उसका ओर भी क्या, छोर भी क्या, और पार्श्व भाग भी क्या? उसका उदय-अस्त नहीं है —सिर्फ मेरे सम्बन्ध में यह अनादि, अनन्त महाकाश खंडित है—[illegible] प्रकट करने के लिए यह सीमाबद्ध है, किन्तु आज हठात् [illegible] की सीमा-रेखा को उसने खड़ा कर दिया है—मैं महाकाश में [illegible] हूँ। मेरा भूत-भविष्य कुछ नहीं है—मैं इस 1972 ई० में [illegible] स्थिर ध्रुव खड़ी हूँ 1930 ई० में।

घटना घटी कैसे, घटी किस तारीख को?

1972 ई० के 1 सितम्बर के सवेरे की बात है। [illegible] बचपन के मित्र गोपाल ने मुझे फोन किया और कहा, "अमृता, तुम्हें यूक्लिड की याद है?"

'हाँ, है तो कुछ-कुछ। पर क्यों?"

"उसके देश से एक सज्जन आये हुए हैं, उनके परिचित हैं वे। यूक्लिड तुम्हारे पिता का छात्र रह चुका है। पर वे तो अब रहे नहीं, इसीलिए तुम्हीं से वे सज्जन मिलना चाहते हैं।"

एक हल्की खुशी की बिजली एक क्षण के लिए मेरे मन-प्राण के भीतर दौड़ गयी।

गोपाल टेलीफ़ोन पर धमकी दे रहा है:

"चुप क्यों हो? उन्हें ले आऊँ?"

"नहीं, नहीं, मैं ही आऊँगी। उनका पता दे दो।"

उस दिन सवेरे से ही वर्षा हो रही थी। मैंने [illegible] की तलाश की और [illegible] पहुँची! [illegible] क्यों आयी? [illegible] मुझे क्या [illegible] हूँ, मैं [illegible] क्या बहुत ही [illegible]

सचाई की [illegible]

ज़रा बनाव-सिंगार भी किया है..., एक अच्छी-सी साड़ी पहनी है, तो भी आईने के सामने मुझे बड़ा बुरा लग रहा है। चेहरा तो बहुत ही खराब हो गया है; महाकाल के थपेड़ों की चपेट में आने से कुछ भी नहीं बचता—वह सब-कुछ तोड़-फोड़कर जीर्ण बना डालता है, किन्तु क्या इतना ही है? काल क्या सिर्फ़ पुराना ही कर देता है, नया नहीं बनाता? बेशक, चेहरा तो मेरा पुराना हो गया है, पर मन? जो मन आज मिर्चा यूक्लिड के बारे में जानना चाहता है वह कुतूहली और उत्सुक मन तो नया ही है, और यह भी तो काल की ही सृष्टि है! एक दिन मैंने लिखा था :

जो काल पीछे था
अनवगुंठित मुख पर तारा-खचित उत्तरीय में—
वह काल सामने लौट आता है—
किसने उसे भूषण दिये, दिये अलंकार
क्षण स्थायी ऐश्वर्य की वसन्त-बहार?
स्पर्श-हीन स्रोत में, उसके रूपहीन आवेग में अतुल
किसने खिलाये फूल?
शून्य के समुद्र से प्रतिपल धरती काया—
वेला-हीन तट पर लहरों की मृत्युमयी माया।

जब लिखा था, तब पता नहीं था कि अतीत सामने कैसे आता है—कैसे पुराना नया हो उठता है? या शायद नया-पुराना मानकर सोचना ही एक भ्रम मात्र है!

गाड़ी में बैठकर मैं हँस रही हूँ—मुझे तो बड़ा मजा आ रहा है! हालत तो देखो, मुझे इतना सजने-सँवरने की आखिर ज़रूरत क्या थी? चेहरे को लेकर इतना पछताने का भला कारण ही क्या है? आखिर, मिर्चा यूक्लिड से तो मेरी मुलाक़ात हो नहीं रही है, मुलाक़ात होगी उसके देश के एक अपरिचित आदमी से।

दरवाजा खुला हुआ ही था। वह आदमी मेज पर झुककर कुछ लिख रहा था। उसका रंग तां[illegible] है, [illegible] जैसा सफ़ेद नहीं, क़द बहुत

बड़ा नहीं है, और चेहरे पर बुद्धिमत्ता की छाप है। मेरी आहट पाकर वह उठ खड़ा हुआ। बोला, "मैं हूँ सेरगेई सेबास्टिन।" उसके बाद हाथ बढ़ाकर मेरे दाहिने हाथ को पकड़ा और मेरी उल्टी हथेली को चूमा—यह उन लोगों के देश की रीति है। यह अति परिचित ढंग जैसे बहुत भूले युग की पद-चाप की भाँति लगा।

"तो तुम्हीं अमृता हो ?"

मैं जानती हूँ, यह विदेशी व्यक्ति जिसके बारे में कह रहा है, मेरी ओर ताक कर वह जिसे देख रहा है, वह आज की, 1972 ई० की अमृता नहीं है। जो विस्मय उसके इस छोटे-से प्रश्न में ध्वनित हुआ है वह आज की इस अमृता को देखकर नहीं जागेगा। आज तो उसके चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गयी हैं, बाल सफ़ेद हो गये हैं, देह सौष्ठवहीन हो चुकी है। वह देख रहा है स्थिर दृष्टि से, मुझको पार करके उसकी दृष्टि बहुत दूर चली गयी है, वह देख रहा है—1930 ई० की अमृता को।

"तुम मुझे पहचानते हो ?"

"तुम्हें तो हमारे देश के सभी लोग पहचानते हैं, तुम तो हमारे देश की परियों की कहानी की नायिका हो।"

"क्यों, मिर्चा की किताब से क्या ?"

"हाँ, उसकी किताब के कारण। उसने तुमसे ब्याह करना चाहा था, मगर तुम्हारे पिता ने नहीं होने दिया, क्योंकि तुम लोग हिन्दू थे और वह ईसाई।"

"बेकार की बात है।"

"क्या बेकार की बात है ?"

"यही कि हम लोग हिन्दू थे और वह ईसाई, इसलिए हम लोगों की शादी नहीं हुई। ऐसी कोई बात नहीं थी। जो कुछ था, वह था उसका दम्भ। आज बयालीस वर्ष हो गये, बीच-बीच में लोगों से उसकी किताब की चर्चा सुनी है लेकिन कभी किसी से पूछा नहीं कि वह किताब है कैसी—उपन्यास है, कविता है या निबन्ध है? पर आज बताओ तो बन्धु, कि उस किताब में आखिर है क्या ?" प्रश्न करके मैं हँस रही हूँ। क्या कमाल है, आज जितनी आसानी से पूछ सकी तो इतने दिनों तक क्यों

नहीं पूछा ? मगर वह तो कोई दूसरी अमृता थी। चालीस वर्ष पहले के आदमी से आखिर मेरा क्या सम्पर्क ? उसका कर्माकर्म क्या मुझे अब स्पर्श करता है ? बारह वर्ष के बाद तो हत्या के अपराध में दण्ड भी नहीं दिया जाता ! फिर मुझे ही इतनी शर्म क्यों आती है ? शर्म आती है इसलिए कि मैं मोरॅलिस्ट हूँ। न्याय-अन्याय और उचित-अनुचित को लेकर मैंने बहुत-कुछ सोच रखा है; निर्मम होकर मैं विचार किया करती हूँ। दुर्बलताओं को मैं प्रश्रय नहीं देती। मेरी सहेलियाँ भी मेरे सामने अपनी दुर्बलताओं की चर्चा नहीं करती हैं। मैं सम्मान के ऊँचे आसन पर बैठी हुई हूँ; खुद अपने आपको भी मैंने कभी नहीं बख्शा है। जब भी मिर्चा की बातें याद आयी हैं तभी मैंने अपने-आपको झिड़का है। आखिर क्यों ऐसी घटना घटी ? न घटी होती तो अच्छा था—तभी लज्जा ने, एक विषम लज्जा ने मेरी चेतना को आच्छन्न किया है और मैंने उसकी स्मृति को अवचेतन की गहराई में निर्वासित कर दिया। किन्तु आज कितनी आसानी से इससे पूछ डाला उसकी किताब के बारे में ! मन में कहीं कोई संकोच तक नहीं हुआ।

सेरगेई बोला, "वह किताब तो एक आत्मकथापरक उपन्यास है।" यह आदमी अच्छी-खासी अंग्रेज़ी नहीं बोल पाता है, टूटी-फूटी अंग्रेज़ी में ही रुक-रुककर बताने लगा, उस किताब के बारे में।

"जानती हो, इस किताब से भारतवर्ष के बारे में, कलकत्ते के बारे में जानकर हमारे देश के लोग स्तब्ध रह गये थे।" उसकी आवाज़ सुन रही हूँ और परिचित बहुत-सारे नाम याद आ रहे हैं; कलेजे में हल्का-हल्का-सा धक्का लग रहा है, जैसे झिलमिलियाँ एक-एक करके खुल रही हों। कमरे के अन्दर अंधकार छाया हुआ है, किन्तु मालूम है कि कहाँ क्या है। वहाँ घुसने को तो जी चाह रहा है, पर मारे डर के दम अटकने लगा है।

"सेरगेई, सच-सच बताओ तो, उस किताब में मेरे बारे में क्या लिखा हुआ है ?"

वह मन्द-मन्द हँस रहा है, बाद में अपने कॉन्टिनेंटल उच्चारण में 'त' के आधिक्य के साथ उसने कहा, "फर्स्त शी लव्द ए त्री" (पहले वह एक

पेड़ से प्यार करती थी।)।

मैं चौंक उठी। कलेजे के भीतर भक-से स्मृति का एक दीप जल उठा, "ठीक, ठीक, ठीक ही है, पर और बताओ तो सेरगेई, उसमें ऐसा भी कुछ है क्या जिसके चलते मैं लज्जित होऊँ ?"

सेरगेई ने सिर नीचा किया और बोला, "उसने लिखा है कि रात को तुम उसके कमरे में जाया करती थी। अवश्य, इसमें लज्जित होने की कोई बात है, ऐसा तो मुझे नहीं लगता।"

मैं तो स्तम्भित ! "क्या मुसीबत है ! क्या अन्याय है ! विश्वास करो सेरगेई, यह सच नहीं है, बिलकुल सच नहीं है।"

वह मुझे हिम्मत बँधा रहा है, "यह तो समझ में आता है, इसीलिए तो तुम्हारा वर्णन नहीं कर पाया है—लिखा है, तुम अंधकार में मूर्ति की भाँति खड़ी हो—उसे तो कोई दूसरा रास्ता नहीं था, उसे तो तब बड़ा कष्ट हो रहा था...।"

निस्सहायता का बोध मुझे तो हो रहा है; मानो पानी में गिर पड़ी हूँ। अप्रिय सत्य को तो ग्रहण करने के लिए मन को प्रस्तुत कर सकती हूँ, किन्तु अप्रिय मिथ्या का आघात तो असहनीय है।

इस विदेशी सज्जन ने सिगरेट को राखदान में बुझाया और बोला, "क्षमा करना, मैंने तुम्हें सब-कुछ बता दिया; आखिर सच्ची बात ही बतानी पड़ी।"

"अच्छा तो बता सकते हो सेरगेई, आखिर मेरा नाम लेकर उसने किताब क्यों लिखी है ?"

"तुम्हारे नाम का बन्धन वह टाल नहीं सका, तब जो उसे बड़ा कष्ट, बड़ा ही कष्ट हो रहा था—तुम वह किताब पढ़ोगी तो आँसुओं के सागर में डूब जाओगी।"

"तो इसी के लिए वह क्या एक ऐसा झूठा कलंक थोप देगा ?"

"यह तो उसकी कल्पना है—तब अपनी यंत्रणाओं के हाथों छुटकारा पाने के लिए उसे वही एक रास्ता मिला। पर तुम्हें तो वह अभी भी नहीं भूला है।" मुझे अचम्भा हो रहा है, कहूँ तो क्या कहूँ—"विचित्र युक्ति है तुम्हारी सेरगेई, यंत्रणाओं से मुक्ति पाने के लिए मिथ्या का

आश्रय लेना कहाँ तक उचित है ! और इतना ही उसे यदि मुझसे प्यार था तो मेरे पिता की एक डाँट खाकर ही मुझे छोड़कर क्यों चला गया ? ऐसा कभी होता है ? सुना है ऐसा कभी ?"

"नहीं होता ? नहीं सुना ? ऐसे ही उदाहरणों से तो इतिहास भरा पड़ा है। तुम तब सोलह साल की एक छोटी-सी लड़की थीं और वह तेईस साल का एक तरुण—हाय, तुम्हारे पिता ने तुम्हारा जीवन बरबाद कर दिया !"

मेरे शरीर को बिजली छू गयी। यह आदमी क्या बकता है ! "सेरगेई, तुम मेरे जीवन के बारे में जानते ही क्या हो ? किसकी मजाल है मेरे जीवन को बरबाद करने की ! मेरा जीवन समृद्ध है, लड़के-लड़कियों और नाती-पोतों को लेकर मेरा एक आदर्श परिवार है। कितने आदमियों का प्यार मिला है मुझे, सम्मान मिला है। और सर्वोपरि हैं मेरे गुरु, जिनके बारे में तुम्हारे मित्र को इतनी ईर्ष्या थी ! उनके अद्भुत स्नेह से अभिषिक्त मेरे मन ने एक ऐसे अतीन्द्रिय प्यार को खोज पाया है जो शब्दों और मन के परे की वस्तु है। उस एक तेईस बरस के लड़के के लिए मेरे इस अट्ठावन बरस के जीवन में कोई स्थान है क्या ?"

मैं खूब उत्तेजित होकर बातें कर रही हूँ, मेरे सिर की शिराएँ-उपशिराएँ जल-सी रही हैं—मुझे भय भी हो रहा है, मेरी तो काफ़ी अधिक उम्र है, कहीं स्ट्रोक न हो जाये !

सेरगेई अपने विपन्न-से मुख पर परेशानी-भरी हंसी लिये ताक रहा है।

"...नहीं-नहीं, जीवन बरबाद नहीं हुआ, बल्कि तब जीवन कुछ और तरह का होता।"

"हाँ, यह कह सकते हो। तब यह जीवन कुछ और तरह का होता, बस इतना ही।"

"तुम्हारी कविताओं की पहली किताब मेरे पास है। उसे जब देश छोड़कर चला जाना पड़ा तब मैं उसकी लाइब्रेरी की सारी किताबें ले आया था, उनमें तुम्हारी किताब भी थी।"

"अच्छा बताओ तो वह कैसी है देखने में ?"

"उसमें नीले कपड़े की मजबूत जिल्द लगी हुई है सुनहले रंग का एक बड़े-से फूल का नक़्शा है उसके बीचोंबीच।"

मैं हँस रही हूँ। "क्या आश्चर्य है! ठीक ही तो है। यह तो युगों पहले की बात है। पर तुमने कैसे जाना कि वह मेरी लिखी हुई किताब है?"

"आख़िरी पन्नों पर तुम्हारे हाथ की तिरछी-सी लिखावट है जो कि एक पृष्ठ से दूसरे पृष्ठ तक चली गयी है। तुमने लिखा है—मिर्चा, मिर्चा, मिर्चा, मैंने अपनी माँ से बतला दिया है कि तुमने केवल मेरे माथे का चुम्बन लिया था।"[1]

मेरगेई के मुँह की बात ख़त्म भी नहीं हुई थी कि तभी मेरे तलवों में सिहरन-सी हुई। मैं एक कम ऊँची चौकी पर बैठी हुई थी और मेरे पाँव फ़र्श को छू रहे थे, मुझे लगा मेरे पाँव अब जमीन पर नहीं हैं—इस कमरे की छत नहीं है। मैं शून्य में, महाशून्य में गिरी जा रही हूँ—हालाँकि मैं जानती हूँ, मैं सेरगेई की ओर निहार रही हूँ, और वह मन्द-मन्द हँस रहा है, मैं भी हँस रही हूँ...। किन्तु क्या आश्चर्यजनक है यह शारीरिक अनुभूति—मैं द्विधा-विभक्त हूँ! मैं यहाँ हूँ, हालाँकि यहाँ नहीं हूँ। मैं अपने-आप को देख पा रही हूँ, मैं भवानीपुर के मकान के दो-तल्ले के बरामदे में हूँ—बरामदे का फ़र्श सफ़ेद और काले चौकोर पत्थरों से जड़ा हुआ है, ठीक जैसे शतरंज की बिसात बिछी हुई हो। उस चिकने पत्थरों के फ़र्श पर मैं औंधी पड़ी हूँ और मेरे हाथ में वह किताब है। यह तो रही मैं, यह तो रही मैं—मैं अपने-आप को देख पा रही हूँ, मेरे कलेजे में हठात् जलप्रपात की भाँति फिर से उस दिन वाली रुलाई उमड़ आयी है। क्या आश्चर्य है, लेकिन मैं सेरगेई के साथ कुछ-न-कुछ बातें करती जा रही हूँ और वह उनका साफ़-साफ़ उत्तर देता जा रहा है। मेरे हाथ तो कुर्सी के हत्थों पर हैं, किन्तु मैं पत्थरों के उस फ़र्श की चिकनाहट का स्पर्श महसूस कर रही हूँ: मेरे सामने मुन्ना खड़ा है। मैं उसकी गन्दे नाख़ूनों वाली पैरों

---

1. "Mircea, Mircea, Mircea, I have told my mother that you have only kissed me on my forehead..."

की उँगलियाँ देख पा रही हूँ—मैली धोती का एक छोर फ़र्श को छू रहा है। यह तो एक सुबह है ! शायद 20 सितम्बर की सुबह। 18 सितम्बर को मिर्चा चला गया था। मुन्ना मुझसे कह रहा है, मैं साफ़ सुन पा रही हूँ—'रू, झटपट लिख दो भाई'—उसके बाद ज़रा मुँह बनाता हुआ वह फुस-फुसाकर कह रहा है—'चारों ओर स्पाई घूम रहे हैं।' पर यह तो वह मज़ाक में कह रहा है, वह खूब मज़ाक कर सकता है, हंसा सकता है !

मुन्ना हम लोगों का कोई नहीं है, किन्तु भाई-जैसा है। वे लोग बड़े ग़रीब हैं, उसकी माँ को मेरी दादी ने पाल-पोसकर बड़ा किया है। उसके बाद उसका व्याह करा दिया। मुन्ने की माँ को इसलिए हम लोग बुआ कहा करते हैं। बुआ के कुल अठारह सन्तान हैं, इसीलिए उन लोगों की ग़रीबी कभी दूर नहीं हुई। मुन्ना और उसकी बहन शान्ति हम लोगों के आश्रित हैं। यद्यपि उनके साथ हमारा बड़ा हेल-मेल है, हम लोग एक-दूसरे के मित्र हैं, खेल के साथी हैं, फिर भी उनकी कोई मर्यादा नहीं है। आश्रितों का जो हाल हुआ करता है, वही हाल उनका था—यही कि दया तो उन्हें मिलती है, पर मर्यादा नहीं मिलती। यहाँ तक कि मिर्चा भी मुन्ने पर खुश नहीं है। खैर, सो तो कुछ दूसरे कारण से—कारण यह है कि मुन्ना मुझे हँसाया करता है। वह मामूली-सी बात को कुछ इस ढंग से कहता है, कुछ ऐसा मुँह बनाता है कि हँसते-हँसते हम लोग लोटपोट हो जाते हैं। मिर्चा तो आधी बातें समझ ही नहीं पाता है, इसीलिए वह गम्भीर हो जाता है। एक दिन लाइब्रेरी के दरवाज़े पर मैंने एक नया-सा पर्दा टाँगा था। तरह-तरह के पर्दों से कमरे सजाने का मुझे शौक है। मुन्ना पर्दा हटाकर लाइब्रेरी में घुस रहा था, कुछ इस तरह से मुद्रा बनाता हुआ कि जैसे पत्थर हटा रहा हो, और मानो घुस ही नहीं पा रहा हो ! उसका हाव-भाव देखकर मैं हँसी के मारे जितनी अस्त-व्यस्त होती जाती थी, मिर्चा का मुँह उतना ही लटकता जाता था।

'मगर वह आदमी वैसा क्यों कर रहा था ?'

"वह तो मज़ाक कर रहा था। रोज़-रोज़ पर्दों का बदला जाना देख-कर वह कहता है कि मेरा जब अपना घर-संसार होगा तो वहाँ हर

दरवाज़ पर इतने सारे पर्दे लटका करेंगे कि एक को हटाने पर दूसरा निकल आयेगा, उसके हटाने पर फिर एक तीसरा निकल आयेगा, और ऐसा करते-करते आदमी थक जायेगा; फिर तो कोई भला उस कमरे में घुस ही नहीं पायेगा। तब घुसने वाले की कैसी हालत होगी, यही मुद्रा बनाकर वह दिखा रहा था। तो इससे हँसी नहीं आयेगी ? पर तुम क्यों मुँह लटकाते हो ?'

'तो इसका क्या कोई भीतरी अर्थ है ?'

'लो देखो, इसका भला भीतरी अर्थ क्या होगा ? वह तो सिर्फ़ ठिठोली कर रहा है।'

मिर्चा का ऐसा ही स्वभाव है, वह सब-कुछ का भीतरी अर्थ ढूँढा करता है।

'पर तुम्हें कैसे वह इतना अच्छा लगता है ! वह तो बफून है, जोकर है, भाँड़ है।' आहा, क्या तक़दीर है ! आज मिर्चा को उसी मुन्ने की मदद लेनी पड़ रही है। अब तो वही उसका एकमात्र मित्र है। मुन्ने के अलावा और कोई उसे मेरी खबर देने वाला नहीं है। मुझे भी तो मिर्चा की खबर देने वाला मुन्ना ही है, और तो कोई भी नहीं !

'मुन्ना, भाई मुन्ना—।'

'रू, जल्दी से लिखो भाई, मामा मुझे यहाँ देख पायेंगे, तो आपे से बाहर हो जायेंगे। और हो-न-हो, मुझे आज ही यहाँ से निकाल दें।'

मैं लिखने की कोशिश कर रही हूँ—क्या लिखूँ, कुछ सोच नहीं पा रही हूँ—मिर्चा ने मेरी किताब माँगी है। मुन्ने ने कहा है, उसके पास तुम्हारी एक किताब तक नहीं है, उसके लिए अपनी एक किताब दो। इसीलिए मैं किताब पर ही लिख रही हूँ, पर क्या लिखूँ, डर के मारे तो मेरा कलेजा काँप रहा है। मिर्चा अगर सच्ची बात बता दे तो ? उसे पता है, मैं सहज ही झूठ नहीं बोलती। जानती हूँ, वह भी तो झूठ नहीं बोलता है। किन्तु मैंने झूठ कहा है, और उसे बचाने के लिए ही कहा है। अब समझ में आ रहा है कि झूठ हर समय बुरा नहीं होता है। क्या आश्चर्य है, एक ऐसी बात आखिर मेरे मन में आयी कैसे ? माँ शायद इसीलिए कहा करती हैं, एक अन्याय दूसरे अन्याय को पास ले लाता है—

झूठ के पीछे झूठ दौड़ता है—सच्चाई तो भला उसके पास तक नहीं फटक सकती। छि: छि:, तो मैं भी इतनी बुरी हो गयी ! मेरे गुरु सुनेंगे, तो क्या कहेंगे ? मैं जो सूर्य के प्रकाश में मुँह उठाये हूँ, मैंने जो सोचा था कि मैं शुद्ध अपापविद्ध रहूँगी, वह कहाँ हुआ, कहाँ हुआ ? मैं देख पा रही हूँ—किताब के पिछले पन्ने को खोलकर मैं लिख रही हूँ—मेरा हाथ काँप रहा है। अक्षर काँप रहे हैं। पंक्ति टेढ़ी हो गयी जैसे किसी अंधकार के अन्दर से मेरा सोलहवें साल का शरीर उभरता हुआ आ रहा हो। मेरे बाल अन-सँवारे हुए हैं, तीन दिनों तक मैंने मांग-पट्टी नहीं की है, इन तीन दिनों में शरबत के अलावा मैंने और कुछ नहीं खाया-पीया है। कुछ खाऊँगी भी नहीं। मैंने मन-ही-मन कहा है, किसी दिन कुछ नहीं खाऊँगी, बाल काट डालूँगी, पाड़ फाड़ डालूँगी, तब कहीं जाकर माँ को सबक़ मिलेगा ! नानी आकर जब पूछेंगी, 'उसे क्या हुआ है ?' तब तो माँ को बताना ही पड़ेगा। पर नानी क्या कहेंगी ? मैं जानती हूँ, जानती हूँ, जानती हूँ—वे मन-ही-मन कहेंगी, यह लड़की तो स्वयंवरा हो गयी है, इसका अब दूसरा पति नहीं हो सकता। किन्तु मुँह से एक बात भी नहीं कह पायेंगी। पिताजी के डर से। एक आदमी से इतने लोग डरते हैं...।

मिर्चा को लिखा, उसे सावधान कर दिया। इससे ज़्यादा जैसे वह स्वीकार न करे। मगर वह समझेगा तो ? क्या पता ? पर इससे ज़्यादा तो मैं लिख ही नहीं पा रही हूँ, अँग्रेज़ी के शब्द ही मुझे याद नहीं आ रहे हैं।

सेरगेई बोला, "लेकिन मिर्चा तुमसे बहुत ज़्यादा बूढ़ा हो गया है।"

मैं ठगी-सी निहार रही हूँ, मेरी आँखों में दृष्टि लौट आयी है—सेरगेई तो समझ भी नहीं पाया कि इतनी देर मैं यहाँ नहीं थी। पर मैं क्या देख रही थी ? कहाँ है मुन्ना ? वह तो अभी एक वृद्ध, दुबला-पतला-सा आदमी है—कालीघाट में, या पता नहीं कहाँ रहता है, कितने वर्ष हुए, उसकी कोई खबर तक मुझे मालूम नहीं है। तो यहाँ वह पत्थरों का बरामदा क्या उड़ते-तैरते क़ालीन पर बैठा हुआ आ पहुँचा था ? विचित्र आश्चर्य है ! अजीब विस्मय है ! इसकी खुमारी तो जाने का नाम ही नहीं लेना चाहती है। वह गाना मुझे याद आ रहा है : 'आँखों के प्रकाश

मे देखा था म्राँखों के बाहर—म्रन्तर मे म्राज देखूँगी जब न होगा प्रकाश वहाँ पर'—तो फिर प्रकाश के बिना भी क्या देखा जा सकता है ? तो प्रकाश की तरंग के म्रतिरिक्त म्रौर भी कोई तरंग है ? है, निश्चय ही है। मुझे म्रलौकिकता पर विश्वास हो रहा है, यद्यपि मैं नास्तिक हूँ—कारण इतनी देर मे या एक क्षण मे, एक पल मे म्रथवा समय के परे जो कुछ घटा वह स्मृति नही है, याद म्राना-भर नही है; वह तो वास्तविक म्रनुभूति है। मैं तो 1930 ई० के 20 सितम्बर की प्रभात में जा पहुँची थी—मेरे पाँवो के नीचे पत्थरो का ठंडापन महसूस हुम्रा था, म्रविराम रोते रहने से मेरी पलकें बोझिल हो गयी थी, तीन दिन बिना खाये रहने की वजह से मैं भूख से परेशान थी; 'फोरहेड'[1] लिखते समय जरा-सा म्रागा-पीछा किया था हिज्जे को लेकर, मुझे सन्देह हो रहा था कि इसमे 'ई' लगेगा कि नही। म्रतीत की इस प्रत्यक्ष म्रनुभूति का वर्णन करने के लिए मेरे पास शब्द नही हैं। 1972 ई०, 1930 ई० मे समा गयी थी। मैं तो सेरगेई के साथ स्वाभाविक रूप से बातें कर रही हूँ, किन्तु मेरा कलेजा काँप रहा है... म्राँधी मे फँसे एक छोटे-से विपन्न पत्ते की तरह काँप रहा है। म्रपने-म्राप पर विश्वास नही कर पा रही हूँ। मैं तो बस यही हूँ, फिर इसी दम यहाँ नही भी रह सकती हूँ। मेरी समझ मे म्रा गया है कि फिर ऐसा होगा—फिर मैं म्रतीत काल में पीछे लौट जाऊँगी। ऐसा कैसे सम्भव हो रहा है ? यद्यपि मैं समझ पाती हूँ कि काल का कोई उदय-म्रस्त नहीं होता है, उदय-म्रस्त तो म्रपना ही होता है—किन्तु म्रपनी इन पचेन्द्रियो से मैं जिस खंडित जगत् को जानती-पहचानती हूँ उसके बाहर कदम रखने का मुझमे साहस कहाँ है ? उस म्रज्ञात जगत् मे कदम रखने से मैं डरती हूँ। म्राज जो म्रभिज्ञता हुई वह भयानक है, वह कष्टकर है, उथल-पुथल मचा देने वाली है। मेरी समस्त धारणा, म्रात्म-विश्वास डगमगाता जा रहा है। म्राखिर कौन मुझे इस मुसीबत से उबारेगा ? मैं उसी 1930 ई० की भाँति फिर से म्रपने गुरु को पुकारने लगी—'प्रभु, मेरा परित्याग न करो। हे नाथ, लौट म्राम्रो, मेरे सारे सुख-दुःख-मथित हृदय मे लौट म्राम्रो'—मैं म्रौर कुछ नही चाहती, किसी को नही चाहती, मेरे जीवन

1. Forehead

में और कुछ नहीं है, और कुछ था भी नहीं, मेरे समस्त भूत, वर्तमान, भविष्य में तुम्हारे गीतों से एक ज्योति-विकीर्ण महोत्सव-सा हुआ करता है—मुझे कोई अभाव नहीं है, दैन्य नहीं है। आज हठात् कहाँ का यह एक अनजान व्यक्ति दो बातें कहकर क्या मेरा सब-कुछ चकनाचूर कर देगा ? तो इतने दिन बाद क्या ध्रुव-तारे की ज्योति बुझ जायेगी ? मैं पथ-भ्रष्ट हो जाऊँगी ?

सेरगेई मुझे गाड़ी में चढ़ा देने के लिए आया, तो फिर मेरी हथेली को चूमा—मेरे तलवों से एक तीव्र-तीक्ष्ण अनुभूति उठ आयी। मैंने बड़ी मुश्किल से अपने-आपको संभाला। यह तो गोलपार्क है—1972 ई० है, पर 1930 ई० में तो यह जगह जंगल-सी थी। मैं गाड़ी में चढ़ी, दरवाज़े को मजबूती से पकड़ा और कहने लगी, "यह तो एक टैक्सी है, शेवरले नहीं है।"

हमारी पहली गाड़ी थी शेवरले, खुले हुड की, ऊँची-सी। आजकल की आम रुचि के अनुसार वह सुन्दर नहीं थी, किन्तु हम लोगों को तब वह कितनी सुन्दर लगती थी! गाड़ी से जब मैं उतरा करती थी तब मिर्चा हरदम अपना हाथ बढ़ा दिया करता था।

'क्यों, इतना-सा उतरने में मुझे मदद की ज़रूरत पड़ती है क्या ?'

'पर हमारे देश का तो यही नियम है, औरतें गाड़ी से उतरती हों, तो उनका हाथ थामकर उन्हें उतारना चाहिए।'

'नियम है ?'

'हाँ, नियम है। ऐसा नहीं करने वाले को लोग बर्बर कहेंगे। तुम लोगों का ऐसा कोई नियम नहीं है ?'

'नहीं। हमारे यहाँ साधारणतः पैर छूकर बड़ों को प्रणाम किय जाता है। समवयस्कों को नमस्कार किया जाता है। पर ऐसा खास को करता नही है। ठाकुर-घराने से यह सब अदब-क़ायदा शुरू हुआ है। शान्ति निकेतन में रवि-ठाकुर वहाँ के छात्रों को यह सब सिखा रहे हैं। वे लो सभी को हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं। छात्र सब एक-दूसरे को नमस्क किया करते हैं। मगर देश में अन्यत्र इसकी हँसी भी उड़ती है।'

'तो वे ही अकेले तुम लोगों के लिए सब-कुछ करेंगे ?'

'हाँ, बिलकुल सही बात है, वे ही अकेले हमारे आकाश में छाये हुए हैं। हमारे मुँह मे वाणी दे रहे हैं, हमारे मन मे प्यार भर दे रहे हैं; वे हैं—इसलिए हमारे पूरे आकाश मे तारे रात में चमकते हैं, प्रायः फूल खिले रहते हैं वन मे।'

मिर्चा आश्चर्य-चकित होकर मेरी ओर निहार रहा है, 'भला यह कैसी बात है, एक आदमी के बारे मे तुम इस तरह कह रही हो ! मैं तुम्हे समझ नही पाता।'

'चलो सब खतम हुआ।'

घर आ पहुँची हूँ। मेरी पतोहू लेखा ने मुझसे कहा, "अचानक कहाँ चली गयी थी ? आज तो 'ख' बाबू के आने की बात थी न काम के लिए एक आदमी को लेकर ? वे आये थे, इन्तज़ार करते-करते थक गये, तो चले गये।"

इस लड़की से मैं डरती हूँ। यह प्रखर बुद्धि की लड़की है और हमेशा मेरे आस-पास रहती है। क्या समझ बैठेगी, कौन जाने ! मुझे बड़ी सावधानी से रहना पड़ेगा। मैंने अपने चेहरे पर ढेर-सारी मुसकान बिखेरते हुए 'ख' बाबू के वक्तव्य सुने। किन्तु कोई बात मेरे कानों मे घुस नही रही है—मेरी आँखें नम होती जा रही हैं, कलेजा काँप रहा है। मगर ऐसा होने से तो काम नही चलेगा। यह मुझे इतने दिनों बाद क्या हुआ ? मैं हँस रही हूँ, ज़रा असंगत ढग से ही हँस रही हूँ। शाम को मेरी वर्षगाँठ है, उसके बारे में कुतूहल प्रकट कर रही हूँ—लेकिन मुझमें कोई कुतूहल है नही, मैं कुछ जानना नही चाहती हूँ। मेरी समझ में नही आ रहा है कि इतने थोड़े-से समय मे दुनिया कैसे बदल गयी ? आखिर इतनी तकलीफ़ क्यों हो रही है ? मेरी सहेलियाँ मेरी वर्षगाँठ मनायेंगी, इसमें मुझे कोई गर्व नही हो रहा है—वे मुझ से स्नेह-प्रदर्शन कर भला क्या करेंगी ? मुझे क्या शान्ति दे सकेंगी ? मैं समझ रही हूँ, सेरगेई ने आकर मेरे शान्त स्रोतहीन स्थिर जीवन की मँझधार मे एक ढेला फेंककर जिस तरग-वलय की सृष्टि की है वह मुझे सहज ही नहीं छोड़ेगा। रुकेगा नही इसका आवर्त।

शान्ति की आशा अब बहुत दूर है। मैं आँखें बन्द किये कुर्सी पर पड़ी हुई हूँ। आखिर क्या चाहती हूँ मैं ? कुछ नहीं—कर्म, समाज-सेवा, देश की उन्नति जाये जहन्नुम में, कुछ नहीं चाहती—ले चलो उसी 1930 ई० में एक बार फिर देखूँगी उसे। मिर्चा, मिर्चा, मिर्चा !

सहसा मुँह उठाकर देखती हूँ, लेखा मेरी ओर स्थिर दृष्टि से ताक रही है—"माँ, आपकी आँखों में क्या फिर कष्ट हो रहा है ? आँखें छल-छलायी हुई क्यों हैं ? दवा दूँ ?"

"हाँ, दो।"

जन्मदिन की मुसीबत की सन्ध्या बीत चुकी है। अपने कृतित्व से मैं खुश हूँ। मैंने नयी साड़ी पहनी है, फूलों की माला पहनी है, कविता पढ़ी है, गाना सुना है, लेकिन कोई समझ नहीं पाया कि मेरा कलेजा हरदम किस तरह थर-थर काँप रहा था। यह बात उपमा द्वारा नहीं कही गयी है—वह कम्पन यदि शरीर में दीख पड़ता तो लोग सोचते, मुझे पारकिन्सन्स का रोग हुआ है।

रात के दो बजे बाहर आकर खड़ी हुई हूँ—अब सवेरा होने को आया। तारे इस ओर से दूसरी ओर चले गये हैं। इस घर में तो छत पर नहीं चढ़ा जा सकता, यही एक मुश्किल है, अच्छी तरह आकाश नहीं देख पाती। मैं सदा आकाश के नीचे लेटी रहना पसन्द करती हूँ। मिर्चा भी तो छत पर टहलना खूब पसन्द करता था। पहले दिन तो छत को देखकर ताज्जुब में आ गया था।

'जानती हो, हमारे देश में कोई छत पर नहीं चढ़ता है !'

'अजीब बात है ! तो फिर तुम लोग सूर्य-तारे कैसे देखते हो ?'

'सूर्य-तारे देखते हैं ऐस्ट्रॉनोमर, साधारण लोग तो यह बात सोचते भी नहीं।'

'मगर हमारे देश में तो लोग प्रातःकाल सबसे पहले सूर्य को प्रणाम करते हैं।'

'तुम करती हो ?'

'मेरा सूर्य तो भीतर भी है, बाहर भी। मैं तो हर समय ही प्रणत

हूँ। सिर्फ़ सुबह-शाम नहीं।'

'इसका मतलब ? बताओ, बताओ, हँस क्यों रही हो ? बताना ही पड़ेगा।'

'नहीं, नहीं बताऊँगी। तुम नहीं समझोगे।'

'तुम मेरा अपमान कर रही हो—समझ ही नहीं पाऊँगा ? बताना होगा कि भीतर का सूर्य कौन है ?'

'मेरे गुरु हैं। वे ही मुझे यह सुन्दर संसार दिखा रहे हैं।'

'तो वे क्या केवल अपने-आपको ही दिखाते हैं, या और भी कुछ दिखाते हैं ?'

'सब-कुछ ही देखती हूँ, उन्हीं के प्रकाश में।'

'जैसे कि ?'

'जैसे कि यह तुम्हें देख रही हूँ।'

वह उस दिन खुश हुआ था—'आज शाम को मेरे साथ ह्विटमैन पढ़ोगी ?'

'धत्, इतनी नीरस रचना मैं समझ ही नहीं पाती हूँ। उससे अच्छा है, शेली को पढ़ूँगी—सेन्सेटिव प्लांट।'

चलूँ—जाकर लेट जाऊँ। कल कितना काम है—शाम को मीटिंग है। बयालीस वर्ष पहले की बातों को याद करने से क्या फायदा ! भला कहाँ है वह मिर्चा, और वह कौन अमृता है—देखने पर शायद पहचान ही नहीं सकेगा कोई किसी को !

दिन पर दिन बीतते जा रहे हैं। मैं हरगिज़ अपने वर्तमान में स्थिर नहीं रह पा रही हूँ। बार-बार कभी दिन में कभी रात में, मैं लौटकर चली जा रही हूँ भवानीपुर के मकान में, 1930 ई० में।

मुझे याद नहीं आता कि वह कौन-सा महीना था, जिस दिन मिर्चा यूक्लिड पहली बार हमारे घर आया अर्थात् मैंने पहली बार उसे देखा था। मेरे पिता विद्वान व्यक्ति हैं, मात्र छः वर्ष पूर्व वे पूर्वबंगाल के एक मुफस्सल कॉलेज में पढ़ाया करते थे, उसके बाद कलकत्ता आये। इस थोड़े-से समय,

में ही वे कलकत्ता के विद्वत् समाज में सम्मान के उच्च शिखर पर पहुँच गये हैं। सभी उन्हें पहचानते हैं। वे पंडित हैं और असाधारण पंडित है। इसलिए बहुत-से लोग उनसे डरते हैं, यह पांडित्य का एक आक्रमणकारी रूप है। किसी भी व्यक्ति को थोड़े-से समय में वितर्क से हराकर उसे मूर्ख साबित कर दे सकते हैं और इस खेल में बड़ा आनन्द पाते हैं। किन्तु इसके बावजूद उनमें एक अद्भुत आकर्षण-शक्ति है। वे जिन लोगों को अपमानित करते हैं वे भी उनके पास से भागते नहीं। छात्र-छात्राएँ उनके लिए बहुत-कुछ त्याग करने को प्रस्तुत रहती हैं; वे भी उन्हें प्यार करते हैं, किन्तु वह प्यार हम साधारण मनुष्यों के प्यार की तरह नहीं है। उसमें दूसरे के प्रति संवेदना नही है। वह प्यार तो स्वयं उन्ही के लिए है, जैसे कि मुझे प्यार करते हैं, बहुत ही प्यार करते हैं, पर वह मेरे लिए जितना नहीं है उतना है अपने लिए : 'देखो मेरी इस कन्या को—क्या अमूल्य रत्न है, देखने में कैसी सुन्दर है, कैसी सुन्दर कविता लिखती है, कितनी अच्छी अँग्रेजी बोलती है—आखिर यह तो मेरी बेटी है। देखो, देखो तुम लोग !' मुझे लेकर मत्त हैं पिताजी। किन्तु जानती हूँ, उनकी अच्छा के विरुद्ध जरा भी टस-से-मस हुई तो मुझे मेट देने में भी वे कोई कोर-कसर नहीं उठा रखेंगे। मैं किस बात से सुखी होऊँगी, यह उनके लिए महत्वहीन है।

पर मेरी माँ एकदम विपरीत स्वभाव की हैं। मेरी माँ परम सुन्दरी हैं। इस समय तो उनका सौन्दर्य अलौकिक है, अप्रतिम है। इस पर भी पिताजी को खूब गर्व है किन्तु माँ को कोई खयाल ही नहीं है—माँ किसी दिन प्रसाधन में मन नहीं देतीं, अपना कोई सुख-स्वाच्छन्द्य, इच्छा-अनिच्छा नहीं के बराबर है। पिताजी को खुश रखना ही उनका एकमात्र काम है। उस काम में पिताजी उन्हें काफ़ी व्यस्त रखते हैं—विशेषकर महज मामूली-सी बीमारी होती है तो कुहराम मचाकर ऐसी दशा कर डालते हैं कि माँ के मन में सर्वदा भय होता है कि बस अब शायद उनके पति को कुछ-न-कुछ भयानक हो गया है। माँ वैष्णव-साहित्य पढ़ना पसन्द करती हैं, दो पंक्तियाँ वे प्राय: ही कहा करती हैं—

आत्मेन्द्रिय प्रीति-इच्छा वही होता काम,
कृष्णेन्द्रिय प्रीति-इच्छा कहलाये प्रेम नाम।

केवल पति को प्रसन्न करने की इच्छा हो, ऐसी बात नहीं। अपने चारों ओर के हर आदमी के लिए माया-ममता का सुधा-पात्र माँ के हाथों में भरा ही रहता है।

उस समय हमारे घर में विदेशी लोग प्रायः आया-जाया करते थे। तरह-तरह के विषयों पर चर्चा होती। जो लोग आते उनमें से विदुषी स्टेला क्रॉमरिश व प्रोफेसर तुचि की बात सबसे अधिक याद आती है, फर्मिकी भी शायद आये थे। प्रोफेसर तुचि ने तो बाद में बंगला खूब अच्छी तरह सीखी थी—वे देखने में छात्र-जैसे थे—भोला-भाला मासूम-सा चेहरा, उनके उड़ते हुए बाल कपाल पर बार-बार आ जाते थे। उनकी पत्नी का चेहरा चौकोर-सा था, गले में मोतियों की माला पहनती थीं। उनके आने-जाने से घर का रूप क्रमशः बदलता जा रहा था। बंगालीपन के ऊपर साहबीपना का मुलम्मा चढ़ रहा था। लगभग साल-भर पहले मेरी दादी चल बसी थीं इसीलिए यह उन्नति सम्भव हुई थी, वरना होती? बहुत अच्छी तरह याद है, 1924 ई० में पहली बार जिस दिन खाने के *कमरे में विराट महागनी का टेबल आया, तो दादी ने बहुत देर तक* आँखें फाड़कर उसे देखा था; उनके हाथ की सोने की जप की माला रुक गयी थी—'क्या, इस पर खाना-पीना होगा? सोने में क्या हर्ज है? यह आखिर एक बड़ी-सी खाट ही तो है!' उसके बाद जब देखा कि कोई चारा नहीं, बात टिकेगी नहीं, तब दीर्घ निःश्वास छोड़कर कहा, 'बड़ी-सी लकड़ी में दोष नहीं होता।' वे यथासम्भव उस कमरे के पास तक नहीं फटकती थीं। और जिस दिन काँटे-चमचे देखे, उस दिन की बात नहीं भूल सकती, भौंहें चढ़ाकर कहा, 'तो भात खाने के लिए इतने सारे अन्तर लगेंगे?' प्रतिशोध-स्पृहा इतनी दूर बढ़ गयी थी कि प्रायः ही भाषा प्रकट करतीं कि इस काँटे से जीभ में आर-पार छेद हो जाये तो सबक मिले! दादी के संस्कार कितने अडिग और उनके लिए कितने सच थे यह वे अपनी मृत्यु-शय्या पर दिखा गयीं। कॉलरा से ग्रस्त होकर तीन दिनों तक कष्ट भोगने के बाद वे गुजरी थीं। पहले दो दिन तो माँ ने सारी सेवा की; काका ने उनकी मदद की। माँ तब गर्भवती थीं—डॉक्टर खूब खफा होने लगे, आखिरकर पिताजी को भी खरी-खोटी सुनाना शुरू किया आज

में माँ को हट जाना पड़ा—नर्स आयी, क्रिश्चियन नर्स। उसे सिखा दिया गया : दादी जात पूछें तो कहना—'ब्राह्मण हूँ।'

रोगी ने अर्द्ध अचेतन आँखें ईषत् उन्मीलित करके कहा, 'पानी।' नर्स पानी लिये आगे बढ़ आयी—'यह रहा पानी, पीजिये, मुँह खोलिये' —मुमूर्षु नारी ने मुँह नहीं खोला, आँखें खोलीं, उनके मृत्यु ... न कानों में गले का स्वर कुछ अपरिचित-सा लगा, 'तुम कौन हो ...

'मैं नर्स हूँ।'

'अच्छा रहने दो, जरा बाद में प ... पिऊँगी।' को ... को हर क्षण प्यास लगती है। उन्होंने ... , 'पानी....

'यह पानी लायी हूँ, पीजिये,' ... आगे ... रखा नर्स ने।

बहू को बुला दो।'

वह भागी-भागी आयीं, सारा जीवन उनकी सेवा की। और अब इस मृत्यु के समय मन में कष्ट पहुँचाना उचित नहीं—मुझे चाहे जो भी होना वह हो।

दादी के चले जाने के बाद इस घर का स्वरूप बदल गया—भीतर का भी, बाहर का भी। व्रत, पूजा, कालीघाट, पुरोहित, छुआछूत, जूठन, आदि बड़ी बड़ी समस्याएँ, जो सारे दिन माँ को परेशान किये रहतीं, सब-कुछ जैसे एक फूंक में उड़ गया। लम्बे अरसे से जमा हुए कूड़े के ढेर को हटाकर हम लोगों ने एक नये दिगन्त की ओर मुँह फेरा।

मुझे तो यह परिवर्तन बहुत अच्छा लग रहा था। मैं शैशव से किशोरावस्था में, किशोरावस्था से युवावस्था में जितना ही आगे बढ़ रही हूँ उतना ही क्रमशः बंगाल के श्रेष्ठ लोगों को देख पा रही हूँ! हमारे मुफस्सल के घर-मकान में इस घर-मकान के आचार-व्यवहार कितने भिन्न हैं! तब एक शब्द सुनती थी 'एलीट', अब सुनती हूँ 'बूर्जुआ'। 'बूर्जुआ' शब्द में एक द्वन्द्व है, न जाने कैसे एक झगड़े का आभास मिलता है, पर 'एलीट' ऐसा नहीं है। और एक बात सुनती थी : 'क्रीम ऑफ कैलकटा', पर अब तो दूध और मलाई मिलकर एकाकार हैं! इस उच्च समाज के श्रेष्ठ व्यक्ति थे रवीन्द्रनाथ ठाकुर। मेरे तेरहवें साल में पिताजी मुझे उनके पास लिवा जाते थे ताकि मैं उन्हें अपनी कविता दिखा लूँ। मैं किसी तरह वह काम संक्षेप में निबटा लेती और उनकी कविता उन्हें पढ़कर सुनाती; मैं खूब छुटपन से कविता-पाठ करना पसन्द करती हूँ। मेरे मुँह से अपनी कविता सुनना रवीन्द्रनाथ पसन्द करते थे। बीच-बीच में मुझे उत्साह देने के लिए वे कहते, 'तुम तो मेरी कविता मुझसे भी अच्छा पढ़ती हो...।' जानती हूँ, यह बात मुझे खुश करने के लिए ही है तो भी मेरा मन ऊपर तक छलक भर आता; मैं सोचती, इनसे मैं कितना कुछ पाती हूँ, यहाँ एक बार आने पर इनके अस्तित्व का आस्वादन ही क्या मधुर है—किन्तु मेरे पास तो उन्हें देने को कुछ भी नहीं है। बस, यही एक चीज दे सकती हूँ। इसीलिए यद्यपि उस विराट् प्रतिभा के सामने मेरे सकोच व लज्जा का

अन्त नहीं था, अक्सर मुँह खोलकर बात भी नहीं कर पाती थी, किन्तु कविता-पाठ शुरू करने पर मेरी लज्जा, भय, संकोच सब दूर हो जाता था। याद है, एक बार 'सोने की नाव', 'कौतुकमयी', 'जीवन-देवता', 'हृदय यमुना' पढ़ रही हूँ एक के बाद एक—वे मन्द-मन्द हँस रहे हैं, मुझसे पूछा, "ये सब कविताएँ तुम समझ सकती हो ?"

मैंने बड़े आत्म-विश्वास के साथ गर्दन हिलायी—हाँ—उसके बाद 'सोने की नाव' का निहितार्थ, 'जीवन-देवता' का दर्शन, पिताजी से जैसे-जैसे सुना था, धड़ल्ले से कहना शुरू किया—पर उन्होंने मुझे बीच में रोक दिया। मेरे नन्हें-से मुँह से उच्च दर्शनशास्त्र कैसा सुनायी पड़ रहा था, अब समझ सकती हूँ। वे बोले, "बस, बस, रहने दो, तुम सिर्फ़ पढ़ो—जब समय आयेगा, तो अर्थ अपने-आप समझ पाओगी। पंछी जो गाना गाता है उसका भी कोई अर्थ है दुनिया की भाषा में! वह लेकिन यह नहीं जानता। लेकिन इससे हानि नहीं, उसी तरह मन के आनन्द से तुम पढ़ती जाओ, दूसरे की व्याख्या तुम्हारे कोई काम नहीं आयेगी।"

उस समय एक रूसी पंडित भी प्रायः आया करते थे, उनका नाम मुझे याद नहीं आता, शायद वे ही बोगदानोव थे। शान्तिनिकेतन में जो भी विदेशी पंडित आते, जाते-आते समय वे हमारे घर एक बार ज़रूर आते। शास्त्र-चर्चा में मैं साहसपूर्वक योग देती। तत्वचिन्ता का एक माहौल होता है, वह मुझ जैसी कमसिन के लिए एक कुहासे के सिवा और कुछ नहीं था—किन्तु वही प्रहेलिकामय नीहारिका मुझे अच्छी लगती। उस नीहारिका को भेद करके सूर्य का प्रकाश अवश्य ही मुझे उत्तप्त, सजग किये रखता। एक तरफ़ एक व्यक्ति के जीवन्त अनुभव का सत्य, कला की वेदना से झंकृत, दूसरी तरफ़ एक निरन्तर अनन्त जिज्ञासा की प्रहेलिका मेरे उस उन्मुख सतेज नवीन मन के ऊपर धूप-छाँह का खेल खेल रही थी। हमारे आत्मीय-स्वजन और बन्धु-बांधवों के परिवार से हमारा घर स्वतन्त्र था—और अपनी समवयस्कों के लिए, विशेषतः स्कूल की सहपाठिनों के लिए मैं दुर्बोध्य थी। वे मुझे चिढ़ातीं क्योंकि मैं अन्यमनस्क थी। अन्यमनस्क—अर्थात् जब जिसमें मन लगाने की बात होती उसे छोड़कर और कुछ सोचती।

हमारे समय में लड़के-लड़कियों का मेल-जोल कम था, फिर भी हम लोग पर्दानशीन नहीं थे। मेरी माँ, पिताजी के सहकर्मियों के सामने हर समय तो नहीं निकलती थीं, फिर भी छात्रों के सामने निकलती थीं—पर मैं तो सभी के सामने निकलती थी। मुफस्सल में रहते माँ को देखा है, चिलमन की ओट में बैठकर बैठक की साहित्य-चर्चा सुनतीं व ओट से नाश्ता, पान और शरबत भेज देतीं। कलकत्ता आकर वह ओट हट गयी। हम लोग सर्वत्र जाते। साहित्यिक गोष्ठियों में कविता पढ़ती, जहाँ एक भी लड़की नहीं होती। उन दिनों बहुत कम लड़कियों ने ऐसा किया। लेकिन इसके बावजूद हमारे चेहरे पर एक अदृश्य घूँघट रहता। हम लोग सहज ही किसी से बात नहीं करते थे। शायद पिताजी का कोई छात्र उनसे बात करते-करते हम लोगों के साथ आगे बढ़ आता, मैं माथा नीचे किये चलती, पर उससे बात नहीं करती। सच्ची बात कहने में बुराई क्या, हम लोग बेपर्द-पर्दानशीन थे। बात करने को जो नहीं चाहता ऐसी बात नहीं, खूब ही जी चाहता था, मैं जानती कि दूसरा भी बात करना चाहता था। तो फिर बात करने में बाधा क्या थी? किसी ने तो हम लोगों को मना नहीं किया था। मगर हम लोग बात नहीं कर पाते थे। आत्मीय-स्वजन के अलावा अन्य पुरुषों के सामने, विशेषतः युवकों के सामने हम लोग बिलकुल पत्थर-से हो जाते थे। उन लोगों की भी यही हालत होती। जैसे कोई किसी को देख ही नहीं पा रहा हो। कितने युगों के संचित निषेध का प्रभाव हमारे रक्त में बह रहा है, इसे पार करना दुष्कर है, किन्तु आजकल ही शायद कोई विश्वास नहीं करेगा कि आखिर यह निषेध क्यों था, इसका भीतरी कारण क्या था—इस सम्बन्ध में हम लोग, कम-से-कम मैं विशेष कुछ नहीं जानती थी। इन शिक्षित उच्च मध्यवित्त परिवारों में यौन-सम्बन्ध के बारे में कोई चर्चा नहीं होती। आवरण पहने एक छिपी हुई दुनिया है, आभास और इंगित से यह तो अवश्य ही हम लोग समझते थे, लेकिन वहाँ की बात क्या है यह मालूम नहीं था। हम लोगों को चुन-चुनकर उपन्यास पढ़ने को दिये जाते। कुछ विशेष विख्यात किताबें तो बिलकुल ही निषिद्ध थीं। उनमें से थीं—'कृष्णकान्त की वसीयत', 'विषवृक्ष', 'आँख की किरकिरी' व 'चरित्रहीन'। 'मिलन'

(नौका डूबी) पढ़ने की अनुमति थी। 'मिलन' का कवर खोलकर 'आँख की किरकिरी' में लगा लिया था और उसे पढ़ डाला था। क्यों वह किताब इतनी निषिद्ध थी, यह जरूर समझ में नहीं आया।

यद्यपि पिताजी के बंगाली छात्रों के साथ ज्यादा बात करने का साहस नहीं होता था, किन्तु विदेशी छात्रों के सम्बन्ध में ऐसी बाधा अनुभव नहीं करती थी। पिताजी भी अनायास यूरोपियनों के साथ मिलने-जुलने देते। उस समय एक रूसी दम्पत्ति कलकत्ता आये थे। वे 'ग्लोब' में तरह-तरह की जादूगरी दिखा रहे थे। उन्हें लेकर शहर में खूब धूम मच गयी थी। पिताजी बोले, 'चलो, ढकोसले को देख आयें।' ग्लोब थियेटर की स्टेज पर आँखों पर काला रूमाल बाँधे, आभूमिलुंठित काला गाउन पहने एक सुन्दर महिला आ खड़ी होतीं और उनके पति दर्शकों की भीड़ के बीच उतर आते। वह महिला दर्शकों से कहतीं प्रश्न करने के लिए। दर्शकों के बीच से खड़ा होकर कोई प्रश्न करता तो उनका सुवेश तरुण पति उस व्यक्ति की नब्ज़ पकड़ता, तब वह महिला स्टेज पर से उसके अनकहे प्रश्न और उत्तर धड़ल्ले से बताती जातीं। प्रश्न या तो कभी ठगने के लिए किये जाते या कभी कोई मर्मान्तिक खबर जानने के लिए। जैसे कि एक आदमी के उठकर खड़ा होते ही आँखें-बँधी वह महिला बोलीं, 'तुम जानना चाहते हो कि तुम्हारी जेब में जो दियासलाई की डिबिया है उसमें कितनी तीलियाँ हैं?—बावन हैं,' अथवा 'तुम जानना चाहते हो कि तुम्हारी पत्नी तुम्हारे प्रति विश्वासघातिनी हैं कि नहीं? वे तो ठीक ही हैं—पर तुम्हीं विश्वासघाती हो...' यह सुनना था कि समूचे हॉल के लोगों के ठहाके से उस सज्जन की हालत ऐसी हो जाती कि काटो तो खून नहीं। पिताजी बोले, 'यह लड़की तो बड़ी खतरनाक है, इसे जरा परखना होगा।' उन लोगों के साथ सम्पर्क किया गया।

आजकल अर्थात् इस बीसवीं शताब्दी के अन्त में इस देश में जिस तरह अलौकिक व अमानवीय शक्तियों की ओर झुकाव हुआ है उच्चवित्त शिक्षित समाज में भी—हमारे समय में, जहाँ तक याद आता है, वह कम था। अभी तो हर घर में तसवीर से भस्म गिरती है, कुछ अजीब-सी चीजें आविर्भूत होती हैं, ऐसी कहानियाँ-विद्वान-वैज्ञानिक भी सहज ही कहा

करते हैं, पर तब ऐसा नहीं होता था। शिक्षित लोग किसी अजीबो-ग़रीब अलौकिक घटना पर विश्वास करने में झिझकते थे; कम-से-कम मन में चाहे जो भी हो, पर मुँह से इसे नहीं स्वीकारते थे। मेरे पिताजी भी जो एकदम कुसंस्कार से मुक्त थे, ऐसी बात नहीं, किन्तु उनका बाहरी मन इसे स्वीकार नहीं करता था। अतएव परीक्षा करने के लिए उस रूसी दम्पत्ति को निमन्त्रित किया गया। पिताजी की धारणा थी कि दर्शकों के बीच उन्हीं लोगों का कोई आदमी था। मैं बोली, 'तो फिर आपने कुछ पूछा क्यों नहीं ?'

'बाप रे, यह धूर्त लड़की है, क्या पता क्या कह बैठे।'

हमारे घर में चाय की बैठक में कुछेक प्रतिष्ठित व्यक्ति आये, अध्यापक, लेखक इत्यादि। चाय के साथ-साथ यह मजेदार खेल चलने लगा। उक्त सज्जन नब्ज पर दबोचते हैं और वह महिला व्यक्ति-विशेष के मन की बात बता देती हैं। अन्त में मेरी बारी आयी, मैंने सोचा, ज़रा ठगने की कोशिश की जाये, बगला कैसे बतायेगी ? मन-ही-मन बोली, 'मेरी आख़िरी कविता का नाम क्या है ?' उक्त महिला ने लड़खड़ाती ज़बान से कहा, 'भोग-पात्र'—उच्चारण-विकृति तो थी, किन्तु बताया था ठीक ही।' एक तरुण अध्यापक ने कहा, 'थॉट रीडिंग के अलावा और कुछ नहीं है।'

पिताजी बोले, 'अच्छा, तो इसीसे सारी व्याख्या हो गयी क्या ?'

उस रूसी दम्पति को लेकर हम लोग एक दिन एम्पायर थियेटर में इटालियन ऑपेरा देखने गये—पिताजी, माँ, मैं, वे दोनों। उस समय इस देश में यूरोपीय संगीत के लिए कान आदी नहीं हुए थे—साधारणतः वह सियार, कुत्ते के चीत्कार के नाम से अभिहित होता था। अब तो ट्रांजिस्टर की दया से बस्ती के चबूतरे पर भी जैज संगीत बज रहा है, बीथोवन भी बज रहा है, पर तब यह कल्पनातीत था। दो-तीन पीढ़ियों में जिन्होंने पाश्चात्य शिक्षा की तालीम पायी है, जिन्हें कहा जाता इग-बग समाज के लोग, उन्हीं के घरों में यूरोपीय संगीत की चर्चा हुआ करती थी, लड़कियाँ थोड़ा-थोड़ा पियानो बजातीं—अतिथि-अभ्यागत, विवाहोपयोगी वर आते तो ड्राइंगरूम में पियानो बजाकर संस्कृति का परिचय देतीं, परन्तु वह

एकदम शिशु-सुलभ बात थी। अतएव समझ में आ रहा है कि इटालियन ऑपेरा मेरे लिए कोई खास आनन्द-विभोर होने के लायक़ नहीं हो रहा था। किन्तु जानती हूँ, यह बात किसी से नहीं कहूँगी, कारण, बस अभी-अभी तो इन सब जगहों में आ रही हूँ। इससे बड़ी हो जाने का गौरव अनुभव हो रहा है! इसके अलावा अपने-आपको बहुत ही समझदार साबित करना चाहती हूँ, मूर्ख नहीं। खैर, अन्यमनस्क भाव से ऑपेरा देख रही हूँ, मानो दवा खा रही हूँ। हठात् उस रूसी सज्जन ने, तब तो उन्हें असज्जन ही कहूँगी, अपनी दाहिनी बाँह बढ़ाकर मेरे गले में डाल दी। मैं तो चौंक उठी। यद्यपि इस सब विषय में हम लोग काफ़ी अनजान थे तो भी स्वाभाविक रूप से हम लोग ठीक तरह से व्यवहार करते थे। मैंने एक झटका देकर उसके हाथ को हटा दिया, फिर जैसे स्प्रिंगदार कल की तरह वह व्यक्ति उसे लौटा लाया। सोचा, क्या किया जाये—यहाँ तो हो-हल्ला किया नहीं जायेगा। झुककर पांवों का नागरा खोला और धीरे-धीरे उसके घुटने पर रखा, अब की बार वह चौंक उठा; मैंने धीरे-से कहा, 'जूता मारूंगी।' तब उस स्प्रिंग ने विपरीत काम किया; उसने जल्दी से हाथ हटा लिया। घर आकर यह क़िस्सा बताया तो माँ हर किसी को इतना घर के भीतर ले आने के लिए पिताजी पर बहुत ग़ुस्सा हुईं। लेकिन पिताजी खूब हँस रहे हैं। पश्चिमी दुनिया को तो वे अच्छी तरह से पहचानते थे, इसीलिए तनिक भी आश्चर्य-चकित नहीं हुए। माँ से कहने लगे, 'अमृता को तरह-तरह की अवस्था में तरह-तरह के लोगों के साथ मिलना-जुलना सीखना होगा, वह तो तुम्हारी तरह घर में नहीं बैठी रहेगी। यदि ज़रा-सी कोशिश करे तो वह एक दिन सरोजिनी नायडू के समान बनेगी।'

जो हो, इस कांड के बाद भी जो काम तब माँ को और मुझे बहुत ही बुरा और अक्षम्य लगा था और जिसके लिए हम दोनों ही खूब उत्तेजित हो उठी थीं, वह था कि पिताजी ने उन लोगों के साथ कोई और बुरा व्यवहार नहीं किया। यहाँ तक कि रवि ठाकुर के पास ले जाने की जो बात थी उसे भी टाले रखा। मैंने उनसे इन लोगों की जादूगरी की चर्चा की थी। वे भी इन लोगों को देखने के लिए व्यग्र हुए थे। अलौकिक व अमानवीय शक्तियों पर विश्वास न रहने पर भी रवि ठाकुर सोचते थे कि हर

विश्व में परीक्षा करके ही देखने की चेष्टा करना उचित है। यही वैज्ञानिक ढंग है। आखिर अनुसन्धान क्यों नहीं करेंगे? इसीलिए एक दिन तय हुआ था अपनी पाण्डुलिपि को उनके पास ले जाने के लिए।

'पिताजी, मैं उन लोगों के साथ नहीं जाऊँगी, वह आदमी बहुत कुछ है...।'

'यह कैसे हो सकता है बेटी—सब कुछ ठीक हो गया है। अब तुम न चलोगी तो कवि क्या सोचेंगे? उनके अतीन्द्रिय जीवन में कितनी तरह की अवस्था में कितनी तरह के आदमियों से भेंट होगी; अपनी शक्ति से, बुद्धि से तुम समर्थ हो; तुम ठीक रास्ते पर स्थिर रहोगी, यह तो मैं जानता ही हूँ। दुनिया में बुरे लोग हैं, इसलिए क्या तुम बिल में घुसी रहोगी?'

दोपहर के समय पिताजी व मैं अपनी पाण्डुलिपि को लेकर कवि के पास गये—उन लोगों को दोमंजिले के पत्थर के कमरे में बिठाकर मैं दोन-तल्ले पर झुककर देखने लगी—पत्थर का वह घर आँखों के सामने खिला है—नीली-नीली-सी खिड़कियों की बड़ी जालीदार कटाइयों से ढकी थीं और कुशन की जालीदार कटाइयों के थे। बाद में उस कमरे का बहुत-सा परिवर्तन देखा है—इसी कमरे में उन्होंने अन्तिम साँस ली। ऊपर जाकर देखती हूँ कि वे तैयार ही हैं; एक कागज पर कुछेक प्रश्न लिख लिये, फिर उसे एक किताब के बीच डाला और उठ खड़े हुए, 'चलो डाक्टर को देखा जाये...।' चक्करदार सीढ़ियों से होकर हम लोग उतर आये। वे लोग प्रतीक्षा कर रहे थे; दो-चार बातों के बाद उस लड़की ने आँखों पर कपड़ा बाँधा, उसका पति आया और उसकी नब्ज पकड़ी। वह लड़की कुछ नहीं जान पायी, किन्तु वह खुद चेष्टा कर रही है, यह समझ में आया। कवि तो उन्हें हैरान करना नहीं चाहते हैं, बात समझना चाहते हैं। वे कहने लगे—'क्या करने से सुविधा होगी—मैं यदि कागज पर लिखूँ तो सुविधा होगी?' वह लड़की बोली, 'हो सकता है।' तब उन्होंने कागज पर लिखा और उसे उलटकर रखा। फिर भी कुछ नहीं होता है। उस लड़की के कपाल पर पसीने की बूँदें छलछला उठीं। वह उठकर खड़ी हुई और चहलकदमी करने लगी—उसके बाद बरामदे में चली गयी—मेरे सामने एक दीवार

है, सामने एक दीवार है।'[1] कहते-कहते वरामदे में दौड़ती हुई और भी ज़ोर-ज़ोर से बोलने लगी— मैं कुछ नहीं देख पा रही हूँ।' उसके कपाल पर पसीना छलक आया, श्वास-निःश्वास तेज़ हुआ, उसके वाद इसी तरह कहते-कहते कमरे से वाहर आयी, सीढ़ियाँ उतरी और गली से होकर दौड़ती चली गयी—उसका हत-वुद्धि पति भी उसके पीछे-पीछे भागा, चितपुर के रास्ते पर साहव और मेम की इस दौड़ से दोनों ओर के दुकानदारों को कैसा मज़ा आ रहा है, सोचकर मुझे खूव हंसी आयी थी। मैं मुँह पर कपड़े रखकर हँस रही हूँ। पिताजी वोले, 'तू यहीं रह। मैं उन्हें पहुँचा कर आता हूँ।' कवि ने हम पिता-पुत्री की वुद्धि पर यथेष्ट कटाक्ष किया, और अध्यापकों से इससे अधिक और क्या प्रत्याशा की जा सकती है, यह भी वोले। इधर पिताजी भी वहुत क्षुब्ध थे, उनके क्षोभ का कारण था कि वे लोग कवि की वात नहीं वना सके, और उनकी वता सके! रूसी जादू-गर का उपाख्यान इस तरह समाप्त हुआ।

मुझे जहाँ तक याद आता है, यह सव घटना जव घट रही थी, तव मिर्चा यूक्लिड हमारे घर आया करते थे किन्तु तव तक उन्हें विशेष लक्ष्य नहीं किया था। मेरे साथ कोई वात हुई हो, ऐसा भी याद नहीं आता है। जिस दिन की वात याद है, वह थी एक शाम। पिताजी अपनी लिखने की मेज पर वैठे थे, और विपरीत दिशा में एक कुर्सी पर पिताजी की ओर मुंह किये वह वैठा हुआ था। पिताजी ने मुझे वुला भेजा—'यह रही मेरी वेटी अमृता, यह रहा मेरा छात्र मिर्चा युक्लिड।' वह उठकर खड़ा हुआ। मैंने उसे एक पलक देखा। उसकी आँखों पर मोटा-सा चश्मा है, हल्के-से वाल, ऊंचे जवड़े, चौकोर मुँह। विदेशियों की यह आदत मुझे वहुत अच्छी लगती है, लड़कियों को देखने पर वे उठ खड़े होते हैं। और हमारे यहाँ के लड़के? पाँव पर पाँव रखे वैठे रहेंगे, नहीं तो नखरेवाज़ी करेंगे. या ऐसा भाव दिखायेंगे जैसे लड़कियों की उपस्थिति का भान ही

---

1. There is a wall before me, there is a wall before me

नहीं हो रहा हो !

पिताजी बोले, 'यूक्लिड जहाँ रहता है वहाँ उसे बहुत असुविधा हो रही है, इसीलिए मैं उसे यहाँ रहने के लिए कह रहा हूँ, उसके लिए एक कमरे की व्यवस्था कर दो।'

पल-भर के लिए मेरा मन भारी हो गया, मैं बोली, 'पिताजी, घर में आखिर एक अँग्रेज को क्यों जगह देते हैं ?' पिताजी मेरी आपत्ति पर कुछ विरक्त तो हुए थे, फिर भी बड़ी सावधानी से बंगला में बोले—'यह अँग्रेज कतई नहीं है, यूरोप के एक छोटे-से देश का आदमी है। अँग्रेज ही भी तो क्या, तुम्हें यही शिक्षा मिली है ?'

इस बार मैंने मिर्चा यूक्लिड की ओर ताका। विदेशी नाम के सम्बन्ध में मुझे तब भी कोई अभिज्ञता नहीं थी। वरना शायद सुनकर ही समझ जाती कि वह एंग्लो-सैक्सन नाम नहीं है—जो हो, चेहरा देखकर समझा कि यह अँग्रेज नहीं है। रंग यद्यपि बहुत सफ़ेद है बाल काले ही हैं, सुनहरे नहीं—बैक ब्रश किये हुए—कपाल के दोनों किनारे के कुछ-कुछ बाल झड़ गये हैं। गालों की हड्डियाँ ऊँची-सी हैं, जरा पहाड़ियों की-सी। उसने क्षण भर के लिए मेरी ओर निहारा और फिर आँखें हटा लीं।

मुझे आपत्ति खास अँग्रेज के नाम पर नहीं थी, किन्तु यही कहना अच्छा लगा था, इसलिए यही कह दिया था। उस समय विदेशियों के आने-जाने व कलकत्ते के एलीटों के साथ मिलने-जुलने के चलते हमारे घर की सजावट बदल रही थी; जरा इस विषय में बहुत कुछ मैं ही अगुआ थी; माँ यह सब बिलकुल ही नहीं कर पाती थीं। पिताजी और मैं एल्वर्ट एड्‌ज नाम की एक नीलाम की दुकान से नित नये सामान ले आते। दिल्ली-कानपुर की पीतल की चीजों को पॉलिश करना, दरवाज़ों की मूठों से सिटकनी तक को साफ रखना, सब-कुछ मुझे ही करना पड़ता। इस घर को साफ-सुथरा रखना हमारे जैसे नीम-साहबों घर में काफ़ी कष्टकर था। एक तो घर में अनेक लोग हैं, इसके अलावा गाँव से जब-तब ग्रामीण सगे-संबंधी रोगों की चिकित्सा कराने, ग्रहण का गंगा-स्नान करने, कालीघाट में पूजा देने सदल-बल उपस्थित होते। मेरी माँ किसी को लौटाती नहीं थीं। रोग लिये कोई आता तो माँ सुपटु नर्स की तरह उसकी

सेवा करतीं। माँ की अपनी किसी दिन कालीघाट जाने की इच्छा नहीं होती थी। माँ का मायका सम्पूर्ण ब्राह्म-भावापन्न था—किन्तु गांव की कोई वृद्धा आत्मीया आतीं तो अपनी शेवरले गाड़ी में प्रतिदिन उन्हें कालीघाट भेजतीं, गाड़ी से घड़ा-भर गंगाजल मँगातीं। माँ का दरवाज़ा सर्वदा सबके लिए खुला रहता। किन्तु इसका फल मेरे लिए बहुत अच्छा नहीं होता। कारण, कुछ ही दिन हुए मुझे अकेले अपने लिए एक कमरा मिला है—बिलकुल पूरी तरह अकेले नहीं—इस कमरे में मेरे साथ रात में शांति और मेरी ग्यारह-वर्षीय छोटी बहन सावित्री अर्थात् 'सावी' सोती थीं। लेकिन कमरा तो मेरा ही था—मैंने उस कमरे को सुन्दर ढंग से सजाया था—सारे सामान नीचे, नज़रों से छिपाकर रखे हैं—खाटों के पायों को काटकर उन्हें नीचा किया गया है। सामान अवश्य थोड़ा-सा ही था। सफ़ेद और काले-काले, शतरंज की बिसात की भाँति, पत्थरों का फ़र्श था—पॉलिश किया हुआ। धूप और फूलों से सर्वदा सुगन्धित रखती थी उस कमरे को। जो कोई आता, कहता—कमरा तो नहीं, यह मन्दिर है। बीच वाली दीवार पर रवि ठाकुर की एक तसवीर थी—सिर पर टोपी पहने—वह तसवीर मुझमें बड़ा आश्चर्य जगाती थी, कमरे के चाहे किसी भी कोने में रखो, लगेगा तुम्हारी ओर ही देख रही है। बचने की गुंजाइश नहीं।

जब भी गांव-घर से आत्मीय-स्वजन अपनी-अपनी गठरी लिये उपस्थित होते तभी मुझे अपना कमरा छोड़ देना पड़ता, क्योंकि घर में फ़ालतू कमरे के नाम पर वही एक कमरा था। वे लोग दीवार पर हाथ की छाप लगाकर, पर्दों से हाथ पोंछकर, मेज़ पर पानी का दाग लगाकर, ग्रहण के स्नान-पुण्य से तृप्त होकर जब चले जाते तब फिर मुझे नये सिरे से काम में जुट जाना पड़ता। माँ का इस सबसे कुछ आता-जाता नहीं था; वे बाह्य की ओर नहीं देखती हैं, मनुष्य ही उनके लिए मूल्यवान है। मनुष्य के मन को कष्ट पहुँचाकर कमरे को सजाना होगा, ऐसा तो उनके मन में बिलकुल नहीं आता।

मगर मेरे मन में तो आता है—मैं सजे-धजे कमरे में बैठकर कविता पढ़ना और लिखना पसन्द करती हूँ। और अच्छा लगता है काका से

स्वाधीनता-संग्राम की कहानियाँ सुनना। जो संग्राम हमारे चारों ओर हो रहा है, हमारे बदन को उसकी आँच भी नहीं लग रही है। काका मेरे पिताजी के चचेरे भाई हैं, उनके घर में ही इस ओर थोड़ा झुकाव है। काका के बड़े भाई जेल में हैं, यह मेरे लिए बड़े गर्व का विषय है। मैं सह-पाठिनों को उनके बारे में बताती हूँ। लेकिन हमारे घर में यह सब नहीं है, अर्थात् पिताजी इस सबकी परवाह नहीं करते हैं। आज जब पीछे की ओर ताककर सोचती हूँ तो अच्छी तरह याद आता है, कि अधिकांश उच्च शिक्षित, उच्च-वित्त लोग उस समय स्वाधीनता की सम्भावना की बात सोच ही नहीं सकते थे। एक बात प्रायः ही सुना करती थी—"यही सब करके ये लोग अंग्रेजों को भगायेंगे ? तो फिर कहना ही क्या है।" मगर कैसे भगायेंगे, उस सम्बन्ध में उनकी कोई योजना नहीं सुनी थी। जो हो, अल्पवयस्कों के मन में इन सब दुःसाहसिक घटनाओं का वृत्तान्त मोह पैदा कर रहा था—डांडी-मार्च व दफ्तरों में घुसकर साहबों को मार डालने की नाना घटनाओं का उत्ताप पारिवारिक प्रतिबंध को पारकर हमारे मन को छू जाता। एक काम करना हम लोगों ने शुरू किया था—पूरी तरह से विलायती चीजों का बहिष्कार।

इसीलिए मेरे मुँह में यह बात निहायत अशोभनीय नहीं थी : 'घर में आखिर एक अंग्रेज को क्यों जगह दे रहे हैं ?' किन्तु मेरी आपत्ति का असली कारण था—कहीं इसके लिए भी मुझे अपना कमरा न छोड़ना पड़े ?

पिताजी ने मुझे निश्चिन्त किया, 'एक तल्ले के सामने वाले कमरे में वह रह सकेगा, कमरे का पार्टिशन कर देने पर सामने की ओर लोग-बाग आकर बैठ सकेंगे या तेरा काका रह सकेगा और भीतर की ओर यूक्लिड रहेगा।'

उस दिन शाम को पिताजी ने 'नेशनलिज्म' नाम की किताब दी। बोले, 'इस किताब को पढ़ो। अंग्रेज होने से ही क्या वह शत्रु है ? ऐसा भी एक दिन आयेगा जब पैट्रियाटिज्म एक अपराध माना जायेगा।' उस दिन बहुत रात तक मैंने उस किताब को उलटा-पुलटा, पर अच्छी तरह कुछ भी समझ में नहीं आया। पिताजी हर समय मुझे इस तरह की पढ़ने के

बाहर की किताबें दिया करते थे। मैं भी बिना समझे-बूझे पढ़ना पसन्द करती; यह समझ में आने-न-आने लायक़ धूप-छाँह-भरी दुनिया मुझे हर समय अच्छी लगती। मानो समझ में आ रहा है, हालाँकि समझ में नहीं आ रहा है, अपार रहस्यमय घूंघट पहने इस विश्व की पकड़ में न आने वाली छाया ही तब मेरी कविता की प्रेरणा थी।

दो-तीन दिनों मे ही सारी व्यवस्था हो गयी; पार्टिशन तो करने के बाद भी यह कमरा ज़्यादा छोटा नहीं था। एक छोटी-सी खाट, मेज़-कुर्सी, एक बड़ा-सा बेंत का सोफ़ा, एक पियानो व स्टूल और बीच में एक गोल मेज की बग़ल में बड़ा-सा स्टैंडिंग लैम्प—गृह-सज्जा बुरी क्या है! पर्दा भी लटकाया है एक गली की ओर के दरवाज़े पर। यह कमरा मेरे कमरे के ठीक नीचे है।

सवेरे खाने की मेज पर मिर्चा यूक्लिड के साथ पिताजी नाना विषयों पर बातें करते; वह क्या पढ़ेगा, बताते। एक दिन पिताजी ने कहा, 'तुम दोनों मुझसे 'शकुन्तला' पढ़ो, 'हितोपदेश' से संस्कृत सीखने से लाभ नहीं। एक मन लगने लायक़ किताब होगी तो अच्छा होगा।' दूसरे दिन से हम लोगों का एक साथ पढ़ना शुरू हुआ। चटाई बिछाकर फ़र्श पर बैठ-कर साहब के साथ संस्कृत पढ़ना देखने में उस ज़माने के लोगों को कैसा लगता था, कौन जाने! मैंने देखा है, पिताजी के बंगाली छात्रों की आँखों में ईर्ष्या-मिश्रित विस्मय, मैंने देखा है बड़ी बूढ़ी माँ-जैसी स्त्रियों के आँख-मुँह पर सन्देह व आपत्ति, और समवयस्कों की आँखों में कौतुक। लेकिन पिताजी को परवाह नहीं थी। माँ और पिताजी—दोनों ने ही बड़े सहज भाव से उसकी उपस्थिति को मान लिया था। वह क्रमशः घर का ही एक सदस्य बनता जा रहा था।

पिताजी के पढ़ाते समय मैं जान-बूझकर ही चटाई पर बैठती थी। पिताजी बैठते थे हम दोनों के बीच, एक सोफ़े पर। मैं समझती थी, चटाई पर बैठने में मिर्चा को बहुत अच्छा लग रहा है; एक तो नयापन है और दूसरे, हम लोगों के साथ एकात्म होने की इच्छा। वह हर चीज को देखता है, और बारीकी से देखता है। हम लोगों का सब-कुछ जानना चाहता है

और हर बात में ही कोई अर्थ ढूंढ निकालता है।

मां कहती हैं, 'यूक्लिड बहुत अच्छा लड़का है, भद्र, शान्त, विनीत। तुम मुझे मां क्यों नहीं कहते मिर्चा, मिसेज़ सेन क्यों कहते हो? मां कहा करोगे?'

उसके बाद से वह मां कहा करता था। किन्तु उसने मुझे बताया था कि उन लोगों के देश में अल्पवयस्क स्त्रियों को कोई मां नहीं कहता, वे खफ़ा होती हैं। मेरी मां की उम्र तब भला कितनी रही होगी, यही कोई बत्तीस या तैंतीस। किन्तु लाल पाड़ वाली साड़ी, कपाल में सिंदूर और पांवों में महावर रचाये परम सुन्दरी हमारी मां केवल मातृ-मूर्ति ही हैं; उनकी उम्र की बात कौन सोचता है! क्या पता, उन लोगों का देश तो बड़ा अद्भुत है, स्त्रियां मां कहलाने से गुस्सा करती हैं! इसीलिए उम्र के हिसाब की जरूरत है क्या!

सवेरे खाने की मेज से सभी उठकर चले जाते। हम लोग बैठे-बैठे गपशप करते। उसके बाद और जरा ऊपर जाकर लाइब्रेरी के दरवाजे के सामने खड़े-खड़े बातें करते-करते प्रायः रोज ही करीब दो घंटे कट जाते, कोई लक्ष्य ही नहीं करता। तीन कमरों में फैली पिताजी की सात-आठ हज़ार किताबों की लाइब्रेरी थी—वहीं हम लोगों की गपशप चलती। सीढ़ियों से होकर पिताजी उतर गये, किन्तु कुछ भी नहीं बोले, ऐसा कितने ही बार हुआ है! यहां तक कि अड्डा लगाकर समय क्यों नष्ट कर रही हो, यह भी नहीं कहा। यदि खोकू के साथ अथवा गोपाल के साथ बात करती तो फिर जरूर डांट खाती। लेकिन मिर्चा यूक्लिड के साथ निश्चय ही शास्त्र-चर्चा कर रही हूं, और स्पष्ट उन्नति हो रही है!

किताब हाथ में लिये मैं ऊपर से उतरती आ रही हूं कि मिर्चा ने मुझे बीच रास्ते में पकड़ा, 'तुमने क्या कल एक दार्शनिक भावों से भरी कविता लिखी है?'

'हां...।' मेरी कल की कविता को लेकर पिताजी खूब उच्छ्वसित हैं। उसमें एक पंक्ति है—'काल का जब खो जायेगा मुहूर्त निमेष।' यह पंक्ति

पिताजी को बहुत अच्छी लगी है, इसमें एक विराट् तत्व सम्बन्धी प्रश्न है...वह प्रश्न ही तत्व है। मेरी उम्र जब चौदह साल की थी, अर्थात् छः वर्ष पहले पुरी के समुद्र के तीर पर बैठी हुई हूँ, शाम के समय, मुझे हठात् लगा कि यह तो सवेरा है...एक अद्भुत अनुभूति हुई थी, उसे मैंने कविता में लिखा था—'लो मुझे, लो मुझे, मुझे ले चलो सत्वर, मेरा यह स्वप्न-स्रोत जहाँ गया बहकर'—पर कैसा है वह देश ?...'आशाहीन व भाषा-हीन है, सब-कुछ होता है खत्म जहाँ, पांथहीन पथ है जहाँ पर, नहीं होता है कलरव जहाँ। जन्महीन व मृत्युहीन है, नहीं रहेगा काल जहाँ, जहाँ रात्रि और दिवस तक नहीं होते हैं, नहीं होता है प्रात: जहाँ !' पिताजी ने कहा, 'काल सम्बन्धी 'रू' की अनुसंधानपूर्ण भावना बाक़ायदा शास्त्रमुखी है। 'क्या काल है ?' पिताजी के इस उच्छ्वास से मैं बहुत गर्वित हूँ। लेकिन जब पिताजी मुझे निर्देश देते हैं : तुम इस तरह लिखकर लाओ, तब मुझे अच्छा नहीं लगता है। कविता की स्वाभाविक गति बन्द हो जाती है—एक पंख पसार कर उड़ता हुआ यही पंछी पंख समेटकर धरती पर मुँह के बल आ गिरता है। 'भोग-पात्र' कविता को लिखकर मैं खुश नहीं हूँ।

मिर्चा ने मुस्कराकर कहा, 'तो तुम क्या दार्शनिक विचारों की कविता लिखोगी...नन्हीं-सी लड़की !'

'मैं क़तई नन्हीं-सी नहीं हूँ—इसके सिवा दार्शनिक तो मैं हूँ ही।'

'तुम दार्शनिक हो !'

'निश्चय ही। जो ग़ौर से देखना चाहता है वह दार्शनिक है—मैं तो देखती हूँ, देखना चाहती हूँ।'

'अच्छा तो चलो, अपनी कविता सुनाओ।'

मैं उसके कमरे में घुसी। कुछ दिनों से मैं उसके कमरे में आ-जा रही हूँ, पर किसी ने भी तो मुझसे नहीं कहा कि उसके कमरे में जाना ठीक नहीं है; तो भी क़दम ठिठक जाते हैं, कहीं तनिक संकोच भी होता है। मगर यह क्या है ? मैं समझ नहीं पाती कि यह ईषत् बाधा और संकोच आखिर क्या है ? मैं स्वच्छन्द नहीं हूँ, फिर भी बड़ा स्वच्छन्द भाव दिखाकर बैठी बड़ी-सी बेंत की चौकी पर। बीच में मेज है, उसके दूसरी ओर उठंगकर

वह अपने बिस्तर पर बैठा है।

'तो सुनाओ अपनी दार्शनिक कविता।'

'नहीं-नहीं, मैं रवीन्द्रनाथ की कविता सुनाती हूँ, सुनो...उनकी जो नयी किताब निकली है, उसे तो उन्होंने मुझे ही समर्पित किया है, वह कविता सुनो।'

'क्या बकती हो ? तुम्हें समर्पित किया है !'

'चौंक क्यों उठे इतना ? मुझे समर्पित नहीं कर सकते हैं !'

मैं मन-ही-मन हँस रही हूँ, उसने विश्वास किया है, पूरा विश्वास किया है, उसे ठगूँगी। बाद में काका से जान सकें तो जानें !

मेरी वाणी क्या सुनी है तुमने,
खींच लिया है उसे हृदय में,
नाम तुम्हारा नहीं जानता, फिर भी यह तुम्हें ही सौंपा
अपने ध्यान का सब धन मैंने।

रुक-रुककर अनुवाद किया, अनुवाद क्या खाक हुआ—समझना भी मुश्किल है। वह भवों पर बल डाले रहा : बातों का भीतरी अर्थ समझने की कोशिश कर रहा है। मैं उठ पड़ी।

वह बोला, 'पता नहीं, तुम्हारे ही नाम उन्होंने क्यों लिखा ?' वह समझ रहा है कि मैंने धोखा दिया है।

'यही तो गोपनीय है।'

ऐसी बातचीत मिर्चा यूक्लिड को विभ्रान्त करती है; पहले तो दोनों ओर भाषा की बाधा है ही—इसके सिवा भाव की बाधा भी है। हम लोग किस प्रकार क्या सोचते हैं, वह नहीं समझ पाता है। उस नासमझी के अन्धकार में वह टटोलता फिरता है; उसकी आँखों की दृष्टि तीक्ष्ण है, उसके गले का स्वर काँपता है...'पकड़ में नहीं आयेगी न पकड़ में आने वाली काया, रच गयी प्राणों में मोहिनी माया'...तो इसमें भी मोहिनी माया उतरती आ रही है क्या ? क्या पता !

'यह मालती लता हिलती है—चिरौंजी के वृक्ष की गोद में...' घर के भीतर से बाहर जाना होता है तो मिर्चा के कमरे के सामने के तंग गलियारे से होकर जाना पड़ता है—इस गली के पूरब की ओर आँगन है। इस आँगन से सीढ़ियाँ चढ़कर गली में और खाने के कमरे में भी आना पड़ता है। मिर्चा के कमरे के ठीक ऊपर मेरे सोने का कमरा है। बाहर की ओर अर्थात् दक्षिण की ओर नीचे भी एक बरामदा है, ऊपर भी एक है। नीचे के पूर्व-दक्षिण कोने में एक मालती नहीं, माधवी-लता नीचे से ऊपर तक चढ़ गयी है—वह तो बारहों महीने फूलों से लदी रहती है, सफ़ेद-लाल रंग की मंजरियाँ, मैं इस लता को हिलाती हूँ। उसके कमरे के सामने की गली को पार कर बरामदे के पूर्व-दक्षिण कोने में इस लता के आश्रय में आकर खड़ी होने पर, मैं जानती हूँ, थोड़ी ही देर बाद मिर्चा उठकर आयेगा, पर्दे की ओट से मुझे आते हुए उसने देखा है। मैं जो उसके लिए प्रतीक्षा किये हुए हूँ, यह मैं स्पष्ट रूप से नहीं जानती, कारण—जानना नहीं चाहती हूँ। तो भी मैं कान लगाये हूँ—वह क्यों नहीं आ रहा है, देख नहीं पाया क्या ? तो फिर क्या किया जाय, गाना गुन-गुनाऊँ, या कविता कहूँ ? कैसा अन्याय है ! कैसा अन्याय है ! ऐसा होना तो अच्छा नहीं है, लेकिन जो अच्छा नहीं है वह कभी नहीं करूँगी, मैं दार्शनिक बनूँगी—दार्शनिक जो सत्याश्रयी है, सत्यान्वेषी है। वह कभी लुका-छिपी नहीं करता, यह सच नहीं है क्या ? मैं उस लता को पकड़े हूँ—पर मेरा कलेजा हौले-हौले काँप रहा है, आशा और आशंका से। ऐसे समय रास्ते से सीढ़ियाँ चढ़कर खद्दर का कुर्ता पहने चप्पल की भद-भद आवाज़ करते हुए 'म' बाबू ऊपर आये। 'म' बाबू मेरी एक नज़दीकी रिश्तेदार के देवर हैं। मुझे पता है उनके मन की इच्छा क्या है—उनसे मैं बात करूँ, कारण—हमारे एक तरह से तो वे आत्मीय ही हैं।

'अच्छा तो आप यहाँ हैं, नमस्कार।'

'नमस्कार।'

'मैं अगले महीने इंग्लैंड जा रहा हूँ।'

'बहुत अच्छी बात है।'

'पता नहीं कितने दिन लगेंगे—बैरिस्टरी पास करने में।'

'मन लगाकर पढने से ज्यादा दिन भला क्यों लगेंगे !'

'मन क्या लगा सकूंगा ?'

लो, शुरू हुआ ! अब शुरू होगी मेरी स्तुति। इन सब पिछलग्गू खुशामदी लड़कों को फूटी आँखों नहीं देख सकती। ऐसे बहुत, कई लोग हैं। मीलू और मैं बहुत हँसती हैं इनको लेकर। किन्तु आज मुझे भय हो रहा है। मिर्चा अगर बाहर आकर इन्हें देखे तो नाराज होगा। चेहरे पर उदासी छा जायेगी। वह क्या सोच बैठे, कौन जाने !

जिस बात का डर था वही हुआ। वह पर्दा हटाकर बाहर आया, एक क़दम आगे आकर उन्हें देखते ही फिर कमरे में घुस गया। बाक़ायदा अभद्रता है यह। 'म' बाबू ने पता नहीं, क्या सोचा। बड़ी मुश्किल है इन लोगों से निपटना, सभी एक समान हैं। मैं अस्थिर हो उठी, 'ऊपर जाइये, माँ ऊपर ही हैं। यहाँ बरामदे में खड़े-खड़े पाँवों को तकलीफ देने की क्या जरूरत है ?'

'आपके पाँव नहीं दुखते ? या किसी के लिए प्रतीक्षा कर रही हैं ? क्या मैं बाधा डाले हुए हूँ ?'

'म' बाबू भीतर चले गये—आहत, बाणविद्ध।

मुझे रोना आ रहा है, बहुत रोना आ रहा है, आखिर इन लोगों के बारे में मुझे सोचने की जरूरत क्या है ! इनमें से किसने क्या सोचा, इससे क्या आता-जाता है ! मुझे क्या सोचने को कुछ भी नहीं है ? कितने दिन हो गये मैं शान्ति-निकेतन नहीं गयी हूँ !

वहाँ गये बिना मेरा मन शान्त नहीं होगा। शान्ति-निकेतन में छितवन के पेड़ के नीचे पत्थर के फलक पर लिखा हुआ है :

'वे ही मेरी आत्मा की शान्ति हैं, वे ही मेरे प्राणों के सुख हैं।' महर्षि देव ईश्वर को पहचानते थे, वे ही उनके प्राणों के आनन्द थे—होगा ! मैं तो ईश्वर को नहीं पहचानती। पिताजी उस दिन थियोलॉजियनों को समझा रहे थे—कानों के भीतर जो यन्त्र निपुण भाव से बना हुआ है, हैमर और ऐनविल बिठाया हुआ है, वह क्या यों ही है ? किसी ने तो

बनाया है, तो वह कौन है ? यही तो ईश्वर के अस्तित्व का एक अप्रत्यक्ष प्रमाण है। इस तरह से भी ईश्वर प्रमाणित होते हैं, किन्तु वे ईश्वर क्या प्राणों के आनन्द हो सकते हैं ? जिसे देखने से आँखें जुड़ा जाती हैं, जिसे देखने से पवन मधुर होता है—धत् तेरे की ! शास्त्र का मंत्र दिमाग़ में क्यों घुमड़ता है कौन जाने, दर-असल यह तो प्रेम का मन्त्र है। उस दिन स्टार रोड के बड़े-से लाल मकान में हम लोग गये थे, अतुलप्रसाद सेन का गाना सुनने कलकत्ते के सारे 'एलीट' आये थे, अतुलप्रसाद सेन हारमोनियम बजाकर गा रहे थे—'तुम मधु, तुम मधु, मधुर निर्झर, मधुर सागर मम प्राण बंधु...।' वे निश्चय ही ईश्वर के बारे में कह रहे थे। वैष्णव साहित्य में 'बन्धु' तो ईश्वर है, श्रीकृष्ण ईश्वर हैं, राधा भी ईश्वर है। सभी आँखें मूंदे बैठे हुए हैं, किसी-किसी की आँखों से आँसू बह रहे हैं—पर क्यों ? तो क्या वे लोग ईश्वर को समझ पा रहे हैं ? बेकार बातें हैं, मैं तो जानती हूँ—'एलीट' होने से क्या होगा, आदमी कितना झूठा और स्वार्थी है ! जहाँ तक मेरी धारणा है, झूठों के साथ ईश्वर का सम्पर्क नहीं है। और मीलू ! उसकी पहुँच कहाँ तक है, यह मुझे पता है। ईश्वर मेरे आसपास भी नहीं हैं, उसके भी नहीं। मैंने आँखें मूँदीं—गाना बहुत सुन्दर गा रहे हैं। उनके गले में क्या 'दर्द' है ! 'दर्द' शब्द तो अच्छा है—ठीक अर्थ प्रकट कर देता है—लेकिन उनके मुंह की ओर देखने की मेरी इच्छा नहीं है—मैं आँखें मूंदे हूँ—सचमुच ही सुन्दर गला है, 'बहती जाती है सुरसरि...।' इस सुर के प्रकाश से मेरा अन्तःकरण उज्ज्वल है, मैं देख पा रही हूँ एक अन्य देश, एक बरामदे की नीची छत के एक ओर चढ़ गयी है नीलमणि लता, उसमें नीले-नीले फूलों के गुच्छे लगे हुए हैं—उसका अँग्रेजी नाम विस्टारिया है—और बरामदे की मेज पर झुककर एक आदमी लिख रहे हैं—उनके घुंघराले सफ़ेद बालों पर भोर का प्रकाश पड़ा है—वे लिख रहे हैं और गुनगुनाते हुए गा रहे हैं, वह गान तो कुछ और है, किन्तु दो गाने मेरे मन में घुल-मिल जा रहे हैं—'तव अनल, अनिल में जल में, मधु प्रवाहिनी बहती बोले मधुरम्-मधुरम् !'

देखो तो, आखिर क्यों यह दिन भूल गयी थी ! मेरे लिए उस एक

-व्यक्ति के अलावा ऐसी शान्ति का उत्स, प्राणों का आराम, और कोई नहीं है, रह नहीं सकता, रहना उचित नही। मेरा कलेजा कांप रहा है, लग रहा है, अपने में ही मानो सत्य को झुठला रही हूँ! वह सत्य क्या है? मुझे पता नही, नहीं पता।

मिर्चा का हाल देखा? अभद्र है, अभद्र। उसके कमरे के सामने से होकर 'म' बाबू चले गये, फिर भी बाहर नही आया—मैं भी उसके कमरे में नही जाऊँगी। आज तो यह प्रतिज्ञा रखूँगी, रखूँगी, और जरूर रखूँगी। इसके चलते उससे अगर मेरी बातचीत हमेशा-हमेशा के लिए बन्द हो जाये तो भी ठीक! मैंने अन्यमनस्क होकर माधवी लता से एक बड़ा-सा गुच्छा तोड़ लिया और ऊपर जाने के खयाल से आगे बढ़ी। उसके कमरे की बग़ल से होकर जाते-जाते पर्दे की ओट से झाँककर देखती हूँ, बाबू साहब एकाग्रचित्त किताब पढ़ रहे हैं—कौन सामने से होकर आया या गया—देख ही नहीं पा रहे हैं! मैंने पर्दे को ज़रा हटाकर फूल फेंक दिया और आगे बढ़ती जा रही हूँ—कि तभी पीछे से उसकी पुकार सुन पायी—'अमृता! अमृता!'

—'माँ, माँ, माँ' की पुकार जैसे महासिन्धु के ऊपर से तिरती हुई आयी। महासिन्धु नहीं, महाजगत् से! सामने नजर उठाकर देखती हूँ, मेरा बेटा खड़ा है। मेरा हाथ टेलीफ़ोन पर है—टेलीफ़ोन बोल रहा है—"माँ, तुम टेलीफोन क्यों नही उठा रही हो!" बड़ी मुश्किल से टेलीफ़ोन उठाया—मेरा हाथ सुन्न है, मैं अस्थिर हूँ, एक ही साथ एक ही पल में इतनी दूरी को लाँघा जा सकता है? मैं तो यहाँ नहीं थी, हरगिज़ नही थी।

पर यह तो स्मृति नही है। मेरा शरीर तो यहाँ कुर्सी पर जरूर ही पड़ा हुआ था, किन्तु मैं महाकाल में अनुप्रविष्ट थी, जिसका आगा भी नही है, पीछा भी नहीं; जहाँ न रात होती है, न दिन होता है, न सवेरा होता है। शरीर और मन का यह विच्छेद और उपस्थिति, एक ही साथ

इन दो समयों में, अर्थात् हम लोग जिन्हें दो समय कहकर देखने के अभ्यस्त हैं, वैसे दो समयों में, निश्चय ही शरीर को आघात पहुँचाती है। इसीलिए मैं अवसन्न हूँ। मेरे बेटे की उम्र तीस साल है, वह वयस्क है, बच्चा नहीं है, वह क्या सोच रहा है क्या पता—किन्तु वह अपने पिता की तरह है, न बोलूँ तो कुछ पूछेगा नहीं। धीरे-धीरे वह कमरे से चला गया। मैं उसकी, जाते हुए की ओर आँखें टिकाये हूँ! कौन गया, कहाँ गया, इसके बाद क्या है, कुछ समझ नहीं पा रही हूँ। लेखा आयी और टेलीफ़ोन को मेरे हाथ से ले लिया—उस ओर कोई था—उससे बोली, "माँ तो सो चुकी हैं।" फिर उसका नम्बर ले लिया। अब मैं सब-कुछ समझ पा रही हूँ—उस आदमी से बात करना जरूरी था, लेकिन अच्छा ही हुआ। पर बात क्या करूँगी, यदि भूल हो जाये तो! लेखा बोली, 'चलिये माँ, आप सो जायेंगी। आपसे कह रही हूँ, किसी से बात कीजिये।"

"मुझे कुछ नहीं हुआ है लेखा, कुछ नहीं...।"

"देखूँ उठाकर उसके उर का आच्छादन,
वहाँ अभी भी है क्या मन,
हन्यमान इस तन में जिसकी
अजर अमर सत्ता का संभार
पग-पग पर गाये गीत असम्भव के
सुनने को मैं इसीलिए
लगाये बैठी हूँ अब कान...।"

असम्भव, असम्भव! जीवन क्या असम्भावना की सम्भावनाओं से पूर्ण है—इतने समय बाद क्या इस तरह से सब-कुछ मन में आ सकता है—इतनी वेदना लेकर, इतना रक्त-क्षरण करते हुए?

"माँ, आँखें बन्द किये क्या बोल रही हैं—क्या मन्त्र जप रही हैं?"

"कविता है, कविता, बहुत दिनों बाद कविता लिखने की इच्छा हो रही है...

काटता नहीं शस्त्र, जलाती नहीं आग
देखूंगी अश्रु के पारावार में उसे
पागल की भाँति दोनों बाँहों में भरकर
न पकड़ में आने वाले प्राणों के स्वयंवर में फिर
चलो, चलूं, दूर वहीं जहाँ रुका है काल
तोड़-फोड़कर, झाड़-पोंछकर यह जंजाल
मुक्त प्राण का दीप-मात्र हाथों में लेकर
नवल वधू के भाल करूंगी अंकित कुंकुम
जाऊंगी-जाऊंगी, मैं अवश्य जाऊंगी
मिलन-रात्रि है रुकी जहाँ पर
किसी के अविचल स्नेह में..."

अब समझ में आ रहा है कि साल-भर से मेरे मन में, धीरे-धीरे से, कहीं जाने की इच्छा इतनी प्रबल, इतनी दुर्दमनीय क्यों होती जा रही है। केवल लगता है कहीं जाऊँ, कहीं जाऊँ, दूर—बहुत दूर—और अभी लग रहा है कि इस बरामदे से होकर निकलूं और आकाश में तिरती हुई कहीं चली जाऊँ...।

लेखा कह रही है, "सोने चलिये।"

मैं कह रही हूँ, "चलो, चलो, चलो।"

मैं हँस रही हूँ। लेखा भी हँस रही है—"चलिये, सोने चलिये।"

रात बहुत हो गयी है, मगर मेरे पति सोये नहीं हैं। सितम्बर में सेरगेई आया था, आज अक्तूबर की शुरुआत है। इस महीने के बाद उन्होंने लक्ष्य किया है कि मैं यहाँ नहीं हूँ। पर क्या हुआ है, वे पूछ नहीं पा रहे हैं। ऐसा उनका स्वभाव नहीं है। हमारा विवाह हुए अड़तीस लम्बे साल गुजर चुके हैं, इस बीच हमारे सम्मिलित जीवन में कोई द्वन्द्व नहीं रहा है। चाहे जिस तरह भी हो, वे यह निश्चय जानते हैं कि इस घर-संसार में मैं बिलकुल गृहस्थी में डूबी रहने वाली गृहिणी तो हूँ, फिर भी मेरा कुछ ऐसा

बाक़ी बचा हुआ है जिसकी किंचित ख़बर उन्हें नहीं। पर उन्हें इससे भी कुछ आता-जाता नहीं, कारण—वे तो देना-भर जानते हैं, हक़ जताना नहीं जानते। मैं सोचती हूँ, उन्हें संशय में रखना उचित नहीं। मुझे कुछ बताना ही उचित है, किन्तु इतने दिन बाद मैं क्या कहूँ? उसकी किताब के बारे में कैसे बताऊँ? मिर्चा, तुमने इतनी झूठी बात क्यों लिखी? जो सच था, वही काफ़ी नहीं था? झूठी बात इसलिए लिखी गयी है कि कहानी बाज़ार में बिक सके और पैसे कमाये जायें। आजकल तो देखती हूँ—अशिष्टता, अश्लीलता डाले बिना किताब की क़दर नहीं होती—तुम लोगों के देशों से ही तो रुचि-विकार का आयात हुआ है—कदर्य, देहबद्ध प्रेम की निर्लज्जता! हाय-हाय, तुमने आखिरकार मुझे भी यहाँ तक पहुँचा दिया? सच की ज़िम्मेदारी तो मैं ले सकती हूँ, पर झूठ की ज़िम्मेदारी मैं कैसे ढोऊँ? मेरा वर्तमान और भविष्य है, नाम है, लड़के-लड़कियाँ हैं, मैं भारतीय नारी हूँ। सुनाम का नष्ट होना तो मृत्यु से भी अधिक है। अपमान से मेरा सारा शरीर तप उठता है—मैं आँख-मुँह पर पानी डाल आती हूँ। आज एक महीना हो गया—मैं एक रात भी सो नहीं पायी हूँ। क्रोध की ज्वाला धधक रही है। उस ज्वाला में जल रहा है बहुत कुछ। आज चालीस वर्ष से मेरे मान-सम्मान, संभ्रम सब-कुछ को बरबाद कर रखा है—तुम्हारी किताब के बीस संस्करण हुए हैं, बहुत-से लोगों के सामने तुमने मुझे निरावरण किया है। तो इसे प्यार कहते हैं क्या? वह किताब तो मैंने नहीं पढ़ी है लेकिन जो सुना है, उससे तो ऐसा ही लग रहा है। वह किताब तलाश करके पढ़नी होगी। किन्तु पढ़ायेगा कौन? वह भाषा तो हम लोगों में कोई जानता नहीं। मैं यन्त्रणा से छटपटा रही हूँ। उसका चेहरा याद करने की कोशिश कर रही हूँ; चेहरा ही अगर याद न आये तो फिर झगड़ा किससे करूँगी? मुझे उसका चेहरा अच्छी तरह याद नहीं आ रहा है—बहुत दिन हो गये—केवल देखती हूँ, पार्टिशन से उठंगकर बैठा हुआ है, उसके वे बगले के पंख-से सफ़ेद-सफ़ेद दोनों पाँव दीख पड़ते हैं।...मैं खिड़की के पास आ खड़ी हुई हूँ। आजकल तो खिड़कियों में सलाखें नहीं रहतीं, रहता है ग्रिल—उन्हें पकड़कर खड़ा नहीं हुआ जा सकता। उद्विग्न मन जब खिड़की से होकर निकल जाना चाहता है तब

सलाखें पकड़ने से शान्ति मिलती है। नन्दलाल की एक तसवीर है—रात के अन्धकार में धुंधली-सी, मूर्तिवती बंदिनी सीता एक सलाख पकड़े हुए है—अपनी स्थिति मुझे कुछ वैसी ही लग रही है—यह सलाख निकाल दो—चलूं, चलूं, समय के समुद्र को लाँघकर, अपनी इस चालीस वर्ष की गृहस्थी को छोड़कर, अपने नाम-ख्याति-कर्तव्य को छोड़कर चलो, चलूं, चलूं, चलूं—मिर्चा तुम्हें एक बार देखना चाहती हूं।

मैंने पिताजी से कहा, 'रवीन्द्रनाथ के विदेश जाने के पहले हम लोग क्या एक बार उनसे मिलने नहीं चलेंगे ?'

'ज़रूर चलेंगे, यूक्लिड भी जाना चाहता है।' उन्हें लिखा गया—बाक़ायदा एक दिन बाद उत्तर आया—'तथास्तु। कन्या और शिष्य समेत आओ।'

उस बार हम लोग बड़े गेस्ट-हाउस में ठहरे थे। तय था कि सवेरे 'उत्तरायण' में मिलने जायेंगे। हम तीनों—मैं, मिर्चा और पिताजी। पर मैं और मिर्चा ज़रा पहले निकल पड़े हैं, बगीचे में टेनिस-कोर्ट के पास चहलक़दमी कर रहे हैं, पिताजी तो भला आ ही नहीं रहे हैं, सम्भवतः रास्ते में क्षितिमोहन सेन से भेंट हो गयी है—अच्छा ही हुआ है, इसमें हम लोग दु:खित नहीं हैं। क्या सुन्दर सवेरा है—कलकत्ता के बाद, शान्तिनिकेतन मानो हम दोनों का आलिंगन कर रहा हो...'इसकी नम-प्यारी गोदी में झूले, मेरा मन झूले...।'

•

पिताजी आये, 'चलो।' मैं बोली, 'मैं बाद में जाऊंगी, आप लोग जाइये। मैं अपनी सहेलियों से मिलकर आती हूं...।' मैं उन लोगों के साथ नहीं जाऊंगी। मैं अकेले में बात करना चाहती हूं। यह सही है कि मैं किसी सहेली से मिलने नहीं जा रही हूं। यहाँ मेरी कोई सहेली नहीं है—मैं तो दो-तीन दिनों के लिए आती हूं, तब भला किस सहेली के पास जाऊंगी ? एक जो हैं वही अकेले सौ के बराबर हैं। तो क्या केवल सौ ?

बराबर ?

कवि के पास से आकर पिताजी मिर्चा को लेकर उसे लाइब्रेरी दिखाने गये। वह हस्तलिखित प्राचीन पुस्तकों का संग्रह देखेगा। ज्ञान के लिए उसे आकंठ तृष्णा है। पिताजी इस छात्र को लेकर बहुत गर्वित हैं। पिताजी की प्रदर्शनी में हम दोनों ही द्रष्टव्य वस्तु हैं !

कवि बड़ी खिड़की के पास आराम-कुर्सी पर लेटे हुए बाहर की ओर निहार रहे थे; मैं निःशब्द कमरे में घुसी और उनके पैरों के पास फूलों का एक गुच्छा रखा। उन्होंने हाथ बढ़ाया—'हाथ में दो।'

मेरी ओर तीक्ष्ण दृष्टि से निहार रहे हैं। मन्द-मन्द हँस रहे हैं अर्थ-पूर्ण हँसी, 'क्यों, भई, साहब से क्या बातें हो रही थीं ? कितनी बातें कर रही थी ? बातों की फुलझड़ी ! मैंने साहब से कहा है, लड़कियों की बातों को थोड़ा-सा बाद देकर विश्वास करना। ये जितना चलती हैं उतना ही बोलती हैं।'

'मगर आप कैसे देख पाये ?'

'क्यों तुम नहीं चाहती थी कि मैं देखूं ? तो फिर और जरा सावधान होना चाहिए था।'

मैंने लक्ष्य किया, खिड़की से नीचे के बगीचे का अहाता पूरा-का-पूरा दीख पड़ रहा है।

'आह, मुझे गुस्सा आ रहा है।'

'सो तो आ ही रहा है, पर गुस्सा क्यों ?'

उन्होंने मेरी साड़ी का आंचल पकड़ा और कहा, 'यह क्या नीलाम्बरी है?' उसके बाद गाया, 'पिनह चारु नील वास, हृदये प्रणय कुसुम राश...।' मेरे कान गरम हो रहे हैं, कलेजा धक्-धक् कर रहा है, परिहास तो अच्छा लग रहा है, परन्तु सहन नहीं कर पा रही हूं, सिर आगे की ओर झुक गया है, उन्होंने मेरी चोटी पकड़कर खींची और मेरा मुंह ऊपर उठा

दिया। मैं आँखें बन्द किये हुए हूँ। उनकी आँखों की ओर ताकने का साहस मुझमें नहीं है—मेरी आँखों से आँसू बह रहे हैं। इस बार उन्होंने मेरी चोटी छोड़ दी, 'अरे देखो ! रो क्यों रही है भला ?'

मैं उन सारी बातों को भूल गयी जो कहने की सोचकर आयी थी। मुझे कुछ याद नहीं आ रहा है; मैंने उनके घुटने पर मुँह रखा। उन्होंने मेरे माथे पर अपना अभय हस्त रखा और धीरे-धीरे कहने लगे, 'अमृता, तुम्हारी उम्र कम है। मन को इतना मथा मत करो, यह स्वास्थ्यकर नहीं है। मन को काक-चक्षु की भाँति स्वच्छ और सरोवर की तरह स्थिर रखो; उसके नीचे बड़ी गहराई है, लेकिन अभी उसे चंचल करके तरंगित करने की जरूरत नहीं—शान्त बनी रहो। इस मन पर बाहर की तरह-तरह की छायाएँ पड़ेंगी, उन्हें सहज भाव से ग्रहण करो। वह जो मैंने लिखा है—'सत्य को ग्रहण करो सहज ढंग से...।' तुम्हारे अपने भीतर जो माधुरी लता है दूर तक चली जायेंगी उसकी जड़ें, और उसके ऊपर फूल खिलेंगे। प्रतीक्षा करो। अभी उठकर बैठो, आओ, जरा बातें करें।...तुम्हारा छितवन का पेड़ कैसा है ?'

'हम लोग तो अब उस घर में नहीं रहते हैं।'

हमारे पहले वाले मकान में एक छोटा-सा छितवन का पेड़ था। मैंने उस पेड़ पर एक कविता लिखी थी, वह कविता रवीन्द्रनाथ को अच्छी लगी थी। मिर्चा तो उस कविता को सुनकर अवाक् हो गया था, कहा था—'पैन्थीइस्म है'। पर 'पैन्थीज्म' आखिर क्या चीज है, तब नहीं जानती थी। 'पेड़ के साथ एक लड़की के प्रेम की कविता को'—इस पंक्ति ने उसे चिन्ता में डाल दिया था, आखिर इसका अर्थ क्या है ? यह कोई 'इज्म' नहीं, केवल कवित्व है, यह उसकी समझ में नहीं आता है।

उस दिन गेस्ट हाउस लौटकर आयी तो देरी करने की वजह से पिताजी से बड़ी डाँट खायी—लेकिन देर होने से कोई हानि नहीं हुई थी—ट्रेन भी नहीं छूट जायगी और किसी पर कोई विपत्ति भी नहीं आ पड़ेगी।

फिर भी वह हठात् आग-वबूला हो गये। पिताजी जब गुस्से में आ जाते हैं तो उन्हें कोई होश-हवास नहीं रहता है। मुझे इतना डांटने लगे कि मैं तो हक्की-वक्की हो गयी, और कुछ अपमानित भी। मिर्चा भी करुण भाव से मेरी अवस्था देखने लगा। सवेरे का वह सुन्दर स्वर टूट गया। स्वर काटने और ताल तोड़ने में तो पिताजी बेजोड़ हैं—इन्द्र-सभा होती तो उन्हें निर्वासित करके मर्त्यलोक भेज दिया जाता। किन्तु यह तो इन्द्र-सभा नहीं है—उन्हीं की अपनी गृहस्थी है! यहां सभी को माथा नीचे किये सह लेना पड़ता है।

उस दिन ट्रेन में पिताजी शान्ति-निकेतन की अविराम निन्दा करने लगे, 'यह प्रतिष्ठान टिकेगा नहीं, टिक नहीं सकता, कवि जिस दिन आँखें मूँदेंगे उसके दूसरे दिन ही यह प्रतिष्ठान उठ जायेगा।' मिर्चा चुपचाप सुन रहा है, वीच-वीच में हामी भी भर रहा है। पिताजी और भी वोले जा रहे हैं—अब संस्था को छोड़कर काव्य को लेकर पिल पड़े हैं, 'प्रार्थना' कविता की यह पंक्ति—'देश-देश में, दिशा-दिशा में, कर्म-धारा वहती है वेग से, असंख्य सहस्रविध चरितार्थता में'—यह 'चरितार्थता' शब्द शायद काव्यात्मक नहीं है। उसका प्रयोग एकदम अच्छा नहीं हुआ है। हो सकता है। मगर मैं अभी काव्यालोचन सुनना नहीं चाहती। मैं रेलीगाड़ी की खिड़की से माथा टिकाये, उनकी ओर पीठ किये वैठी, दिवास्वप्न में विभोर हूँ। रेलगाड़ी के पहिये छक-छक-छक करते हुए चलते जा रहे हैं। गाड़ी के पहिये वातें करते हैं, गाना गाते हैं। मेरे दिमाग़ में एक गाना मुखरित हो रहा है—'न जाने दूर का कौन आया मेरे पास... तिमिर की आड़ में ऽऽ...ऽ नीरव खड़ा है'। तव रवीन्द्रनाथ के गीत इतने नहीं सुनायी पड़ते थे, गाते ही कितने लोग थे? हठात् कभी उनका गीत सुनती तो कलेजे के भीतर एक टीस-सी उठती—यह गाना तो मात्र एक सप्ताह हुआ, सुना है कालिदास वावू से। कालिदास वावू वहुत मधुर गाते हैं। रामानन्द चट्टोपाध्यायजी के घर गयी थी; वे उस जमाने के ठाकुर-घराने की वातें सुनाते हैं—मैं प्रायः ही तीसर पहर वहाँ जाया करती हूँ। पर उस दिन वे घर पर नहीं थे। प्रतीक्षा करते-करते सन्ध्या हो गयी, इसीलिए कालिदास वावू मुझे पहुँचा गये। रमेश मित्र पार्क को पार करते-

करते उन्होंने गुनगुनाकर गाया था—'उर पर लटकती विरह-व्यथा की माल, गुप्त मिलन की अमृत-गंध उंड़ेलती'—मेरे कानों में वह सुर गूँज रहा है, मैं गुनगुनाती हुई उसे गाने की कोशिश कर रही हूँ। तिमिर की आड़ में...रेल के पहिये बता रहे हैं—नीरव खड़ा है। पिताजी उठकर गुसलखाने गये—मिर्चा आकर मेरे पीछे खड़ा हुआ : 'अमृता...।'

'कहो।'

'इधर देखो'—मैंने घूमकर उसकी ओर देखा—वह स्थिर अपलक सम्मोहित दृष्टि से मेरी ओर निहारता रहा। मैं देख रही हूँ उसे, अभी भी ठीक वैसे ही देख रही हूँ—ऊपर के बर्थ की जंजीर पकड़े तनिक झुककर मेरी ओर ताक रहा है। थोड़ी देर बाद हम दोनों ही हँस पड़े।

'क्या सोच रही थी इतनी देर?'

'एक गाना याद करने की कोशिश कर रही थी।'

पिताजी बाहर आये—'क्या बात कर रहे हो तुम लोग?'

'पिताजी, यूक्लिड के लिए इस गाने का अनुवाद कर दीजिए न—मेरा दिन बीत गया व्याकुल, बादलों भरी साँझ में।'

'तुम स्वयं करो, तुम्ही क्यों नहीं कर सकोगी!'—कुछ देर बाद पिताजी ने समझा कि यह मेरे लिए असाध्य है तो स्वयं बोलने लगे, 'वक्ष पर लटकती है उसके विरह-व्यथा की माल...गुप्त मिलन की अमृत-सुगन्धि उंड़ेलती हुई'—वर्षा के वर्णन में विरह की बात को आना ही पड़ेगा—वर्षा विरही के मन को सन्तप्त करती है, पर्युत्सुकी करती है। पिताजी मेघदूत की बात कहने लगे—'इधर कहा जा रहा है, 'विरह व्यथा की माला' और दूसरी ओर 'गुप्त मिलन' की बात है। मिलन व विरह इन दो विपरीत भावों से एक सम्पूर्णता समझायी जा रही है।' रवीन्द्र-काव्य में विपरीत भावों के प्रयोग के सम्बन्ध मे पिताजी बहुत अच्छी तरह समझाने लगे।

किन्तु आज के दिन यह दूसरी बेताला हुआ। आखिर इतनी बातों की जरूरत क्या है—आज जिस क्षण मिर्चा ने मेरी आँखों की ओर निहारा है उसी क्षण मैं समझ सकी हूँ कि विरह व मिलन एक साथ कैसे रहते हैं,

ग्रौर उसकी व्याकुलता भी भला क्या है ? मैं उसके गोरे-गोरे गले पर उस ग्रदृश्य माला की सुगन्धि पा रही हूँ...'गुप्त मिलन की ग्रमृत-सुगन्धि उँड़ेलती हुई...।'

हमारे घर मिर्चा के ग्राने के कितने दिनों बाद की यह घटना है, ठीक मुझे याद नहीं, पर उसने पहली बार एक बार कांड किया। खाने की मेज़ के एक सिरे पर पिताजी बैठे हुए हैं, दूसरे सिरे पर माँ हैं, बीच में मुंह-दर-मुंह वह ग्रौर मैं। उसने धीरे-धीरे ग्रपना पैर बढ़ाया ग्रौर मेरे पैर पर रखा। मैंने पैर हटा लिया, मैंने सोचना चाहा कि संयोग से लग गया है—यद्यपि मेरा शरीर ग्रौर मन चौंक उठे किन्तु विचित्र ग्राश्चर्य है, उसी क्षण उसकी ग्रोर देखकर मुझे सहसा लगा—मिर्चा चला गया तो मैं जीऊँगी कैसे ? खाने की मेज़ से सभी उठकर गये तो मैंने उससे पूछा—'तुम्हारा पैर क्या ग्रचानक लग गया था ? पर मुझे तो ऐसा नहीं लगता !'

'नहीं, ऐसी बात नहीं। ग्रचानक नहीं लगा था।'

"कैसे उद्धत हो ! कैसा साहस है ! ग्रगर पिताजी के पैर से लगता तो फिर क्या होता ?'

'क्या होता, कुछ भी नहीं होता। मैं तुरन्त प्रणाम कर लेता।'

'मगर तुम समझते कैसे ?'

'हाः, हाः, हाः, तुम्हारे पिताजी के ग्रौर तुम्हारे पैरों के भेद को समझ नहीं सकूंगा,' यह कहकर उसने ग्रपने दोनों पैरों को बढ़ा दिया ग्रौर फिर मेरे पैरों पर रख दिया।

तेंतालीस वर्ष पहले की घटना है ! विचित्र ग्राश्चर्य है ! कैसा विस्मय है ! मैं उसी मेज़ पर बैठी हुई हूँ—मैं उसे देख पा रही हूँ। उसने एक कुर्ता पहन रखा है, उसकी छाती खुली हुई है, उसके गोरे-गोरे गले को मैं देख रही हूँ—उसके दोनों हाथ मेज़ पर हैं, मेरा हाथ पकड़ने का उसे साहस नहीं है। मैं दोनों पैरों को हटा लेने की कोशिश कर रही हूँ, पर हटा नहीं पा रही हूँ, नहीं हटा पा रही हूँ, यह कैसा ग्रन्याय है ! तो क्या यह

स्वाधीनता-संग्राम की तरह-तरह की हुंकार सुनाई पड़ रही है, हिंस्र और अहिंसक दोनों ही। प्रेसिडेंसी कॉलेज में तो हलचल चल ही रहा है। एक दिन तो लड़कों ने प्रिंसिपल स्टेपलटन का रास्ता रोका था। आजकल की तरह, ऐसी घटना तब हमेशा नहीं घटती थी। यद्यपि पिताजी से स्टेपलटन की बड़ी ही शत्रुता थी, फिर भी उस दिन उन्हें उन्होंने ही बचाया था। कॉलेज के अहाते में पुलिस की गोली से एक लड़के के आहत होने पर क्रुद्ध छात्रों के दल ने कॉलेज को घेर लिया। तब पुलिस जा चुकी थी; छात्रों की माँग थी कि उस आहत लड़के के रक्त के साथ स्टेपलटन का रक्त मिलाना होगा। तब पिताजी ने मध्यस्थता की कि वे स्टेपलटन को निरापद बाहर निकाल लायेंगे यदि वे उस आहत छात्र से क्षमा माँगें। उस समय बस इतने से ही चल जाता था। स्टेपलटन राज़ी हो गये, उसके बाद गाड़ी में चढ़ते ही दूसरा रूप धारण किया, कहा कि 'मैं बाद में क्षमा माँगूँगा।' तब पिताजी ने कहा, 'तो ठीक है, मैं गाड़ी से इसी दम उतरे जा रहा हूँ, आप छात्रों से निपट लीजिये।' पर स्टेपलटन पिताजी को हरगिज छोड़ नहीं रहे हैं और पिताजी हैं कि बिना उतरे रहेंगे नहीं। तब स्टेपलटन पिताजी का कोट पकड़कर लटक गये। आखिर में वे क्षमा माँगने को बाध्य हुए थे। इस

कोट पकड़कर लटकने की हास्यास्पद बात को पिताजी ने उस दिन खाने की मेज पर सविस्तार कहकर हम लोगों को खूब हँसाया था। मिर्चा ने तभी तय किया कि दूसरे दिन वह 'रिवोल्यूशन' देखने जायेगा।

बिना कहे-सुने वह सवेरे निकला, सारा दिन बीत गया, वह अभी तक नहीं लौटा है, सभी उद्विग्न हैं। माँ को तो चैन नहीं, उनका क़दम भी एक जगह टिक नहीं पा रहा है, दूसरे का लड़का है, कहीं किसी मुसीबत में तो नहीं पड़ गया? काका जब पुलिस को खबर देने के लिए जाने वाले थे तभी वह सशरीर आ हाजिर हुआ—धूलि-धूसरित और नितान्त हताश; दिन-भर भटकते रहने के कारण सिर के बाल रूखे-सूखे हो गये हैं। जहाँ-जहाँ पिकेटिंग हो रही हैं, उन सारी जगहों में वह घूमा है, रास्ते में इधर-उधर वह घूमा है विपत्ति की खोज में, किन्तु कोई विपत्ति नहीं आयी। ऊपर की खिड़की से किसी ने एक दही का कुल्हड़ फेंका था, वह भी उसके शरीर पर नहीं गिरा, गिरा भी तो दूर सामने। ऐसा कुछ नहीं हुआ जिससे वह देश वापस जाकर अपनी देह का कोई चिह्न दिखा सके। उसे डर है, देश में सभी कहेंगे, भारत में जब रिवोल्यूशन हो रहा था तब तुम किस बिल में छिपे हुए थे? वह भारत आया था—यह अपने देश के लोगों को कैसे विश्वास करायेगा, उसे यही एक चिन्ता है। कारण, उसके देश से भारत आने वाला वही पहला आदमी है। इधर चमड़ी भी धूप में काफ़ी नहीं जली है। इसीलिए एक दिन सवेरे उठकर उसने एक चटाई ली और छत पर चला गया और वहाँ मुँह पर एक तौलिया ढककर दोपहर तक लेटा रहा। उसके बाद तीसरे पहर उसके सारे बदन में फफोले पड़ गये। हम छोटे बच्चे तो खूब हँस रहे हैं, हम लोगों को कोई खास सहानुभूति हो, ऐसी बात नहीं। पर माँ बहुत उद्विग्न हैं, इस लड़के पर तो पागलपन सवार है। यूरोप के एक शरारती लड़के को संभालना कठिन है, विशेषकर जब वे उसकी भाषा भी उतनी नहीं जानतीं। चाँदसी का मरहम मँगाया गया। माँ ने काका को लगाने का ढंग बता दिया और काका लगाते-लगाते माँ की भर्त्सनाओं का अँग्रेजी में अनुवाद करने लगे!

पिताजी ने बाद में उसे समझाया, 'देखो मिर्चा, तुम तो भारत आये हो। यह तो तुम्हारी बातें सुनकर ही सभी समझ सकेंगे, तुममें भी परि-

वर्तन आयेगा। यही तो असली चीज़ है। बदन के रंग को तो अन्यत्र भी धूप में लेटे रहकर भूरा-काला किया जा सकता है—किन्तु असली परिवर्तन लायेगा भारतीय दर्शन; तुमने जो पढ़ा है उसी से तुम्हारा रूपान्तर होगा।

'अब रही बात रिवोल्यूशन की! तुम देखना चाहते हो कि रिवोल्यूशन कैसा होता है; सो रिवोल्यूशन देखने के लिए दौड़-धूप करने में कोई फ़ायदा नहीं। भारत में अभी सब जगह रिवोल्यूशन हो रहा है। पिकेटिंग और गांधी-गेम ही क्या एकमात्र देखने लायक चीज़ हैं? यह जो तुम हमारे घर में हो, यह भी तो एक रिवोल्यूशन है—मेरे पिताजी के घर में क्या तुम रह सकते थे? तब तो मेरी पत्नी तुम्हारे सामने घूंघट काढ़कर निकलती, और यह अमृता, जो लड़कों के कॉलिज में आकर कविता पढ़ा करती है, यह कभी सम्भव था? तुम्हारे बर्तन अलग होते, तुम्हारे छू देने पर भात फेंक दिया जाता—बहुत सारी बातें हैं, उस हालत के साथ तुलना करने पर आज यह घर ही अपने-आपमें एक रिवोल्यूशन है!'

•

साहित्य परिषद् का एक विशाल साहित्य-सम्मेलन होगा—अभी जहाँ गोखले मेमोरियल स्कूल है वहीं। तभी पहली बार मैं स्वरचित निबंध पढ़ूंगी। विषय है—'सौन्दर्य की स्थिति कहाँ है?' सौन्दर्य क्या बाहर है? या मनुष्य के मन में? इस बात को लेकर इतनी पैंतरेबाज़ी की ज़रूरत क्या है? सौन्दर्य तो बाहरी चीज़ हो ही नहीं सकता है, मनुष्य ही तो अपनी आँखों में सौन्दर्य देखता है अर्थात् मन में है नीलांजन माया! इस निबंध के लिए मैं बाक़ायदा परिश्रम कर रही हूँ—जो कुछ लिख रही हूँ पिताजी को वह पसन्द नहीं आ रहा है—ख़ैर, लिखने में अन्त तक सफल हो गयी हूँ। अब एक परीक्षा सामने है। इस सम्मेलन का सभापतित्व रवीन्द्रनाथ के करने की बात थी, किन्तु वे आ नहीं पायेंगे, क्योंकि वे हैदराबाद जाकर अस्वस्थ हो गये हैं; बस, अब इसे ही लेकर उन अरसिकों के बीच अर्थात् साहित्य-सम्मेलन में बहुत कीचड़ उछाला जायेगा। रवीन्द्रनाथ को दो बातें सुनाने में कोई बाज़ नहीं आता इस देश में। मैं अवाक् होकर देखा करती हूँ कि उनसे ज़रा बात करने

के लिए, उनके पास एक बार जाने को सभी उत्सुक हैं और सामने जाने पर विगलित हो जाते हैं, परन्तु परोक्ष में निन्दा करने में वही सहस्र-मुखी हैं। उनके सम्बन्ध में पिताजी का भी बहुत कुछ ऐसा ही भाव है। पिताजी ने इतना पढ़ा है रवीन्द्र-काव्य को, इतनी आलोचना की है रवीन्द्रनाथ के सम्बन्ध में, फिर उनके आकर्षण का भी अन्त नहीं है, हालांकि निरवरत समालोचना चलती रहती है—विशेषकर मुझे छेद-छेदकर सुनाया जाता है, जैसे मैं उनके 'स्खलन, पतन, त्रुटि' के लिए जिम्मेदार हूँ !

सम्मेलन-स्थल पर हुआ भी वही। तरह-तरह के अप्रिय मन्तव्य प्रकट किये गये। मेरा मन विपण्ण था—यद्यपि उस दिन मैं बहुत ही पुरस्कृत हुई थी—इतनी बड़ी सभा में इसके पहले मैंने कभी कोई निबंध नहीं पढ़ा था। कविता अवश्य पढ़ी थीं बहुत-सी—सीनेट हॉल में भी पढ़ी थीं। उस दिन मैं ही सबसे छोटी साहित्यिक थी—सबसे बड़ी थीं मानकुमारी वसु, मधुसूदन की भतीजी। विधवा की तरह बिना किनारे की सफ़ेद साड़ी पहने, नंगे पैरों उन्होंने सम्मेलन के मंच पर कविता पढ़ी। इन दो युगों में कितना परिवर्तन हुआ है ! मैं सोच रही थी, मिर्चा इस रिवोल्यूशन को देखता तो समझता...।

लौटकर घर आयी तो देखती हूँ, वह चुपचाप बैठा हुआ है...। यहाँ यह अकेला है, बंधु-बांधव नहीं है मेरे सिवा। इसीलिए उससे कहा, 'चलो, बरामदे में बैठकर बातें की जायेंगी।'

तरह-तरह की बातों के बीच मिर्चा ने सहसा मुझसे पूछा, 'आखिर तुम इतनी विपण्ण क्यों हो ?'

सभा में जो हुआ था मैंने उसे बताया—चूंकि वे अपनी बात नहीं रख सके इसलिए सभा में किस प्रकार उनकी निन्दा की गयी। इस बार उसकी विपण्ण होने की बारी आयी। दो-एक बातों के बाद बोला, 'इस सत्तर वर्ष के बूढ़े आदमी से तुम्हारे जैसी छोटी-सी लड़की कैसे इतना प्यार करती है ?'

गुस्से के मारे मेरे कान गरम हो रहे है : 'क्यों ? ज़्यादा उम्र होने पर आदमी प्यार पाने के अयोग्य हो जाता है क्या ?'

वह तनिक उत्तेजित हुआ, 'देखो, अमृता—या तो तुम अपने-आपको पहचानती नहीं हो या तुम अपने-आपको ठगती हो, कारण—सत्य को देखने का तुममें साहस नहीं है, अथवा जानकर भी झूठी बात कह रही हो।'

'मिर्चा, मुझे जोर का सिर दर्द हो रहा है, तुम जरा चुप रहो।'

पिताजी ने कहा है, 'रू, तुम मिर्चा से जरा फ्रेंच सीखा करो, फ्रेंच सीखे बिना एकॉम्प्लिशमेंट पूरा नहीं होता।' पिताजी मेरी शिक्षा को हर तरह से पूर्ण करने के लिए जी-जान से लगे हुए हैं। विविध कलाकार घर में आते हैं गाना सिखाने, रमेन चक्रवर्ती आते हैं चित्र आँकना सिखाने, एक गोआनीज मास्टर आते हैं वायलिन बजाना सिखाने! इतनी विद्या को संभालना ही मेरे लिए मुश्किल हो गया है! इधर मुझे कुछ अच्छा नहीं लगता। यह सब करने में, मुझमें कोई अध्यवसाय नहीं है—कविता की किताब हाथ में लिये खिड़की के पास बैठी रहती हूँ—और मन तिरता चला जाता है कहीं सुदूर—खैर, मिर्चा मुझसे बंगला सीखेगा और मैं उससे फ्रेंच। बड़ा भला इरादा लेकर हम लोग पढ़ने बैठते हैं, पर पढ़ाई तो आगे बढ़ती ही नहीं है। क्यों आगे नहीं बढ़ती, पता नहीं! उसी के कमरे में हम लोग पढ़ने बैठते हैं, बीच में एक बत्ती जलती रहती है—ए स्टैंडिंग लैम्प—कितने दिन तो बहुत रात हो जाती है—'बलाका' की कविता पढ़ती हूँ मैं, वह सुनना पसन्द करता है, किन्तु अन्य भाषा में उस कविता को समझाना क्या मेरे बूते की बात है—एक कविता वह समझ पाया, वह उसे बहुत अच्छी लगी है—

> पंछी को दिया है गान, पंछी गाता है गान
> उससे अधिक करता नहीं है वह दान।
> मुझे दिया स्वर, मैं तो उससे भी अधिक करता हूँ दान
> मैं तो गाता हूँ गान...।

मनुष्य ने जो कुछ पाया है सिर्फ उसी से सन्तुष्ट नहीं है—वह जो सृष्टिकर्ता है? दुःख को आनन्द में बदलने का भार उसके हाथ में है।

दुःख रख दिया मेरे तप्त भाल पर
धो-धोकर उसे आँसुओं से
प्रमुदित हो उसे लौटा देता हूँ
दिन बीतने पर मिलन की रात में।

कविता तो मैं पढ़ती हूँ, पर इसका तात्पर्य समझने की उम्र मेरी नहीं है। लेकिन आनन्द और दुःख जो घुल-मिल जाता है, इतना-भर मेरी समझ में आ रहा है।

हरेक दिन बहुत रात तक हम लोग पढ़ते रहते हैं, नौ-दस बजे तक, पर कोई कुछ नहीं कहता है—पिताजी और माँ कुछ नहीं कहते हैं, किन्तु स्वयं मुझे एक प्रकार का संकोच और परेशानी-सी होती है, कोई यदि कुछ सोचे तो! मैंने देखा है नौकर-चाकर की आँखों में कुतूहल, और अपनी ग्यारह साल छोटी बहन की आँखों में एक प्रकार का सन्देह व कड़वाहट भी। बड़ी प्यारी लड़की है सावी, लेकिन उसे हर समय दुःख और शिकायत है कि उसे कोई प्यार नहीं करता—दीदी को ही सभी प्यार करते हैं। अब मिर्चा यूक्लिड भी उधर ही जा रहा है, यह वह समझ पाती है, इसीलिए सावी कहती है, वह भी उसे बंगला पढ़ायेगी! अच्छा ही है। उससे पढ़ने से फिर भी वह कुछ सीख सकता है—हम लोगों की पढ़ाई-लिखाई तो विशेष बढ़ नहीं रही है। तो भी हम लोग मास्टर सा'ब से संस्कृत पढ़ते हैं। मिर्चा धातु-रूप खूब कंठस्थ कर रहा है; वह मुझे हरा देगा। उसकी तरह का अध्यवसाय मुझमें नहीं है।

हमारे घर में बहुत-से लोग एक साथ रहते हैं। ये हमारे रिश्तेदार नहीं हैं, मगर हम लोग इस भेद-भाव को नहीं मानते। हमारे लिए सभी अपने हैं। यह बात उसकी समझ में अच्छी तरह नहीं आती। उन लोगों के देश में 'कज़न' और 'भाई'—दो भिन्न शब्द हैं। जिसके साथ हमारा कोई सम्पर्क भी नहीं है, वह भी हमारे भाई-जैसा ही अपना हो सकता है, यह उसकी समझ में नहीं आता है। हम लोग तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त को मानने वाले हैं। तभी तो उसे, उसके पूरे तौर पर विदेशी होने पर भी, घर में सभी ने उसे इतना अपना बना लिया है।

काका मुझसे बहुत स्नेह करते हैं। हम लोग जब मास्टर सा'ब से पढ़ते हैं तब काका गप करना शुरू कर देते हैं। हमारे मास्टर सा'ब गौरमोहन घोष को काका खूब चिढ़ाया करते हैं। एक दिन सवेरे मास्टर सा'ब कपाल पर चन्दन का टीका लगाकर आये। गंगा-स्नान करने के बाद चन्दन का टीका लग जाने से वे बड़े पवित्र-पावन दीख रहे हैं। काका आये और झट से घुटने के बल बैठ गये, फिर हाथ जोड़कर कहने लगे, 'मास्टर सा'ब, मैं बड़ा पातकी हूँ, जरा चरण-धूलि लेने दीजिये न।' मास्टर सा'ब घबराकर पैर पीछे हटा लेते हैं—'उफ़, श्री बाबू यह क्या बचपना कर रहे हैं!'

'मास्टर सा'ब, पापी-तापी का त्राण नहीं करेंगे?' क्या करुण गिड़-गिड़ाहट! और हम दोनों छात्र-छात्राएँ हँस-हँसकर लहालोट हुए जा रहे हैं।

ऊपर जाते ही मेरी मंझली मौसी ने मेरी ओर भौंहें चढ़ाकर देखा। वे कल ही आयी हैं। कल से ही उनकी संदेह-पूर्ण दृष्टि देख रही हूँ। विरक्ति होती है। मौसी बोली, 'उस साहब छोकरे के साथ इतनी खीसें क्या काढ़ रही थी?'

मैं भी झिझकने वाली नहीं थी। 'यह साहब छोकरा भला कौन-सा नाम है? उसका नाम नहीं है क्या?'

'एँ, नाम है! जरा ज्यादा घमंडी हो गयी हो। नरेन बाबू तुम्हें सिर चढ़ाकर बिगाड़े दे रहे है।'

भाड़ में जाय, मैं वहाँ और ज्यादा देर रुकना नहीं चाहती। उनसे बहस करके कोई भद्दी हरकत भी करना नहीं चाहती। इसलिए भागना ही अच्छा है।

मिर्चा के कमरे के सामने की तंग गली में होकर निकलने पर जो बरामदा मिलता है, वहीं एक 'चिट्ठी का बक्सा' है। डाकिया उसी में चिट्ठियाँ डाल जाता है। बक्से में ताला लगा रहता है, और उसकी चाभी मेरे पास रहती है। मैं दिन में दो-तीन बार उस बक्से को खोलकर चिट्ठियाँ निकाल

लिया करती हूँ। यद्यपि डाक आने का तो एक विशेष समय है, फिर बार-बार बक्सा खोलने की ज़रूरत क्या है, किन्तु मैं रह नहीं सकती, दिन में बहुत बार लगता है, जाऊँ देख आऊँ—चिट्ठी है कि नहीं। विशेषतया दोपहर के समय घर जब शान्त, अर्द्ध स्तिमित रहता है—निद्रित नहीं—हमारे घर में दोपहर में कोई सोता नहीं है, सभी पढ़ते हैं, तभी चिट्ठी की खोज में जाने को जी चाहता है। मैं तो जानती हूँ कि मैं क्यों चिट्ठी देखने जाती हूँ, मेरी बुद्धि काम करती है। अपने-आप को और कितना धोखा दूंगी ? यद्यपि मिर्चा ने कहा है कि या तो मैं बेवक़ूफ़ हूँ या झूठी, पर मैं तो जानती हूँ कि मैं इन दोनों में से कुछ भी नहीं हूँ। आज दोपहर के समय से बराबर लग रहा है : चिट्ठी आयी है कि नहीं देख आऊँ—बंकिमचन्द्र की कहानी की सुमति और कुमति का झगड़ा चल रहा है मन में। सुमति कह रही है : 'हरगिज नहीं, तुम चिट्ठी देखने नहीं, मिर्चा को देखने जाना चाहती हो; सच्ची बात क्यों नहीं बोलती हो ?' और कुमति, झूठी कुमति कह रही है : 'धत्, ऐसी बात नहीं, एक चिट्ठी किसी की भी आ सकती है।'

मैं उठकर गयी और दरवाजे को बन्द कर दिया, कुंडी लगाकर। फिर खाट पर बैठी—अपने-आप को अपने से ही बचाना होगा। 'महुआ' खोलकर बैठी हूँ :

> दूर मन्दिर तीर्थ तीरे जा रहे हो तुम
> तरु हूँ मैं,
> मेरी छाया से उसकी मृत्तिका को रहे हैं चूम
> हे तीर्थ-यात्री ! तुम्हारी साधना का
> कुछ अंश रहा हो मेरा
> तुम्हारी यात्रा के पथ के किनारे
> रहूँगा साक्षी रूप...
> तुम्हारी पूजा में मेरा कुछ हो
> फूलों की गंध धूप में।

यह मेरी बात नहीं है, यह तो मेरी माँ की बात है। माँ इसी तरह छाया किये हुए हैं पिताजी के जीवन पर, सन्ताप-हरण बनकर, पर अपने लिए तो कुछ नहीं चाहती हैं, लेकिन कितने प्यार, कितने त्याग, कितनी अपार सेवा में उन्हें घेर रखा है! पिताजी की तीर्थ-यात्रा में माँ का दान निश्चय ही बहुत अधिक है। माँ का जीवन परमार्थी है, और निष्काम दान में पूर्ण है। किन्तु मैं यह नहीं चाहती। ऐसा जीवन मेरे मुझे काम्य नहीं। 'मनसा' कविता ने मेरी बात कही है। स्वयं अपने भाग्य को जीतूँगी। हिश, क्या शक्ति है? तनिक भी बल नहीं है, शक्ति नहीं है, बुद्धि नहीं है; मैं तो पराजित हूँ। हठात् मुझे रुलाई आ रही है—खाट पर गिरकर मैं रो रही हूँ: 'बल दो, मुझे बल दो, प्राणों में दो मेरे शक्ति...तुम्हारा काम सिर पर ले ढोने के लिए, संसार का ताप हरने के लिए...।' तो संसार का ताप क्या है? ये जो आग की लपटें मेरे शरीर और मन को चाट रही हैं, क्या यही? तो फिर क्यों उत्ताप—मैं तो चाहती हूँ यह जलन—'आग का पारस पत्थर छुआओ प्राणों को...।'

सहसा कब नीचे उतर आयी हूँ, पता नहीं। देखती हूँ, पर्दा उठाये मिर्चा दरवाजे के पास खड़ा है, 'चिट्ठी मिली?'

'नहीं, नहीं आयी, बड़ी निराश हो गयी हूँ।'

'किसकी चिट्ठी की प्रतीक्षा करती हो?'

'किसी अजाने व्यक्ति की।'

'कौन है वह?'

'पता नहीं, उसे पहचानती नहीं, इसीलिए तो प्रतीक्षा इतनी मधुर है।'

मैं तो 'डाक-घर' के बारे में कह रही हूँ, और वह है कि समझ ही नहीं पा रहा है, उल्टे भौंहें चढ़ा रहा है। क्या होगा! एक साथ अगर सारा जीवन रहना पड़े तो? आधी बात अनकही रहेगी और लगातार कोश देखना होगा। यह भला कैसी बात दिमाग में कौंधी? एक साथ सारा जीवन रहेंगे कैसे? यह तो कुछ दिन बाद ही चला

जायेगा। मेरा भी ब्याह हो जायेगा। पर कहाँ ब्याह होगा, कौन जाने ? एक व्यक्ति को भी तो याद नहीं कर पा रही हूँ, जिसके साथ सारा जीवन रहना सम्भव हो !

'तो भीतर नहीं आओगी, अमृता ? तुम्हारे लिए नूट हैमज़ून की 'हंगर' किताब लाया हूं।'

पहली बार यह उपहार उसने मुझे दिया है। मैंने उसके हाथ से वह किताब ले ली। उस किताब में मेरा नाम लिखा है उसने, और फ्रेंच में एक शब्द लिखा है—'आमितिये'।

मैं खड़ी हूँ। बैठने का मुझे साहस नहीं हो रहा है। मगर क्यों, कौन जाने ? वह भी खड़ा है—मेरे बैठे बिना तो वह बैठेगा नहीं। मैं उसकी ओर पीठ किये पियानो का ढक्कन खोलकर खड़ी हूँ। तो क्या मैं किसी घटना की प्रतीक्षा कर रही हूँ, कोई-न-कोई असम्भव होनी घटेगी क्या ? तो क्या मैं यही चाहती हूँ ? वह तो मेरे बहुत नज़दीक खड़ा है, किन्तु मुझे छुआ नहीं। मेरी पीठ पर वह हाथ रख सकता है लेकिन रखा ।। बीच में ज़रा-सा आकाश है, हम लोग खड़े-के-खड़े ही हैं—अपने अंग-प्रत्यंग में उसे अनुभव कर रही हूँ; मर्म तक उसके अस्तित्व का स्पर्श लग रहा है, यह कैसी बात है ! आकाश तो शून्य नहीं है, ईथर से पूर्ण है, पर ईथर क्या चीज़ है मैं जानती तो नहीं, फिर भी वही निश्चय अपने अदृश्य हाथों से यह मिलन करा रहा है—मेरे चारों ओर उसके निःश्वास की सुगन्ध से सुगन्धित वायुमण्डल है :

सायन्तनी क्लान्त फूलों की गंध पवन के पार,
अंग-विहीन आलिंगन में भर जाता अंग-अंग।

ऊपर से किसी ने पुकारा, 'रू, रू, रू,—!'

'आ रही हूँ...।'

मिर्चा तेईस साल का है और मैं सोलह की, किन्तु उम्र की तुलना में हम दोनों ही कुछ ज़्यादा तत्वज्ञानी हैं : पिताजी मुझसे कहा करते हैं—

'ज्येष्ठ तात' ! सो मुझे 'ज्येष्ठ तात' कौन बना रहा है ? आखिर पिताजी ही तो। और उन्हें भी तो वही बना रहे हैं, हर समय अष्टांग-योग की चर्चा हो रही है।

और तन्त्र के सम्बन्ध में तो इस घर में सभी पंडित हैं। काका जब उनसे तन्त्र को लेकर चर्चा छेड़ते, गम्भीर मुँह किये 'हे वज्र' के रहस्य के विषय में, तो मुझे गुस्सा आ जाता है। मैं तो जानती हूँ, हमारी उम्र के लड़के-लड़कियाँ इससे बहुत अधिक हलके सुर में बातें किया करते हैं। मुझे भी पंडित होने का बहुत शौक था, मगर अब कम होता जा रहा है। विशेषकर मिर्चा की तत्त्व में रुचि इतनी बढ़ गयी है इसीलिए, भेंट होते ही वह मुझे विश्व-साहित्य पढ़ाना शुरू कर देता है! कल तो उसने एक अद्भुत अलौकिक कहानी मुझे सुनायी जिसका कोई मतलब ही समझ में नहीं आया। एक आदमी को फाँसी का हुक्म हुआ था, वह जिस लड़की को प्यार करता था—वह बहुत दूर रहती थी। फाँसी के समय उसे वह लड़की याद आयी। उसके दस महीने बाद उस लड़की के एक लड़का हुआ, जो देखने में ठीक उस आदमी की शक्ल का था। इस कहानी का सिर-पैर कुछ भी समझ में नहीं आया। मैं चाहती हूँ, वह तनिक स्वाभाविक बातें किया करे, थोड़ी खुशामद करने से ही भला क्या हर्ज होगा ? जैसे और लोग करते हैं। पर यह तो क़तई होने वाला नहीं, उल्टे कल तो उसने मुझे खूब गुस्सा दिलाया था, कहा था : 'तुम्हारा क्या ख़याल है कि तुम बहुत सुन्दर हो ?'

'मेरा ख़याल क्यों होगा ? बहुतों का ऐसा ख़याल है।'

'किस-किस का ?'

'चलो न मेरे साथ रास्ते में, देखोगे दोनों ओर लोग किस प्रकार टकटकी बाँधे देखते रहते हैं!'

'ओ, सो तो होगा ही—तुम्हारे देश में जो रास्ते में लड़की दिखायी ही कहाँ पड़ती है ? पता है, यूरोप से आने पर सबसे पहले यहाँ क्या आश्चर्यजनक लगता है ? लगता है, कि इस देश में शायद लड़कियाँ ही नहीं हैं!'

'लड़कियाँ क्यों नहीं हैं ? वे फ़िटन पर घूमती हैं, पालकी पर घूमती

घराने में उसका पुनरुद्धार किया जा रहा था। गृह-सज्जा अथवा देह-सज्जा में खोज-खाजकर पुराने डिज़ाइनों की चीज़-वस्त और पुराने ढग के गहनों का चलन हो रहा था। उसे कहा जाता था 'ओरियंटल'। इस विषय में स्टेला क्रैमरिश विदग्ध थी—मैं और मोलू ठहरी मामान्य नारियाँ—लेकिन हम लोग भी पुराने राजपूती चाँदी के गहनों से डिज़ाइन लेकर गहने बनवाते थे। बहुत-से गहने बनवाते थे हम लोग। सोने का दाम ही भला क्या था, 18 रुपये तोले! उसके बाद हम लोगों ने तय किया कि चाँदी के गहने ही क्यों न पहनें हम लोग? उस समय निम्न-वित्त लड़कियों को छोड़कर चाँदी के गहने और कोई नहीं पहनता था। हमीं लोगों ने इसे शुरू किया और बाद में तो यह खूब चल पड़ा। पैरों के बिछुओं के साथ मखमल की चप्पलों को जोड़कर हम लोगों ने जूता बनाया था, वह अटपटी चीज़ बहुत सुन्दर बन पड़ी थी—ऐसी बात नहीं, लेकिन लोग देखते रहते थे। उस दिन हम लोगों ने तय किया कि उड़ीसा की लड़कियों की तरह सिंगार किया जाय। साड़ी को ऊँचा करके पहना, ढेर-सारे गहने भी पहने। मेरी माँ का एक माँग-टीका था। उस माँग-टीके के तीन भाग थे। सीमन्त के ऊपर से होकर एक भाग पीछे की ओर चला जाता था और माँग के बीच से दो हार लटककर दोनों ओर कानों तक चले जाते थे। बीच में एक लॉकेट था जो कपाल पर झूलता रहता था। विवाह के समय माँ को उस माँग-टीके को पहने देखकर पिताजी की आँखों को कुछ ऐसा लगा था कि माँग-टीके के सम्बन्ध में उनका मोह दूर नहीं हो पाया था। माँ तो अब नहीं पहनती थीं उसे, किन्तु किसी-न-किसी बहाने पिताजी उसे अगर मुझे पहना पाते तो वे बहुत खुश होते थे। उस दिन मैंने माँग-टीका पहना था, उड़िया ढग से साड़ी पहनी थी, ऊँची करके। कानों के बगल से होकर कदम्ब फूल लटका लिये थे। कदम्ब फूल के पराग को अपने मुँह पर लगाया था। हम लोग उन दिनों साबुन नहीं लगाते थे, क्योंकि विलायती चीज़ों का त्याग किया था। पहले चेहरे पर हैज़लीन लगाते थे और जॉनसन के टैलकम पाउडर का उपयोग करते थे। उसे भी अब नहीं छू रहे थे। यह तो अच्छा हुआ था कि कदम्ब फूल मिल गया था। किन्तु यह तो अधिक

हैं, और जिनके पास मोटरें हैं, वे मोटरों पर घूमती हैं। वे पैदल रास्ते में मारी-मारी फिरेंगी क्या ?'

'पर दूसरे देशों में तो घूमती हैं !'

'घूमा करें। तुम समझ नहीं पाते कि मैं काली हूँ कि गोरी ! पिताजी, मैं, सावी, मीलू, माँ सभी एक-से हैं ? झड़ू भी मेरी तरह है ?'

'मैं रंग का कोई फ़र्क़ समझ नहीं पाता।'

'अच्छा, तो मैं चली।'

'बैठो, बैठो, नाराज़ क्यों होती हो, मैं जरा तुम्हें अच्छी तरह देखूँ तो सही, देखूँ, समझ पाता हूँ कि नहीं।'

'हुँः, तो माइक्रोस्कोप से देखना पड़ेगा कि मैं सुन्दर हूँ कि नहीं ?'

'तुम्हारे बाहर क्या-कुछ है मैं उसे नहीं देखता, मैं तो तुम्हारी आत्मा को देखना चाहता हूँ।'

इस बार मेरी नस-नस में क्रोध की ज्वाला भभक उठी है। 'ज्येष्ठ तात' अब की बार कहीं जीवात्मा-परमात्मा की बहस न ले बैठें। मैं ख़फ़ा होकर चली गयी। मेरा मन बहुत ही भारी हो गया। मैं आईने के सामने खड़े-खड़े देख रही हूँ, कुछ समझ ही नहीं पा रही हूँ—सचमुच ही मैं सुन्दर हूँ कि नहीं। मुझे बहुत सन्देह हो रहा है—तमाम खोट नज़र आ रही है। मीलू आकर बोली, 'क्या देख रही है इतना ?'

'अच्छा बता तो मीलू, हमारे भारतवर्ष में तरह-तरह की पोशाकें हैं, क्यों ? फिर हम लोग हर समय एक ही तरह की पोशाक क्यों पहना करते हैं—बस, वही बंगाली ढंग से ?'

'सचमुच ही, राजस्थानियों का घाघरा सुन्दर होता है, मराठों की तरह बड़ी-सी साड़ी भी बुरी नहीं होती।'

मीलू और मैं कुछ दिनों से गहनों के डिज़ाइन के पीछे पड़ी हुई हैं हमारे समय में साधारणतः जो भी गहने बनते थे, उनमें विलायत डिज़ाइनों का बड़ा ही अधकचरा अनुकरण हुआ करता था। उनमें सौन्द या सौकर्य कुछ भी नहीं था। ठीक उसी समय से, अर्थात् हम लोगों दो-तीनी पीढ़ी पहले से, कला की रुचि का अधःपतन हो गया था। ठाकु

घराने मे उसका पुनरुद्धार किया जा रहा था। गृह-सज्जा अथवा देह-सज्जा मे खोज-खाजकर पुराने डिज़ाइनों की चीज़-वस्त ग्रौर पुराने ढंग के गहनो का चलन हो रहा था। उसे कहा जाता था 'ग्रोरियंटल'। इस विषय मे स्टेला क्रैमरिश विदग्ध थी—मैं ग्रौर मीलू ठहरी सामान्य नारियाँ—लेकिन हम लोग भी पुराने राजपूती चाँदी के गहनों से डिज़ाइन लेकर गहने बनवाते थे। बहुत-से गहने बनवाते थे हम लोग। सोने का दाम ही भला क्या था, 18 रुपये तोले! उसके बाद हम लोगो ने तय किया कि चाँदी के गहने ही क्यो न पहनें हम लोग? उस समय निम्न-वित्त लडकियो को छोड़कर चाँदी के गहने ग्रौर कोई नही पहनता था। हमी लोगो ने इसे शुरू किया ग्रोर बाद मे तो यह खूब चल पडा। पैरो के बिछुग्रों के साथ मखमल की चप्पलों को जोडकर हम लोगों ने जूता बनाया था, वह ग्रटपटी चीज बहुत सुन्दर बन पड़ी थी—ऐसी बात नही, लेकिन लोग देखते रहते थे। उस दिन हम लोगो ने तय किया कि उडीसा की लडकियों की तरह सिंगार किया जाय। साडी को ऊँचा करके पहना, ढेर-सारे गहने भी पहने। मेरी माँ का एक माँग-टीका था। उस माँग-टीके के तीन भाग थे। सीमन्त के ऊपर से होकर एक भाग पीछे की ग्रोर चला जाता था ग्रौर माँग के बीच से दो हार लटककर दोनो ग्रोर कानो तक चले जाते थे। बीच मे एक लॉकेट था जो कपाल पर झूलता रहता था। विवाह के समय माँ को उस माँग-टीके को पहने देखकर पिताजी की ग्राँखो को कुछ ऐसा लगा था कि माँग-टीके के सम्बन्ध मे उनका मोह दूर नही हो पाया था। माँ तो ग्रब नही पहनती थी उसे, किन्तु किसी-न-किसी बहाने पिताजी उसे ग्रगर मुझे पहना पाते तो वे बहुत खुश होते थे। उस दिन मैंने माँग-टीका पहना था, उडिया ढंग से साड़ी पहनी थी, ऊँची करके। कानो के बग़ल से होकर कदम्ब फूल लटका लिये थे। कदम्ब फूल के पराग को ग्रपने मुँह पर लगाया था। हम लोग उन दिनो साबुन नही लगाते थे, क्योंकि विलायती चीजो का त्याग किया था। पहले चेहरे पर हैज़लीन लगाते थे ग्रौर जॉनसन के टैल्कम पाउडर का उपयोग करते थे। उसे भी ग्रब नही छू रहे थे। यह तो ग्रच्छा हुग्रा था कि कदम्ब फूल मिल गया था। किन्तु यह तो ग्रधिक

समय टिकेगा नहीं।

'भाई रू, साबुन लगाना छोड़कर अच्छा ही किया है; मसूर की दाल व
उबटन लगाने से तेरा रंग बहुत गोरा हो गया है !'

'जा-जा, फालतू बातें मत किया कर। तुम लोग मेरे रंग और चेह
को लेकर कुछ मत बोलो। बहुत ग़लत धारणा हो जाती है मुझे। इस
नुक़सान होता है।'

'अच्छा, ऐसी बात है? अच्छा तो सुन, पाउडर भले ही मत लग
लेकिन होठों में ज़रा रंग लगाना तो कुछ बुरा नहीं होता।'

'अरे बाप रे, हिम्मत नहीं, हिम्मत ही नहीं है।'

मैं मांग-टीका पहन रही हूँ अच्छी तरह से, और कंठस्थ 'मेघदूत' के श्लो
गुनगुनाये जा रही हूँ...।

'भाई मीलू, एक पद्म मिलता तो सिंगार पूरी तौर पर हो जाता।

'क्यों, पद्म क्या करेगी !'

'अरे पद्म नहीं, लीलाकमल।'

मीलू मेघदूत नहीं जानती। 'सुन बता रही हूं :

हस्ते लीलाकमलमलके बाल कुन्दानुविद्धम्
नीता लोध्र प्रसवरजसा पांडुतामानने श्रीः
चूड़ापाशे नवकुरुवकम् चारुकर्णे शिरीषम्
सीमन्ते च तदुपगमजम् यत्र नीयम् वधूनाम्...'

'अच्छा, तो, यह कुरुवक क्या फूल है रे?'

'बक का फूल है शायद।'

'धत्, ऐसा भी कहीं हो सकता है! बक के फूल को तो लोग त
कर खाते हैं, उसे लेकर कहीं कविता बनायी जाती है!'

'क्यों, जिसे तल कर खाते हैं उसे लेकर कविता क्यों नहीं बन
जायेगी?'

'शरत्चन्द्र व रवि ठाकुर के तर्क-वितर्क पढ़ती क्यों नहीं?

काम की चीज़ है उसे लेकर कविता नहीं बनायी जायेगी, नहीं बनायी जा सकती।'

'अच्छा तो यह बात है ? हर फूल ही काम में आता है।'

'जैसे ?'

'फूल आने का मतलब ही है फल आना। फूल ही तो फल में बदलता है। यह जो तुम फूल की तरह...।'

'अ' कमरे में आया—'अ' मेरी माँ का रिश्ते का भाई लगता है, लेकिन उम्र में हमी लोगों के बराबर है, इसीलिए हम लोगों के साथ उसका भाई-जैसा सम्बन्ध है। उसे हम लोग बहुत प्यार करते हैं—बड़ा प्रिय स्वभाव है उसका, बाँसुरी ऐसी बजाता है कि मन हर लेता है। बाँसुरी हिलाते-घुमाते कमरे में घुसा और हम लोगों का साज-सिंगार देखा तो उसकी टकटकी बँध गयी।

'क्या बात, कहाँ जा रही हो ?'

'क्यों, घर में क्या ज़रा सुन्दर बनकर नहीं रह सकती हूँ ?'

'बेशक, रह सकती हो। तो अब बताओ, सौन्दर्य का स्थान कहाँ है ?'

वह मेरे निबन्ध की बात कर रहा है। उसके बाद घूर-घूरकर मुझे देख रहा है : 'ऐं, तो माँग-टीका भी पहन रखा है !

मोतिम हारे वेश बना दे, सीथी लगादे भाले—
उरहि विलम्बित लोल चिकुर मम बाँधह चम्पक माले।'

गाना गाते-गाते 'अ' ने मेरे जूड़े को पकड़कर खींच दिया, 'खोल डाला जूड़े को—' और तमाम कंधों और छाती को ढकते हुए 'लोल चिकुर मम' बिखर गये ! उस क्षण हम तीनों ने आईने में देखा—अवाक्‌ होकर निहार रहे हैं हम लोग ! सन्देह नहीं रहा, ताऊ ने डर दिखाया है मुझे।

पता नहीं, कैसे मैं एक के बाद एक घटना में प्रवेश कर रही हूँ—कैसे यह कहानी लिख पा रही हूँ—तैंतालीस वर्ष पहले की बात ! दस वर्ष पहले क्या ऐसा कर पाती ? पन्द्रह वर्ष पहले ? बीस वर्ष पहले ? हरगिज़ नहीं; तब तो मेरा जीवन ही बदल जाता। इतने दिन तो मैं जानती ही नहीं थी

कि एक वियोगांत उपन्यास मेरे सारे जीवन में धीरे-धीरे अदृश्य स्याही से,-अव्यक्त भाषा में, अश्रुत स्पन्दन में लिखा जा रहा था। जीवन के बयालीस वर्ष कट गये; अब तक ये सारे दृश्य अवरुद्ध रहे हैं। जीवन बिलकुल सील-मुहर लगा बन्द था। बीच-बीच में इधर-उधर धक्के लगने से समझ में आता था कि भीतर कुछ जमा है, बस, इतना भर ही—इससे ज्यादा कुछ नहीं। मगर उस दिन सहसा सेरगेई के मुँह की एक बात ने—'मिर्चा, मिर्चा, मिर्चा, मैंने अपनी माँ से बतला दिया है कि तुमने केवल मेरे माथे का चुम्बन लिया था'...जो कि एक भयभीत बालिका के मुँह से निकला हुआ एक झूठ था—एक सोने की चाभी बनकर उस दुर्गम गुफ़ा का दरवाज़ा खोल दिया —भैरव बाहर निकल आये हैं—मैं महाकाल का पद-चाप सुन पा रही हूँ। नटराज नाच रहे हैं। उनका एक क़दम अतीत में है, और दूसरा वर्तमान में। ता ता थैया ता ता थैया—मेरे हीरे-पन्ने बिखरते जा रहे हैं। हँसी और रुलाई की लहरें मचल रही हैं—मेरी छाती की हड्डियाँ पिस गयीं—यह एक असह्य यन्त्रणा है। नटराज, अपना नृत्य रोक दो, तुम अपने पैर को तिरछा करके खड़े हो जाओ, केशव बन जाओ, सब सन्ताप-हारी शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी अथवा वामन-रूप में आओ, और अपना तीसरा पग मेरे माथे पर रखो, मैं उस पशु भी भाँति तुम्हारे पैर के नीचे दबकर पिस जाऊँ! सकल कलुष तामसहर बुद्ध नहीं हो सकते तुम? मेरी जलन मिटा दो, मेरा मोहांजन पोंछ दो 'केशवधृत बुद्ध शरीर'-जैसे, मुक्ति दो मुझे, मैं उसे और देखना नहीं चाहती। मैं चाहती हूँ, मेरी नींद टूट जाये और मैं अपनी सजी-धजी गृहस्थी में, अपने पति के कलेजे में, अपने सगे-सम्बन्धियों के बीच जाग उठूँ।

वह रहा मिर्चा, झुककर गैस-रिंग में कॉफ़ी बना रहा है, खाने के कमरे के एक कोने में गैस-रिंग है। रसोई-घर के सामने झड़ू खड़ा है, वह हमारा बावर्ची है, काला-कलूटा और गोल-मटोल चेहरे वाला। छाती पर घुँघराले काले-काले रोयें हैं, देखने मे वनमानुष-सा लगता है। कुर्ता तो हरगिज़ बदन पर नहीं डालेगा—उसे सभ्य नहीं बनाया जा सका। वह

चीनी का बर्तन आगे बढ़ा रहा है। कॉफ़ी पर गाढ़ा फैन होता है तो मिर्चा को अच्छा लगता है, उसे टर्किश कॉफ़ी कहता है; रोज़ दोनों वक़्त खाने के बाद उसे कॉफ़ी चाहिए। मैं उसे देख पा रही हूँ; उसने जेब से रूमाल निकालकर एक हाथ मे मॉमपॅन की मूठ पकड़ी है, और दूसरे से प्याला। चीनी लिये, मड् पीछे-पीछे आ रहा है। मिर्चा के गोरे-से चेहरे पर, काले चश्मे के फ़्रेम पर, पसीने की बूँदें जमा हो गयी हैं। वह कॉफ़ी की भाप है। मिर्चा खाने के कमरे की मेज के पास कुर्सी खींचकर बैठा। और ठीक तभी...

नृत्य-पागल नटराज,
मानो दोनो हाथों से दे ताल,
देखा नहीं हमने,
तभी वहाँ घूमा था महाकाल।
देखें कैसे?
हम तो तब थे
परस्पर दिदृक्षु
पतंग जैसे वह्नि-मुख मे प्रवेश को उत्सुक
भवानीपुर के खाने के कमरे की
मेज़ पर सजी चाय
उठा ली काल ने महा अनन्त मे,
अव्यय है महिमा!

लाइब्रेरी में घूमते-घूमते फिर हम लोगों का झगड़ा शुरू हुआ, खत्म हुआ ऊपर के बरामदे मे—मिर्चा बोला, 'क्या बात नहीं करोगी?'

'नहीं, तुम अगर वैसा करोगे, तब तो मैं बिलकुल ही बात नहीं करूँगी, फिर तुम्हें ही भला बोलने की जरूरत क्या है—मैं तो अच्छी नहीं हूँ।'

'मैंने कहा है कि तुम बुरी हो?'

'निष्ठुर हूँ, हृदयहीन हूँ, एकदम भद्र व्यवहार नहीं जानती हूँ, यह अगर बुरा नहीं है तो फिर बुरा क्या है?'

'तो तुमने कल वैसा क्यों किया?'

'क्या किया ?'

' 'अ' के साथ मीलू और तुम गलबहियाँ डाले चली गयीं, और मैं जरा तुम्हारे नजदीक खड़ा होता हूँ तो तुम तुरन्त हट जाती हो।'

'क्या बात है, वह हमारा रिश्तेदार है। तुम तो रिश्तेदार नहीं हो।'

मुझे माँ का उपदेश याद आ रहा है। मैं जब बहुत छोटी थी, जब यही कोई बारह साल की उम्र रही होगी मेरी, तब भी मैं फ्रॉक पहना करती थी। हमारे घर माँ के एक रिश्तेदार आया करते थे। वे माँ से बहुत अधिक बड़े थे। उनकी उम्र कितनी थी पता नहीं, इतने छोटे बच्चे बड़ों की उम्र नहीं समझ पाते। लेकिन वे बहुतों का उपकार करते थे, सभी को वे पसन्द थे। घर आते, तो घर को गुलजार कर देते थे और मुझे अपने घुटनों पर बिठाते थे। मैं तो ठहरी फ्रॉक पहनने वाली एक छोटी-सी बच्ची, कोई कुछ बुरा नहीं मानता था; लेकिन उन्होंने एक अजीब-सी हरकत शुरू की—रह-रहकर मेरे आँचल के दरक जाने पर वक्ष छूते थे। पहले दिन तो समझ नहीं पायी। मगर दूसरे दिन माँ से कह दिया। माँ ने तो सुनते ही माथा ठोक लिया : 'हाय री तक़दीर ! ब्याह करके भी उसका स्वभाव सुधरा नहीं, हरामजादे को अब इधर मुँह नहीं करने दूँगी।' माँ कभी इतनी अश्लील बात नहीं बोलती हैं; हमारे घर में माँ के डर से कोई एक भी बुरी बात नहीं बोलता है। औरों के घर में 'हरामजादा', 'साला' आदि का काफ़ी व्यवहार होते सुना है, पर अपने घर में नहीं। हमारे कानों में ऐसे शब्द पहुँचते भी हैं तो असह्य हो उठता है। यही पहली बार माँ को ऐसे भयानक शब्दों को बोलते सुना। माँ इतनी आग-बबूला हो गयी थीं कि कोई दूसरी गाली ढूँढ़े नहीं पा रही थीं। उसके बाद माँ ने मुझसे कहा, 'रू, ऐसा अगर और कोई कभी भी करे, तो उसी दम आकर मुझे बता देना। कभी भी किसी पराये आदमी को न तो छूना, न छूने देना। उसका फल बहुत बुरा हो सकता है। तबीयत तो खराब होगी ही, मृत्यु भी हो सकती है।'

माँ की बात पर मुझे ठीक विश्वास नहीं हुआ था : 'मृत्यु भला कैसे ?'

'इसके बारे में मैं तुम्हें अभी कुछ बता नहीं पा रहा हूँ, लेकिन जो

कहती हैं, सुनो, बड़ी सावधानी से रहना पड़ता है लड़कियों को।'

यह बात तो ठीक ही है कि बहुत-से लोग बड़े अजीबोगरीब-सा व्यवहार करते हैं। दिन गुजरने के साथ-साथ मैंने बहुत-से बड़े-बड़े लोगों की आँखों में भी लोलुप दृष्टि देखी है। बड़ी घृणा होती है—बुरा लगता है। जैसे कमल बाबू, जो इतने शिक्षित है, जिन्हें कल्चर्ड कहा जाता है और एलीट भी, जो बाकायदा रवीन्द्र के भक्त हैं, और जिन्हें रवीन्द्रनाथ की बहुत-सी कविताएँ कण्ठस्थ हैं, आयेंगे तो मुझे तंग करेंगे ही। उस दिन मैं बैठक में साड़ी लपेटे जाले झाड़ रही थी, ऐसे समय वे आ उपस्थित हुए। मुझे उस अवस्था में देखकर कविता पढ़ना शुरू कर दिया था : 'राजमहिमा को अपने जिन करों के स्पर्श से तुम महिमान्वित कर सकती हो, अपने उन्हीं सुन्दर करों से तुम अपने कमरे की धूल झाड़ती हो।' कविता सुनने से ही मुझे अच्छा लगता है, इसीलिए मैं भी कविता पढ़े जा रही थी कि तभी हठात् उन्होंने मुझे पीछे से अपनी बाँहों में भर लिया। लगा, जैसे साँप डसने को उद्यत हो; मैं किसी तरह अपने-आपको छुड़ाकर भाग खड़ी हुई। माँ ने सुना, तो बोली : 'कुर्ता और नागरा जूते पहनने से ही कोई शरीफ नहीं होता है।' माँ की बात अब मेरी समझ में आती है। मैं जानती हूँ, इस सब के पीछे एक अदृश्य गोपनीय जगत् है, पर वहाँ की हर खबर मैं नहीं जानती। माँ की बात सुन-सुनकर मुझमें खूब पापबोध पनप रहा है। बात तो ठीक ही है। 'अ' का भी मेरे गले में बाँह डाल देना ठीक नहीं हुआ है। भले ही वह बड़े भाई जैसा है तो भी क्या? मेरे मन में बहुत जल्दी-जल्दी तरह-तरह की बातें आ-जा रही हैं, कि तभी हठात् देखती हूँ कि मिर्चा मेरी ओर स्थिर दृष्टि से निहार रहा है।

'माफ़ करो'—यह कहकर उसने अपने दोनों हाथों से मेरे दोनों हाथ पकड़े और मेरी हथेलियों को चूम लिया।

मैं चुपचाप खड़ी हूँ चित्र लिखी-सी। वह मेरे हाथ नहीं छोड़ रहा है। मेरी दोनों हथेलियाँ उसके हाथों में मसली-सी जा रही हैं। वह उन पर मुँह रख रहा है—इस तरह अनन्त समय गुजरता जा रहा है। कितनी देर, कौन जाने, पर वह छोड़ नहीं रहा है, मैं हाथ छुड़ाने की कोशिश नां कर रही हूँ, मगर छुड़ा नहीं पा रही हूँ—मैं मुँह उठाकर प्रार्थना करन

की चेष्टा कर रही हूँ। स्वयं अपने-आप से अपनी रक्षा करने की कोशिश कर रही हूँ। कारण, मैं तो अभी भाग खड़ी होना नहीं चाह रही हूँ, चाह रही हूँ उसके बाहु-पाश में बँधना। किन्तु उसने तो मुझे ज़रा भी और निकट नहीं खींचा; हमारे बीच बहुत बड़ा व्यवधान रहा। उसे पता है, मैं बाधा दे रही हूँ—'छोड़ो-छोड़ो मिर्चा, तुम मेरे हाथों को मसले दे रहे हो, मार डाल रहे हो मुझे।'

मिर्चा ने मुँह उठाया। मैं अवाक् होकर उसकी ओर ताक रही हूँ। मेरा तनिक भी हटने को जी नहीं चाह रहा है। शरीर में घुंघरू बज रहे हैं—इसे तो हरगिज़ तबीयत खराब होना नहीं कहते। मेरे दोनों ओर जैसे तितलियों ने पंख पसार दिये हों—मैं तो उड़ जा सकती हूँ! मेरे हाथों पर मिर्चा फिर अपना मुँह रख रहा है—आकाश उतर आया है, धूप से जलता नीलाकाश मानो धरती पर आ गिरा हो—'नील अम्बर चुम्बन नत' होकर स्थिर बना हुआ है मेरे हाथों पर।

उस दिन की रात एक अजीब-सी रात थी। चारों ओर चाँदनी की आँख-मिचौनी ने कलकत्ता के उस रास्ते को स्वर्ग बना दिया है। मैं बरामदे में खड़ी हूँ—घड़ी में बज रहा है, एक-दो टन-टन। चांद इधर से उठकर उधर चला जा रहा है—चला जा रहा है कालपुरुष—मैं खड़ी हूँ बरामदे में अकेली, मैंने माँग मे पट्टी नहीं की है, मेरे बाल उड रहे हैं, मेरी छाया पड़ी है बग़ल की दीवार पर—मैं नरगिस की भांति अपनी छाया की ओर टक-टकी लगाये हूँ—'पूर्ण चन्द्र की माया' में लिपटी मेरी वह तन्वी देह-छाया मुझे अचम्भे में डाले दे रही है। इस शरीर में जो मन बसता है आखिर वह कैसा है ? मैं उसकी तलाश में हूँ। मिर्चा तो मेरी आत्मा को देखना चाहता है ! शंकर ने कहा है, आत्मा के अतिरिक्त जगत् मिथ्या है—सब-कुछ छाया की तरह है। लेकिन वह छाया भी तो झूठी नहीं है—और उसकी बग़ल में वह जो माधवी लता हिल रही है वह भी तो सत्य है, ज्योतिर्मय सत्य।

मुझे अच्छा लग रहा है, कैसे आश्चर्यजनक सुख से मेरा तन-मन

भरा हुआ है। 'आनन्द-सागर मे तिरता हुआ' शब्द सुना था, अभी पहली बार समझ मे आया कि उसका ठीक अर्थ क्या है। मेरा मन उस चाँदनी की तरह हो गया है—सोम-पान करने वालों की तरह मैं ज्योत्स्ना-पान करके आकाश-गंगा में तिर रही हूँ—मेरे हाथों मे तारों के प्रदीप हैं, गले में तारों की माला है, ऊपर लाल रग का ब्रह्म-हृदय जल रहा है, पर वह तो मेरी बिंदिया है! मेरे पैरों मे तारों के घुँघरू बज रहे हैं—रुम-झुम, रुम-झुम, मगर वह तो घुँघरू नही हैं, नीचे मिर्चा पियानो बजा रहा है—वह निश्चय बहुत रात तक उसे बजायेगा। वह सो नही पायेगा, जैसे मैं भी सो नही पा रही हूँ—मैं जानती हूँ कि वह क्या चाहता है। अज्ञात रहस्य-लोक का पर्दा हटा जा रहा है—मैं समझ पा रही हूँ कि उसके उस पार क्या है—वहाँ पाप कुछ नही है, होता तो मैं पहचान सकती थी जैसे अनेक बार पहचाना है उद्यत साँप को, किन्तु यह तो चाँदनी का बगीचा है, यह तो पद्म सरोवर है अथवा कवि ने जो लिखा है रूपसागर—तो यही क्या वह रूपसागर है? कुछ भी सोचने बैठती हूँ तो मेरे दिमाग मे कविता आती है, और कविता दिमाग मे आती है तो कवि याद आते हैं। कितने दिन हुए, मैंने उन्हें देखा नही है, लेकिन उसके लिए मुझे कष्ट नही हो रहा है, तो क्या यह अन्याय है? तो क्या यह व्रत-भंग है? मैंने क्यों किसी तड़के बाल-सूर्य की ओर निहारकर कहा था—'उमड़े मेरा सारा प्यार प्रभु तुम्हारी ओर'; मैं और किसी चीज़ को, किसी और को तुमसे अधिक बड़ा न होने दूँगी—तो क्या मैं उस सत्य से च्युत हुई हूँ? कुछेक दिनो से यह बात मेरे दिमाग मे आ-जा रही है, मगर मुझे उत्तर नही मिला था—आज मुझे उत्तर मिल रहा है—आज उत्तर आनन्द की सीढ़ियाँ चढ़कर मेरे सामने आ खड़ा हुआ है। तो सत्य से क्या कोई च्युत हो सकता है? सत्य तो सभी को धारण किये रखता है। मेरे मन के समस्त तार तो उन्ही के सुरों में बँधे हुए हैं; वे ही तो बजा रहे हैं यह गान—मेरे समूचे तन-मन मे सुरों की लहरें लहरा दी है उन्होंने तो, उनके गान के भीतर से होकर ही तो मेरा मन इस आश्चर्यजनक रहस्यलोक के भीतर प्रवेश कर रहा है—ठीक जिस तरह लिखा है उन्होंने: 'तुम्हारे गीत मे जब देख पाता विश्व, तभी पहचान लेता हूँ उसे मैं जान लेता।' उन्होंने

तो ईश्वर के सम्बन्ध में लिखा है, और मैं मनुष्य के सम्बन्ध में सोच रही हूँ। मैं तो ठहरी एक छोटी-सी लड़की—मनुष्य ही काफ़ी है मेरे लिए—ईश्वर की ज़रूरत नहीं।

शान्ति उनींदी आँखों से प्रतीक्षा किये हुए है कमरे में। इस बार उसने पुकारा, 'रू, सोने नहीं आयेगी भाई ?'

'आ रही हूँ भाई, आ रही हूँ।'

मेरे कमरे में मेरी ग्यारह साल की बहन सावी और शान्ति सोया करती हैं। शान्ति फ़र्श पर लेटी हुई है—मैं और सावी खाट पर सोयेंगी। किसी-किसी दिन मैं फ़र्श पर चटाई बिछाकर लेटी रहती हूँ, मुझे अच्छा लगता है। सावी सो रही है। मैं उसकी बग़ल में बैठी और उसके बदन पर की चादर को ठीक कर दिया। घुँघराले-घुँघराले बालों से घिरे उसके सुन्दर मुखड़े पर चांदनी आकर पड़ी हुई है। क्या सरल और निष्पाप है उसका प्रकाश से धुला मुखड़ा ! किन्तु मनुष्य क्या सचमुच ही कभी सरल रहता है ? आज सवेरे लाइब्रेरी से जब मैं निकलकर बाहर आयी, वह सीढ़ी के पास खड़ी थी, तब मैंने उसकी चमकती आँखों में एक उग्रता देखी थी। आखिर वह क्या था ? उस बात को याद करके मेरे रोंगटे खड़े हो गये। एक अज्ञात अशुभ आशंका ने मेरे आनन्द-सागर को चंचल बना डाला। मैंने हाथ जोड़कर प्रार्थना करनी चाही। किससे प्रार्थना करूँ—पता नहीं। मनुष्य का कान शब्द की तरंग के अलावा कुछ सुन नहीं सकता है। तनिक दूर ही तो आवाज नहीं पहुँचती है। लेकिन ऐसा क्या कोई कान है जो दूर भी रहता है और नज़दीक भी ? जहाँ सारी आवाज पहुँचती हैं—है कोई ऐसा कान ? कौन हो तुम जिसने मेरे गुरु के हाथ में पारस पत्थर दिया है मुझे जगाने के लिए ? इस आनन्द सागर को लाने वाले तुम कौन हो ? यदि वैसा कोई हो कहीं, तो मेरे हाथ में वह 'अरूपरतन' देना—मुझे खाली हाथ लौटा मत देना। मुझे नींद आ रही है—मिर्चा ने मेरे हाथ पर एक छोटी-सी खरोंच लगा दी थी, मैं उस पर हाथ फेर रही हूँ और वह धीरे-धीरे बड़ी होती जा रही है, मेरे कलेजे पर फैलती जा रही है—मैं देख रही हूँ, मैं पड़ी हुई हूँ आहत-सी..., और वह जा चुका है।

पिताजी ने कहा है : 'मिर्चा अगर कुछ समय निकाल सके तो मैं और तुम मिलकर किताबों का एक कैटलॉग तैयार कर [illegible]।' [illegible] सारी किताबें हैं पिताजी की लाइब्रेरी में। कई हज़ार किताबें हैं। ठीक-ठीक कितनी हैं, किसे पता—क़रीब सात-आठ हज़ार तो होंगी ही। [illegible] बड़े-से लकड़ी के खानों में लगे हुए हैं, और कई [illegible] हम लोग हर दिन चार-पाँच घंटे एक साथ काम करते हैं। [illegible] तीसरे पहर सभी एक साथ मिलकर गाड़ी में घूमने जाते हैं। [illegible] पर दिन-भर में सात-आठ घंटे हम लोग एक साथ रहते हैं। [illegible] दोपहर में जितने-से समय के लिए ऊपर आती हूँ, [illegible] फिर से जाने के लिए अस्थिर हो उठती हूँ। [illegible] साथ न जाने कौन मुझे खींच रहा है? यह बन्धन क्या दृढ़ बनता है? तब तो मैं बचूँगी ही नहीं। किन्तु इस बात का मैंने किसी को आभास तक नहीं होने दिया। माँ को भी नहीं। [illegible] सोचेगी कि मैं खराब लड़की हूँ। लेकिन मैं जानती हूँ कि मैं खराब नहीं हूँ; इसलिए दुःखी नहीं हूँ।

मैंने किसी को भी नहीं बताया है कि [illegible] यह तो मन्दिर से छुआ हुआ है। लगता है, [illegible] नहीं के बराबर है।

तक वैसी किसी पीड़ा से पीड़ित नहीं हूँ। वह दुनिया मेरे लिए अपरिचित है। और मन की भूख तो मैं जानती ही नहीं—रूप, रस, वर्ण और गन्ध से उसे तृप्त रखने का आयोजन है। मैंने उससे कहा, 'हंगर किताब मेरी समझ में नहीं आयी।'

वह बोला, 'कहाँ है देखूं!' मैंने जैसे ही किताब आगे बढ़ायी कि उसने मेरी कमर में बाँह डालकर मुझे अपने नज़दीक खींच लिया, और मैंने शायद युगों के संस्कार से प्रेरित होकर, अपने बायें हाथ से उसे पकड़े रहने के बावजूद, दाहिने हाथ से उसके गोरे-से गाल पर—छिः-छिः, अभी भी सोचने में लाज आती है—एक चाँटा जड़ दिया—कुछ ज़ोर से ही। उसका गोरा-सा गाल लाल हो गया। वह अवाक् होकर ठगा-सा निहार रहा है। उसने मेरी दाहिनी कलाई को ज़ोर से पकड़ा और धीरे-धीरे बोला, 'तो तुमने मुझे मारा।'

''तो क्या करती!'

'जानती हो तुम, हमारे देश में कोई लड़की अगर ऐसा करे तो इसे बहुत बड़ा अपमान माना जाता है? इसे जिल्ट करना कहते हैं।'

'पर यह तो तुम लोगों का देश नहीं है।'

'अच्छा, तो ठीक है, मैं कल ही यहाँ से चला जाऊँगा, और फिर किसी दिन नहीं आऊँगा।'

भय से मेरी अन्तरात्मा सूख गयी है, क्या होगा यदि वह सचमुच चला जाय तो!

'माफ़ करो मिर्चा, माफ़ करो। मैंने जान-बूझकर नहीं मारा है।'

'जान-बूझकर नहीं मारा है?' वह विस्मित हुआ।

'सच कह रही हूँ तुमसे, कैसे ऐसा हुआ, पता नहीं। मेरे हाथ ने यह बुरा वर्ताव किया है, मैंने नहीं।'

अवस्था को स्वाभाविक होने में कोई ज्यादा देर नहीं लगी। मैं अनुतप्त हूँ, बहुत ही नरम पड़ गयी हूँ। मन का भाव कुछ ऐसा हो गया है, मानो कह रहा हो—और एक बार वैसा करके देखो, मैं कुछ नहीं कहूँगी। लेकिन वह सावधान है, बहुत सावधान।

हमारा झगड़ा मिट गया है। मैंने बहुत सोचकर देखा है, वह जब मुझे इतना चाहता है तब मुझे कुछ-न-कुछ करना ही पड़ेगा। स्त्री-पुरुष के सम्पर्क के सम्बन्ध में तो मेरी धारणा बहुत ही अस्पष्ट है, किन्तु कुहासे के भीतर से वह जरा-जरा स्पष्ट होती जा रही है! मैं समझ पा रही हूँ, बुद्धि से नहीं, अनुभूति से। फूल पर जब प्रकाश पड़ता है और जब वह अपनी पंखुड़ियाँ चटकाता है तब वह तो नहीं जानता कि किसी अजाने लोक से फल लगाने का निर्देश आ रहा है। वैसे ही प्रेम, सूर्य के प्रकाश की भाँति ही उज्ज्वल, उत्तप्त प्रेम मेरे शरीर में प्रविष्ट हो गया है और उसे उन्मुख बना डाला है। मैं नहीं जानती कि उसका निर्देश किस तरफ है। शारीरिक शुचिता सम्बन्धी भारतीय स्त्रियों की उत्तराधिकार-स्वरूप प्राप्त नाना बद्धमूल धारणाएँ हैं; मैं भी तो उनसे मुक्त नहीं हूँ। पति के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष को वे प्यार नहीं करतीं, प्यार कर नहीं सकतीं, छू तो सकती ही नहीं। अन्य पुरुष होते हैं पर-पुरुष। कोई-कोई स्त्री वैसा करती है, परन्तु वह स्वैरिणी की कोटि में आती है। ऐसी परिभाषाएँ मैंने सुनी हैं। जैसे, 'आँख की किरकिरी' की विनोदिनी स्वैरिणी की कोटि में आती है। इस बीच 'चरित्रहीन' को भी मैंने 'मिलन' के कवर के अन्दर रखकर पढ़ डाला है। 'चरित्रहीन' की उस नटखट बहू के साथ 'हंगर' किताब के उस व्यक्ति का बहुत मेल है—वह तरुणी विधवा बहू कह रही है: 'जिस तृष्णा से मनुष्य नाले का काला पानी चुल्लू में लेकर पीता है, मेरी वही पिपासा थी।' पर यह तृष्णा है क्या? सचमुच ही तो वह प्यास भला पानी की प्यास नहीं थी। कारण वे लोग चाहे जितने ही गरीब हों उनके घर में नल था जरूर। लेकिन ये किताबें तो बहुत बड़ी हैं। मेरे दिमाग में एक गाना मुखरित हो रहा है:

नयनों में मेरे तृष्णा है,
तृष्णा पूरित है उर मेरा।

रवि ठाकुर की भाँति सुन्दर ढग से और कहीं कोई लेखक मन की बात नहीं कह सकता है।

भले-बुरे के द्वन्द्व से मेरा कलेजा काँप रहा है। तो भी मैंने कितनी सारी

धारणाएं खुद ही बना डाली हैं। वे हैं कि शरीर के कौन-कौन-से भाग के छू जाने से पाप लग सकता है। जैसे, खाने की मेज़ पर बैठकर वह जो लगातार मेरे पैर पर अपना पैर रखता है वह हरगिज़ पाप नहीं है। पैर छूने से पाप कैसे होगा? यही है अकाट्य युक्ति। हाथ छू जाने से भी निश्चय पाप नहीं होगा; सर्वदा हैंड-शेक तो किया ही जाता है। इसीलिए एक दिन मैंने लाइब्रेरी में उससे कहा : 'मिर्चा, तुम मेरा हाथ थाम सकते हो।' यह कहकर मैंने अपना हाथ उसकी ओर बढ़ा दिया। उसने अपने दोनों हाथों को बढ़ाकर मेरा हाथ पकड़ा। मुझे हठात् लगा, अब की बार समझा, कि हाथ की तुलना मृणाल से क्यों की जाती है। वृन्त पर करपल्लव पद्म की भांति दीख पड़ता है—कर-कमल तभी तो कहा जाता है—मेरे हाथ पर उसके हाथ कितने गोरे-गोरे लगते हैं—ईषत् ईर्ष्या-मिश्रित आंखों से मैं ताक रही हूं, उसने अपने दो लुब्ध हाथों से मेरा हाथ खींच लिया, और मेरे हाथ पर अपना माथा रखा, फिर मुंह रखा कंधे पर। तमाम हाथ व हथेलियों पर मैं हर क्षण उसके अधरों का स्पर्श पाने लगी—क्रमशः मेरा हाथ मेरे शरीर से विच्छिन्न हो गया, अथवा समूची की समूची हाथ ही बन गयी! मेरी समस्त अनुभूतियां वहीं एकत्र हो गयी हैं...मेरी एकाग्र सत्ता वहीं स्पन्दित है। कितनी देर, पता नहीं, कितनी देर उसने मेरी हथेली को अपनी छाती पर रखा है, अपने शरीर और गले को मेरी कोहनी पर और अपना मुंह मेरे कंधे के पास। वह स्थिर नहीं रहता है, लगातार हिल-डुल रहा है। क्रमशः मेरा हाथ जैसे रक्त-मांस का पदार्थ नहीं रहा, उससे स्थूल वस्तु लुप्त हो गयी। आकाश-भर में विद्युत्लेखा जिस तरह चमकती है, उसी तरह हाथ में बिजली दौड़ने लगी—हाथ के भीतर के अणु-परमाणु शिथिल हो गये—वे घूम रहे हैं, नाच रहे हैं—ग्रह, नक्षत्र की भांति घूम रहे हैं वे—'ग्रह तारका चन्द्र तपन व्याकुल द्रुत वेग से'—मैं आंखें बन्द किये हुए हूं—मेरी आंखों से आंसू लुढ़क रहे हैं—'मिर्चा—यह क्या है, यह क्या है, यह क्या है!'

आंसुओं से मेरा तकिया भीग गया है—मैं तो भवानीपुर की लाइब्रेरी में नहीं हूं—मैं तो बालीगंज के घर में अपनी खाट पर लेटी हुई हूं, किन्तु

कैसा आश्चर्य है, मेरा हाथ तो अभी तक 'मैं' बना हुआ है। मेरा शरीर सुन्न है—मैं करवट बदलने की कोशिश कर रही हूँ कि तभी देखती हूँ, मेरे पति कोहनियों के बल तनिक उचककर मेरी ओर नजरें टिकाये हुए हैं—"तुम्हें क्या हुआ है, मुझे नहीं बताओगी ?"

मेरा ब्याह हुए अड़तीस वर्ष हो गये हैं। मैंने बड़ी निपुणता से घर-गृहस्थी की है, कोई त्रुटि नहीं छोड़ी है कहीं। मैंने हाथ बढ़ाकर अपने पति का हाथ पकड़ने की कोशिश की। छिः-छिः ! इतने दिनों बाद क्यों ऐसी भावना हुई, फिर कहा है भरा मिथ्या ! तभी कलेजे के अन्दर से एक निःश्वास निकला—उसने मानो कहा—यह तो रहा मैं ! तुम्हारी श्वास-वायु में प्रविष्ट हूँ। इतने दिन क्यों भूली थी ?

कुछ दिनों से हमारे घर में एक बहुत बड़ी गड़बड़ी शुरू हो गयी है—हमारी खूब निकट सम्बन्ध की एक लड़की को लेकर सारी दुनिया घर में आती हैं। उस लड़की का नाम आराधना है। वह मुझसे छः साल बड़ी है—तो भी हम लोग सहेली-जैसी हैं। आराधना अपूर्व सुन्दरी है। उन लोगों के घर में रहकर यतीन नाम का एक दरिद्र लड़का पढ़ाई-लिखाई किया करता था। पढ़ाई-लिखाई में वह बहुत अच्छा था, देखने में भी सुन्दर था, और था अनुगत, इसलिए आराधना के पिता ने तय किया कि उनके साथ यतीन का ब्याह करा देंगे। आराधना जब बारह साल की थी तभी से यह तय था कि उसके बड़ी होने पर ब्याह होगा। वे लोग एक ही घर में रहते थे। उनकी भेंट-मुलाकात हुआ करती थी। लेकिन आराधना यतीन की ओर आँखें नहीं देख पाती थी। यतीन यदि सामने से गुजरता तो आराधना मुँह उठाकर चली जाती थी। यतीन अगर उसको चिट्ठी लिखता तो वह उसे बिना पढ़े ही फाड़कर फेंक देती थी। उस समय अपने ब्याह को लेकर माँ-बाप के साथ कोई बात नहीं किया करता था। तो भी उसने बार-बार अपनी माँ से, बाप से, दीदी से रो-रोकर कहा था, मैं उससे ब्याह नहीं करूँगी। वह मुझे तनिक भी अच्छा नहीं लगता है। यह सुनकर तो उसकी माँ, बाप और दीदी सभी अवाक् रह गये थे,

यह भला कैसी बात है, ऐसा गुणवान लड़का अच्छा क्यों नहीं लगेगा ? कुछ ज़्यादा दुलारी बनती हो ! उसकी दीदी वग़ैरह कहती थीं, तुम तो उसे इतनी पसन्द हो फिर तुम्हें वह पसन्द क्यों नहीं है ? तू ही भला ऐसी कौन-सी राजरानी है जो खुद लड़के की ओर से आया हुआ सम्बन्ध ठुकरा दें हम लोग ?

अतएव आराधना जब चौदह साल की थी तभी यतीन के साथ उसका व्याह हो गया था। उनके एक लड़का भी हुआ है। अभी आराधना की उम्र तेईस साल की है। उसका पति उसकी खूब खुशामद करता है, कहा जा सकता है कि वह हर दम उसके तलवे सहलाया करता है ! लेकिन आराधना कहती है कि उसका जीवन तो कुनैन के मिक्सचर की एक बड़ी-सी खुराक-सा है। मुँह से कड़वापन जाने का नाम ही नहीं ले रहा है। 'भाई रू, उस आदमी के साथ रहने में मुझे क्या तकलीफ़ है, सो क्या बताऊँ तुझे !'

'क्यों भाई, यतीन मौसा तो बहुत प्यार करते हैं तुम्हें !'

'छोड़ो ये बेमानी बातें।'

लेकिन एक दिन कुनैन का यह कड़वापन उसके मुँह से चला गया—मुँह में मीठा स्वाद आ गया आराधना के। उन लोगों के बग़ल वाले घर में उसी के समवयस्क एक तरुण प्रोफ़ेसर आकर बसे। उनसे प्रोफ़ेसर का परिचय हुआ। आराधना जान पायी—किसकी प्रतीक्षा में इतने दिन से उसका तन-मन इतनी कड़वाहट लिये हुए भी अब तक ज़िन्दा था !

किन्तु वह तरुण प्रोफ़ेसर, जिसका नाम सोमेन था, वे भी तो आखिर भारतीय नारी की गोद में पैदा हुए थे। मेरी माँ की तरह उनकी माँ ने भी इस देश के युग-युग के आदर्श के अनुसार भला-बुरा पहचानना सिखाया था। यद्यपि वह आदर्श पुरुषों के लिए नहीं था, मगर सोमेन तो सिर्फ़ भारतीय नहीं था, वह तो अच्छा-खासा आधुनिक भी था, इसीलिए नीति के मामले में वह स्त्री-पुरुष के बीच फ़र्क नहीं बरतता था। सोमेन का प्यार आराधना से भी बहुत अधिक गहरा था : अपने सारे जीवन के द्वारा उसने यह साबित कर दिखाया था। तब भी उसने आराधना से

कहा था कि उनकी भेंट-मुलाकात न हो, तभी अच्छा है। पति के प्रति आराधना अपने कर्तव्य से विमुख हो, यह नहीं चाहता था। हिन्दू तो तलाक दे नहीं सकते, तो फिर ? तो फिर क्या होगा इसका परिणाम ? इसीलिए वह ज्यादा भेंट-मुलाकात करने से बचता फिरता था। आराधना नीति-ज्ञान से उतनी परिचित नहीं थी, कहती : "भेंट-मुलाकात क्यों नहीं होगी ? द्रौपदी के अगर पांच पति हो सकते हैं तो मेरे दो ही सही !' परन्तु यह तो मजाक था। सोमेन अपने मन को लेकर अस्थिर हो गया था—छटपटा रहा था, तय नहीं कर पा रहा था अपना कर्तव्य। आखिर-कार आराधना को एक चिट्ठी लिखकर उससे पति के प्रति निष्ठावान रहने का अनुरोध किया था और खुद ईसाइयों की पेनिटेंशियरी में जाकर बन्द हो गया था। खुद ही अपने-आपको बन्द किया था। आराधना इसका संकल्प तोड़ने के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ थी। एक दिन आराधना ने मुझसे कहा, 'भाई रू, तू तो बहुत अच्छा लिख सकती है, मेरे वास्ते एक चिट्ठी लिख दे न, एक प्यारी-सी कविता-अविता देकर।'

'कैसे भेजेगी उस आश्रम में ?'

'सो तरकीब मुझे मालूम है। तू लिख, जैसा कहती हूँ लिख, सोमेन बड़ा विद्वान है न, कहीं हिज्जे ग़लत हो जायें तो उसे बुरा लगेगा, इस-लिए तुमसे कह रही हूँ, वरना मैं क्या भला लिख नहीं सकती हूँ !'

मैं तो बहुत गर्वित हुई। यही पहला सुयोग था जीवन में प्रेम-पत्र लिखने का। प्रेम-पत्र लिखने के लिए आराधना ने 'चयनिका' उतारी थी। बड़ी मुश्किल हुई, रवि बाबू की प्रेम की कविता और ईश्वर सम्बन्धी कविता में भेद समझ पाना दूभर है। खैर, 'गुप्त प्रेम' व 'व्यक्त प्रेम'—ये दोनों बहुत स्पष्ट हैं। आराधना ने खोजकर निकाला था : 'प्राणों में प्यार दिया क्यों, यदि रूप न दिया विधि ने...।' यह पंक्ति तो शायद ठूंसनी ही होगी। मैं बोली, 'तुम इतनी सुन्दर हो देखने में, मेरे विचार से, यह कविता तुम्हारे लिए ठीक नहीं बैठेगी।' आराधना चिन्तित हुई, वह खेद प्रकट करने लगी, 'सो तो ठीक है, पर क्या किया जाये, यह कविता लेकिन थी बड़ी सुन्दर।'

आखिरकार अट्ठाइस पन्ने का एक प्रेम-पत्र लिखा गया और वह अपने निशाने पर अचूक जा लगा। उस शब्द-वेधी वाण के यथास्थान पहुँचते ही वाणविद्ध सोमेन अपने स्वरचित कारागार को छोड़कर आ उपस्थित हुआ। सम्भवतः ऐसा मेरे पत्र के कारण ही नहीं हुआ। शायद वह खुद ही ऐसे एक वहाने के इन्तज़ार में था। इसके वाद वह एक दिन पुत्र-सहित आराधना को लेकर आगरा भाग गया। उसके वाद का मामला ही तो है मेरी मौजूदा उद्विग्नता का कारण। आराधना को लेकर जो सोमेन चला गया, यह काम कितना वुरा है, यह तव तक समझ में नहीं आ सकता जव तक इस घटना के सम्वन्ध में एक कहावत न वतायी जाय—कहावत है—'घर की वहू को निकालकर ले जाना !' यह भयानक पाप सोमेन ने किया है, यह रोज़ सुन रही हूँ। जैसे आराधना ने कुछ नहीं किया हो ! मैं तो जानती हूँ कि आराधना ही सोमेन को आश्रम के कारागार से वाहर निकाल लायी है, और मैंने उसकी मदद की है, लेकिन मैं सचमुच ही नहीं जानती थी कि इसका परिणाम इतना वड़ा पाप माना जायगा।

यतीन ने लिखा है कि वह पागल हो गया है। आराधना के पिता भागे थे अपनी वेटी को लौटा या छीन लाने के लिए, और ले भी आये हैं। उन दोनों निर्वोध, व्यावहारिक ज्ञान से हीन युवक-युवती को यथोचित सज़ा देने की व्यवस्था भी हो रही है। मेरे पिताजी उसके विश्वविद्यालय में चिट्ठी देंगे—देने से ही सोमेन की नौकरी चली जायेगी। इन सारी घटनाओं के वीच फँसकर मैं भय से काँप रही हूँ। यदि किसी तरह भेद खुल जाये कि उस प्रभावी प्रेम-पत्र की लिखने वाली मैं ही हूँ, फिर क्या होगा ? माँ तव क्या-कुछ कर सकती हैं, मैं सोच भी नहीं पाती। माँ कितना दुःख पायेंगी, उसका अन्दाज नहीं लगाया जा सकता। वे रोते-रोते कहेंगी : 'एँ, मेरी वेटी होकर तुमने इतना जघन्य काम किया है ? लाज के मारे मेरी गरदन झुक रही है; यही सीख दी है तुम्हें मैंने ?' माँ शायद दो-तल्ले से कूदकर जान भी दे सकती हैं। और पिताजी ! पिताजी यदि सुनें तो फिर जो डाँट-फटकार खानी पड़ेगी, उसे सोचकर ही मेरे हाथ-पैर ठण्डे हो रहे हैं, 'अच्छा, तुम्हारे पेट में भी दाढ़ी निकल

आयी है! पढ़ाई-लिखाई में तो महापंडित! कहो, लिखन्त अक्षरम कण्ठस्थ हुआ है? वस्तु तत्त्व का ज्ञान ही नहीं हुआ है, और मजुराइन पन्ने का प्रेम-पत्र लिख डाला!' फिर ऐसे चिल्लाकर डाँट पिलायेंगे कि 'किरनमयबिन्दु' का शब्द सुनकर ही 'ह य व र ल' में जैसे मकान गिर गया था, उसी तरह यह बकुलदास का मकान गिर पड़ेगा चकनाचूर होकर। दो दिनों से मैं डर से काँप रही हूँ; मुझे एकमात्र यही भरोसा है कि आराधना को निश्चय इतना स्वाभिमान तो है ही कि उसका प्रेम-पत्र किसी और ने लिख दिया था, यह नहीं कहेगी।

इतने दिन कँटपाँग भी नहीं बने। मिर्चा क्या कुछ बेसिर-पैर की सोच रहा है, पता नहीं। मैं अच्छी तरह समझती हूँ कि वह मुझ पर तनिक भी विश्वास नहीं करता है। जैसे कि उससे मैंने उस दिन कहा कि अपनी 'छितवन का पेड़' नामक कविता को 'कल्लोल' में प्रकाशनार्थ भेजा था, वहाँ से कवि-बाबू ने एक बहुत सुन्दर चिट्ठी लिखी है। यह बात उसे अच्छी नहीं लगी थी। अच्छा, एक कवि क्या एक दूसरे कवि को चिट्ठी भी नहीं लिख सकता है? मैं जानती हूँ, क्यों मिर्चा इतना अस्थिर है—मैंने तो उससे एक बार भी नहीं कहा है कि मैं उससे प्यार करती हूँ या नहीं, यद्यपि उसने अनेक बार कहा है। मैं कैसे कहूँ? मैं तो नहीं जानती कि मुझे जो यह पीड़ा-मिश्रित आनन्द हो रहा है, मेरा जो केवल उसके समीप जाने का मन करता रहता है, यही प्यार है या नहीं! मुझे जानना होगा कि आखिर यह सचमुच है क्या? मीलू, जो मेरी इतनी बन्धु है, उससे भी मैंने नहीं कहा है। कहूँ भी तो कैसे? और कहने से भी कोई लाभ नहीं, आखिर वह भला जानेगी भी कैसे? उसने तो किसी से प्यार किया नहीं है। मुझे खुश करने के लिए जो हो कुछ-न-कुछ कह देगी। सिर्फ़ एक ही आदमी से मैं कह सकती हूँ, और उन्हीं से कहूँगी। कारण, वे ही मेरे बन्धु हैं। उम्र का हिसाब भी क्या भला बन्धु बनाने में लगाना पड़ता है! पिताजी कहते हैं, बन्धु की परिभाषा है—'अत्याग सहन बन्धुः'—जिसका त्याग या वियोग सहन नहीं किया जा सके। मैं तो

उनका वियोग सहन नहीं कर सकती। पर नहीं, यह बात कहाँ ठीक है ? कितने दिन हुए मैंने उन्हें नहीं देखा है, पर कहाँ, मेरी तो जाने की भी इच्छा नहीं हुई, आखिर क्यों ? वह क्या भला मैं नहीं जानती ? मिर्चा को छोड़कर एक दिन भी कहीं जाना नहीं चाहती, इसीलिए।

सहसा उनके लिए मेरा मन बहुत चंचल-सा होने लगा—मैं रोने लगी—'चिर पथ के साथी, मेरे जनम-मरण हे...!' मीलू मेरे कमरे में आयी। 'रू, यूक्लिड पूछ रहा है कि क्या आज कैटलॉग नहीं बनाओगी ?'

'बनाऊँगी, जरूर बनाऊँगी।' मैं नीचे जाने के लिए तैयार हुई। बाल ठीक किये, बिंदिया लगायी। हम लोगों का और तो कोई साज-सामान ही नहीं है। सेंट भी नहीं लगाती हूँ, वह तो ठहरी विलायती चीज, इसीलिए हम लोग गुलाबजल, केवड़ा और कभी-कभी इत्र का व्यवहार करते हैं। माँ कहा करती है : मुझे उस सबकी जरूरत नहीं है, मैं ठहरी पद्मिनी-कन्या, मेरी देह से वैसे ही सुगन्ध आती है। तो फिर क्यों मैं सुगन्ध लगा रही हूँ ? सो क्या भला मैं नहीं जानती हूँ ? मैं उसे धोखा दे रही हूँ। बेचारा सोच रहा है कि मैं उसे ठेले दे रही हूँ, मगर यह सच नहीं है। बल्कि मैं तो चाहती हूँ कि वह मेरे पास ही रहे।

सीढ़ियाँ उतर रही हूँ और मेरे शरीर में सिहरन हो रही है—यह ठीक उसी दिन घटा कि नहीं, यह मैं नहीं बता पाऊँगी। कारण—मेरी तो कोई डायरी नहीं है। बयालीस वर्ष पहले की बात मैं लिख रही हूँ—डायरी से भी नहीं, स्मृति से भी नहीं। इसीलिए घटनाएँ ठीक-ठीक एक के बाद एक लिखी जा रही हैं कि नहीं, यह मैं नहीं जानती।

'एक के बाद एक,' अर्थात् तब जो मन में एक के बाद एक-सा लगा था, परन्तु अभी तो इसका आगे भी नहीं है, पीछे भी नहीं है—अभी वे तमाम दिन एक ही समय मौजूद हैं, अपनी बात को मैं समझ नहीं पा रही हूँ। मगर समझाने में कठिनाई क्या है ? श्रीकृष्ण के विस्फारित मुख में अर्जुन ने तो समस्त ब्रह्माण्ड को देखा था। मैं भी आज वैसा ही देख रही हूँ। पार्वती और गौतमी, तुम लोगों को विश्वास करना होगा—कि यह स्मृति नहीं है, वर्तमान है, मैं तो हर क्षण 1930 ई० में जी रही हूँ। मुझे लिपटाये हुए है 1930 ई० का वर्ष। इसीलिए तो मैंने लिखा है :

समय का समुद्र कर पार
जो जीवन गया है खो
यदि वह आये ही फिर लौटकर
मन के आकाश में प्रकाश बनकर,
चाँद-तारों के साथ बैठ
एक आसन पर
वह सूर्य-स्वरूप
दिखायेगा मुझे विश्वरूप—
अन्य उपाय नहीं तब
प्रणिधाय कायम्—चाहती हूँ प्रसन्नता...।

मैंने इसीलिए तुम लोगों से कहा है—प्रसीद, प्रसीद, प्रसन्न होओ—अपना समस्त जीवन—भूल, भ्रान्ति, अपराध व त्रुटि, सब-कुछ लेकर तुम लोगों से, मनुष्यों से, निवेदन कर रही हूँ—और किसी ईश्वर को मैं नहीं जानती।

किन्तु मैं अर्जुन की भाँति इस रूप को समेट लेने के लिए नहीं कहूँगी। मैं तो देखना चाहती हूँ। मैं फिर से देखना चाहती हूँ। मैं अपने दोनों हाथों से उसे पकड़ना चाहती हूँ।...अलौकिक प्रत्याशा ने आकर मेरी बुद्धि के केन्द्र को शिथिल कर दिया है; मैं प्रार्थना कर रही हूँ, यदि सच-मुच ही कहीं कोई हो हम लोगों का भाग्यनियन्ता, तो आये और इन चालीस वर्षों को पार करके मुझे लौटा ले चले। उसके चेहरे की रेखाएँ मुझे नजर नहीं आ रही हैं; सिर्फ उसकी आँखों की तीक्ष्ण दृष्टि के अलावा उसके चेहरे का और कुछ मैं देख नहीं पा रही हूँ—हर समय उसके गोरे-गोरे गालों को देखती हूँ और देखती हूँ उसका सीना—खुली कमीज के अन्दर से झाँकता हुआ उसके वक्ष का तनिक-सा अंश। मैं वहाँ कान लगाकर सुनना चाहती हूँ—गहरायी में, खूब गहरायी में जन्मान्तर की तरह विच्छिन्न हालांकि युक्त वह आश्चर्यजनक स्वर अभी भी कहीं बज रहा है कि नहीं...? 'उस प्रथम प्रकाश की पद-चाप;' उस प्रथम प्रेम का कल्लोल !

हम लोग करीने से किताबें रख रहे हैं—नाम लिख रहे हैं कार्डों पर—बक्से में कार्डों को डाल रहे हैं। हम लोग काम करते जा रहे हैं, चुपचाप। मैं कनखियों से देख रही हूँ—उसका हाथ जरा-जरा काँप रहा है—उसके हृदय में क्या हो रहा है, कौन जाने ! पर उसके बाद ? उसके बाद ही क्या ? पता नहीं, किस दिन, कहाँ ? और किस कमरे में ? मैं कुछ नहीं देख पा रही हूँ, मैं देख रही हूँ एक सलाखोंदार बड़ी-सी खिड़की—और उसके सामने हम लोग खड़े हैं। मैंने सहसा पाया कि मैं उसके बाहु-पाश में हूँ और उसका मुँह मेरे मुँह पर झुकता आ रहा है—मैं कोशिश कर रही हूँ आपने-आपको छुड़ा लेने की, लड़ रही हूँ, पर क्यों लड़ रही हूँ, कौन जाने ! पता नहीं, पराजित होने के लिए ही—निश्चित ही। मिर्चा ने मेरे मुंह पर अपना मुँह रख दिया। नरम मधुर स्पर्श से मेरा मुँह खुल गया; मैंने अपने मुँह के अन्दर उसके मुँह का स्पर्श पाया। मेरा सारा शरीर गा उठा है, फिर भी मेरी आँखों से आँसू झर रहे हैं, ऐसी ही हूँ मैं—हर्ष की बात क्या है और विषाद की क्या—कुछ समझ में नहीं आता है !

पता नहीं, वह कहाँ से इतना आनन्द जुटा पाया है ? और ऐसा कैसे होता है ? मैंने जो सुना था, आराधना ने मुझे जो बताया था, यह तो उससे कहीं ज्यादा अच्छा है। अवश्य, सुनने से कुछ भी समझ में नहीं आता है। पढने से भी नहीं। तो ऐसा सभी जानते हैं क्या—कुछ ऐसे ही प्रश्न मेरे दिमाग़ में आ रहे हैं, मन तो लबालब भर गया है—तनिक भी पाप-बोध नहीं है—और मुझे भला पाप लगेगा ही क्यों ? मैंने तो कुछ नहीं किया है—मैंने तो बाधा तक दी है। मिर्चा को पाप लगे तो लगे। उन लोगों के देश में तो इसमें पाप नहीं होता है। उसने जितनी-सारी कहानियाँ सुनायी हैं उनसे मैं यही समझ पायी हूँ। उसने मुझे छोड़ दिया है, मैं अपने बालों को ठीक कर रही हूँ, ढरके हुए आँचल को सहेज रही हूँ। मन के भीतर गुनगुनाहट हो रही है—'मेरे प्राणों के भीतर अमृत है, चाहिए क्या ?'

'रु, रु, रु...!'

'आ रही हूँ, माँ।'

मेरा शरीर हलका-सा हो गया है, मैं डग नहीं भर पा रही हूँ, उड़ी जा रही हूँ—मेरे बिखरे बालों के गुच्छ दोनों ओर परों की तरह हो गये हैं—मन का मयूर नाच रहा है। मैं सीढ़ियाँ उछल-उछलकर चढ़ रही हूँ—'उल्लास से उनमना सी' कल्लोलित है वेणु-वन, कम्पित किसलय पर है मलय-पवन का चुम्बन!'

हठात् नज़रें उठायीं तो देखती हूँ, सीढ़ी पर शान्ति मेरी ओर स्थिर दृष्टि से निहार रही है; उन आँखों में ईर्ष्या नहीं है—नहीं, नहीं, निन्दा भी नहीं; है, सिर्फ़ सन् प्रत्यय, 'ज्ञा' धातु के उत्तर में, जिज्ञासा, जिज्ञासा, ज्ञान की इच्छा। लेकिन मारे डर के मेरे हाथ-पाँव ठण्डे हो गये हैं, 'कम्पित किसलय' स्तम्भित हो गया है—'मलय-पवन का चुम्बन' व मलय-पवन किस विपरीत दिशा में बहने लगा है, कौन जाने! किन्तु साहस दिखाने की ज़रूरत है, डरने से ही ख़तरा है। इसीलिए मैं निर्विकार मुँह से बोली, 'क्या देख रही है मुँह बाये?'

'मुँह बाये क्या देख रही हूँ? कहाँ थी इतनी देर?'

चोर की माँ का गला ऊँचा! मैंने बड़ी अकड़ दिखाते हुए कहा, 'तुम्हें पता नहीं? कैटलोग बना रही हूँ न!'

शान्ति ठगी-सी निहारती रही—फिर उसने कुछ नहीं पूछा, न जाने कैसी उदास-सी हो गयी वह, तो क्या उसकी आँखें भर आयी हैं?

शान्ति मुझसे पाँच साल बड़ी है। मैं सोलहवाँ पूरा करके सत्रहवें में क़दम रखूँगी, तब वह अपना इक्कीसवाँ पूरा करके बाईसवें में पहुँचेगी। वह देखने में अपने बड़े भाई मुन्ने की तरह ही है, उसका मुँह चौड़ा है, नाक भी बहुत-कुछ वैसी ही है, उसका और कुछ विशेष सुन्दर नहीं है, सिर्फ़ उसकी दोनों चमकती आँखों के ऊपर की धनुष-जैसी दोनों भवों की रेखाओं के सिवा। वह बहुत बातें किया करती है, बड़ी ख़ुशमिज़ाज लड़की है। वे लोग हमेशा से ग़रीब हैं, बहुत ही ग़रीब। उसका बड़ा भाई और

वह दोनों ही हमारे घर में रहते हैं। शान्ति लिखना-पढ़ना थोड़ा-सा ही जानती है—कुछ सीखने का मौक़ा ही कहाँ मिला उसे ? नौ वर्ष की उम्र में तो पूर्वी बंगाल के किसी गाँव के एक उन्नीस साल के लड़के के साथ उसका व्याह ही हो गया था। उस लड़के का नाम था—रमेन। उन्नीस साल का वह लड़का एक वर्ष के बाद ही बीस का हुआ, और फिर एक वर्ष बाद ही इक्कीस का हो गया, तब उसकी पूरी जवानी आ चुकी थी। मगर शान्ति तो इन दो वर्षों में मात्र ग्यारह साल की हुई थी। तब भी बहुत छोटी-सी बच्ची थी। काका कहा करते थे, रमेन ने सोचा था कि एक सुबह नींद टूटते ही वह देखेगा कि उसकी बहू क़द्दावर जवान लड़की हो चुकी है—पर जब वह वैसी न हो सकी तो यह दोष उसकी बहू का ही है ! और उस महा-अपराध की सज़ा देने के लिए रमेन एक पूरी डीलडौल वाली जवान लड़की को व्याह लाया। यह लड़की सिर्फ़ बड़ी ही नहीं, सुन्दर भी थी। परिणामतः शान्ति अपने पति के घर में ही दासी बन गयी। उसका काम था सिर्फ़ उन दोनों की सेवा-चाकरी करना। अपने पति की खाट से उतरकर उसे ज़मीन पर सोना पड़ा। वे दोनों मसहरी लगाकर लेटे रहते और शान्ति बेचारी बैठकर उनके पाँव दबाया करती थी। जरा भी इधर-उधर होता तो वे इसे लतियाते थे शान्ति बताती थी : 'पाँव दबाने में उतनी आपत्ति नहीं थी, आख़िर पति का ही तो पाँव दाबती थी, मगर भाई, जो अखरने वाली बात थी वह थ फ़रीदपुर गाँव के मच्छरों का रात-भर काटना !' ऐसा आख़िर कित दिनों तक चल सकता है, और आदमी सहन भी भला कितना कर सक है ? अन्त में शान्ति ने एक दिन विष खाया, परन्तु मर नहीं सकी पड़ोसियों से खबर पाकर मुन्ना उसे जाकर लिवा लाया था। शान्ति माँ, जो अठारह सन्तानों की जननी थीं, शान्ति को उसके उसी दुराच पति के घर वापस भेजना चाहती थीं। कहती थीं—'कुछ भी हो पति घर ही तो लड़कियों का घर है।' मेरी माँ ने यह सब सुना तो तुरन्त अपने यहाँ ले आयी थीं। शान्ति की माँ ने कहा था, 'भाभी, तुम जो पति के घर नहीं जाने दे रही हो, तो यह जवान लड़की अकेली आ रहेगी कहाँ ? फिर जीवन-भर उसे रोटी-कपड़ा ही भला कौन दे

माँ ने कहा था, 'चिन्ता मत करो। वह हमारे घर रहेगी और नर्सिंग पढ़ेगी। मैं उसे उसके पैरों पर खड़ा कर दूँगी।'

दूसरे की मुसीबत में मदद पहुँचाने के मामले में माँ अकेली ही एक सेवा-संस्थान हैं। उन्होंने कितने लोगों को मदद पहुँचायी है इसका कोई हिसाब नहीं। मुन्ना भी इस घर में रहकर टाइपिंग सीख रहा है, लेकिन शान्ति और मुन्ना एक जैसे नहीं हैं। शान्ति दिन-रात मेहनत करके अपनी रोटी-कपड़े का कर्ज चुका देती है। सभी उस पर हुक्म चलाते हैं। मैं भी तो! 'शान्ति, एक गिलास पानी तो दे।' कहने में क्या किसी को कोई हिचक होती है? लेकिन मुन्ना? वह तो हँस सकता है। इसके अलावा वह घर के किसी काम में हाथ नहीं बँटाता। पिताजी तो उसे फूटी आँखों नहीं देख सकते हैं। वह स्वयं पिताजी के सामने आने से कतराता है। अगर पिताजी की चले तो वे उसे इसी दम निकाल बाहर करें, मगर माँ की वजह से वे कुछ कर नहीं पाते हैं। माँ तो किसी को नहीं खदेड़ेंगी। और इस गृहस्थी में निःसन्देह वे ही मालकिन हैं। बेचारी शान्ति को पति रहते भी विधवा का जीवन-यापन करना होगा—इसके लिए माँ को बहुत दुःख है। लेकिन पूरे तौर पर विधवा का जीवन-यापन नहीं करना पड़ता है, वह सिंदूर लगा सकती है, पाड़ वाली साड़ी पहन सकती है, दो जून भात तो खा ही सकती है, मछली भी खा सकती है। किन्तु ब्याह उसका फिर नहीं होगा। हिन्दू-लड़की का पति के मरने पर भी ब्याह नहीं होता है तो पति के रहते भला कैसे होगा! किन्तु माँ की अगर चलती तो वे उसका ब्याह करा देतीं। माँ कहती हैं: 'यदि कोई उपाय रहता तो मैं शान्ति का ब्याह करा देती। आखिर वह तो कुँआरी ही है—किन्तु उपाय ही तो नहीं है। गैरकानूनी काम करने से रमेन यहाँ आकर धमाचौकड़ी मचा देगा, अर्थात् धुंधु नामक राक्षस की हत्या करने के समय जिस तरह का कोलाहल हुआ था, रास्ते पर खड़ा होकर उसी तरह का कोलाहल करेगा। लोगों को इकट्ठा करेगा, थाने जायेगा, यह सब वह कर सकता है—बल्कि ऐसा उसने साधारण-सा बहाना मिलने पर दो-एक बार किया भी है।

परन्तु शान्ति एक आदमी को प्यार करती है—वह उसको माँ के

र के नजदीक ही रहता है—उसके क़दमों की आहट सुनने के लिए ान्ति के कान आतुर रहते हैं। किन्तु इस घर में वह क़दम नहीं रखता ! उसके तो पत्नी है, वह विवाहित है। शान्ति के जीवन की इस समस्या का कोई समाधान नहीं है।

इसीलिए मैं सोच रही हूँ, शान्ति की आँखों में आँसू क्यों दिखायी पड़े ? उसने तो इतनी तकलीफ़ पायी है कि उसकी आँखों के आँसू ही सूख चुके हैं। एक शंका मेरे कलेजे को टीस गयी। और तभी उस गीत की पंक्ति गूंज उठी दिमाग़ में—'शंकित चित्त मोर, टूटे न कहीं वृन्त-डोर...।' अच्छा तो रवि ठाकुर ने इतना जाना कैसे ? उनको भी निश्चय ही ऐसा अनुभव हुआ होगा—ऐसा, मतलब मिर्चा की तरह, मेरी तरह नहीं, मैं तो लड़की हूँ—! वाह, यह तो लड़कियों की ही बात है, 'लाज रक्त रागे, गोपन स्वप्न जागे।' यह तो लड़के की बात नहीं है, 'लाज' 'शर्म'—ये सब तो लड़कियों की बातें हैं। तब तो किसी लड़की ने उनसे कहा होगा, पर वह कौन हो सकती है ? किताबों की खोज-बीन कर देखना होगा। लेकिन मन ने का —छिः, गुरुजनों के सम्बन्ध में ऐसी फ़ाल्तू बातें नहीं सोचते !

अथवा कविता मेरे मन अथवा शरीर में सार्थक हो रही है। शरीर में भी ? तो क्या शरीर गीत की लय को, अर्थ को समझता है ? निश्चय ही। वह गीत तो मेरे शरीर में ही अर्थ पा रहा है। इसीलिए तो मेरा नाचने को जी चाह रहा है, टलमल, टलमल, टलमल—मैं घूम रही हूँ, घूम रही हूँ, घूम रही हूँ। शान्ति कमरे में आयी और आईने के सामने तिपाई पर बैठ गयी। उसकी सुन्दर, दोनों टेढ़ी भवों के बीचोंबीच सिंदूर की बिंदिया चमक रही है; मेरा मन भी सिंदूर लगाने को हो रहा है। मैंने उसके मुँह को अपने दोनों हाथों में पकड़ा और गाने लगी : 'उसके सुगन्धित पराग के बीच आँसू की एक बूँद छिपती है...अरी शान्ति, यौवन-सरसी-नीर में मिलन शतदल क्या है, इसे तू जानती है ?'

'पगला गयी हो क्या ?'

'मेरा नाच सीखने का मन करता है। शान्ति-निकेतन में रवि ठाकुर लड़कियों को नाच सिखा रहे हैं।'

'तो जा न, जाकर सीख ले।'

'बस, जा चुकी !' पिताजी मुझे जाने देंगे ? वे तो मुझे कहीं भी नहीं जाने देंगे। मैं तो यहाँ बन्दी हूँ, अवश्य, स्नेह से बन्दी हूँ, किन्तु कोई भी कैद सुखद नहीं होती। एक बार रवीन्द्रनाथ ने मुझसे कहा था : 'तुम्हारे पिताजी से तुम्हें मैं कुछेक महीने के लिए उधार माँग लूँगा। मैं मालिनी नाटक के लिए किसी को खोज रहा हूँ। तुम वह भूमिका निभा सकोगी। मालिनी की तरह ही तुम्हारे मन का आकाश है।'

'मन का आकाश'—ऐसी बात कही, पहली बार ही सुनी थी मैंने। इसके पहले तो आकाश मेरे लिए सिर्फ आकाश ही था, मगर वह बात सुनने के साथ-ही-साथ आकाश मेरे मन में उतर आया और अपनी तमाम नीलिमा बिखेर गया। एक अनिर्वचनीय आनन्द से मन भर गया। वे शब्दों के जादूगर थे, शब्दों के द्वारा ही वे आकाश में बादलों को इकट्ठा करके पत्र-लेखा पर उतार सकते थे, मल्हार की जरूरत नहीं पड़ती थी। किन्तु पिताजी ने मुझे छोड़ा ? उन्होंने कहा : 'बस, नाटक-थियेटर करके ही जीवन बिताओ, और क्या ! छात्राणाम् अध्ययनम् तपः।'

'देख शान्ति, मेरा जब ब्याह हो जायेगा, और मैं जब आज़ाद हो जाऊँगी, तब मैं सावी को अपने घर ले जाऊँगी और उसे नाच सिखाऊँगी। कोई रोक नहीं सकेगा।'

मेरे मन की धारणा है कि ब्याह होने पर सभी स्वाधीन हो जाते हैं। हाँ, शान्ति की तरह ब्याह होने से कोई स्वाधीन नहीं होता। किन्तु कौन है स्वाधीन? मेरी माँ क्या स्वाधीन हैं? तनिक भी नहीं। अच्छा, तो मेरा ब्याह किससे होगा? मिर्चा! मिर्चा! नहीं, नहीं, उससे तो हरगिज़ नहीं होगा। वृन्त-डोर टूटेगी ही। मैं शान्ति के गले से लिपटकर रोने लगी। वह बड़े अचम्भे में पड़ गयी थी: 'तो रो क्यों रही हो, भाई, आखिर नाच सीखकर क्या होगा? और कई कुछ जो नहीं ही सीखा तो क्या बिगड़ेगा?'

'उसके लिए नहीं, शान्ति, मेरा मन अस्थिर-सा हो रहा है। बहुत अजीब-सा हो रहा है।'

बड़ा-सा टेबल-लैम्प जल रहा है, उसका घेरा तो एक सफ़ेद गोल बड़े बर्तन-जैसा है। एक ओर बेंत के सोफ़े पर मैं उठंग बैठी हुई हूँ। दूसरी र खाट पर मिर्चा बैठा हुआ है। उसने अपने पैरों को पसार दिया है। इसी मुद्रा में उसके पैर ही मुझे बार-बार याद आते हैं। उसके पैर को मेरी ज़रा छूने की इच्छा हो रही है—पैर से नहीं, हाथ से। हिश्, उसके पैरों को मैं क्यों हाथ लगाने जाऊँ? वह तो मुझसे कोई इतना बड़ा नहीं। और इसके अलावा वही तो मेरा पाँव पकड़ेगा—मैं यदि राधा की तरह मुँह फुलाकर और गर्दन टेढ़ी करके बैठूँ तो फिर वह मेरा पाँव पकड़ेगा: 'देहि पद-पल्लव मुदारम्!' अगर ऐसा होता तो बहुत अच्छा होता। सचमुच का मान तो बन ही नहीं पा रहा है। बस, इस कविता के चलते ही ऐसा सोच रही हूँ। 'गीतगोविन्द' पढ़ने से ऐसा ही एक दृश्य नज़रों के सामने तिरने लगता है। राधा गर्दन घुमाये बैठी हुई है और कृष्ण पाँवों के पास नत हैं। कृष्ण का रंग काला नहीं, सफ़ेद है। हमारी ब्राह्मण महा-राजिन गाना गा रही हैं—'मान किये रहना भला कहीं शोभा देता है!'

अभी जयदेव पढ़ रही हूँ। नीले रंग की जिल्द पर पूर्ण चक्रवर्ती के बनाये चित्र वाली बंगला-अनुवाद सहित एक किताब उपहार में मिली है। बंगला-अनुवाद अवश्य नहीं पढ़ती, जरूरत क्या है ऐसी कविताएँ पढ़ने की ? 'गीतगोविन्द' वैसे ही समझ में आ जाता है—यद्यपि पूरे का पूरा समझ में नहीं आता है। जैसे 'स्मरगरल खंडनम्'—तो यह गरल क्या है ? गरल भला कहाँ होता है प्रेम में ?

सच कहने में क्या दोष है, 'महुआ' भी पूरा समझ में नहीं आता है—पिताजी कहते हैं, 'महुआ' की 'माया' नामक कविता में एक गम्भीर दार्शनिक तत्व है। मुझे उन्होंने समझा भी दिया है। किन्तु मैं अभी दार्शनिक तत्व में मन नहीं दे पा रही हूँ। इस कविता को अभी मैं कुछ और तरह से समझ रही हूँ। इतनी अच्छी तरह से उसे किसी दिन भी नहीं समझा था। प्रति दिन नये सिरे से समझ रही हूँ—किन्तु 'महुआ' की उस कविता को—'तो बस इसी क्षण हो जाय चिरकाल'—मैं समझ नहीं पा रही हूँ। इसी क्षण आखिर चिरकाल क्यों हो जाये ? क्या जरूरत है इसकी ? चिरकाल को ही भला क्यों नहीं पाऊँगी ? बल्कि उसे समझ सकती हूँ : 'हम दोनों स्वर्ग के खिलौने नहीं गढ़ेंगे धरती पर...।' उस दिन मिर्चा को यह सुनाया था। उसे बहुत अच्छा लगा था।

मैं उसकी ओर देख रही हूँ—उसके आँख-मुँह पर न जाने कैसा अन्यमनस्कता का-सा भाव है, वह क्या सोच रहा है, कौन जाने !—आज यदि वह मुझे ह्विटमन सुनाना चाहे तो मैं सुनूँगी ही नहीं। उस दिन उसने तीन कविताएँ सुनायी थीं, वे कविताएँ क्या खाक हैं !

किन्तु मिर्चा तो आज साहित्य के बारे में नहीं सोच रहा है। उसकी बंगला पढ़ने की भी इच्छा नहीं है। उसने सिगरेट बुझाकर राखदान में डाली और मेरी ओर एकटक दृष्टि से ताका। उसके बाद चश्मा उतारा और पोंछा—मैं उसकी बिना चश्मे की आँखें देख रही हूँ। वह चश्मा उतारता है तो मुझे बड़ा डर लगता है, क्योंकि तब उसकी दृष्टि बदल जाती है—वह दूसरा आदमी-सा लगने लगता है। 'तुम चश्मा उतारते हो तो मैं सहन क्यों नहीं कर पाती हूँ, मिर्चा ?'

'मुझे मायोपिया है।'

उसकी आँखों के लिए मुझे बड़ा डर लगा करता है, जाने कहीं अन्धा तो नहीं हो जायेगा ! वह बोला, 'एक बात कह रहा हूँ, सुनो। तुम मुझ से व्याह करोगी ?'

मुझे बड़ी हँसी आ रही है—इसे ही 'प्रपोज़' करना कहते हैं न—अँग्रेज़ी उपन्यासों में पढ़ा है। पर इतनी दूर पर बैठकर तो यह क़तई नहीं किया जाता—घुटनों के बल बैठकर हाथ पकड़कर 'प्रपोज़' करना पड़ता है। मगर वैसा तो कुछ उसने किया नहीं। बल्कि सात हाथ दूर बैठकर कह रहा है : 'तुम मुझसे व्याह करोगी ?' ग़ज़ब है !

इस कमरे का सामने वाला दरवाज़ा ही तो मकान में घुसने के रास्ते की तरफ़ खुला हुआ है। यहाँ से होकर हर घड़ी लोग आ-जा रहे हैं। पर्दा नाम की एक चीज़ तो है, पर बस सिर्फ़ कहने भर के लिए—उसका रहना, न रहना दोनों ही बराबर हैं—शायद इसीलिए वह लाचार है !

पियानो पर उसकी बहन की एक तसवीर है, बड़ी सुन्दर लड़की है वह—मेरी उससे दोस्ती करने की इच्छा हो रही है। मिर्चा अपनी बहन को सबसे ज़्यादा प्यार करता है। उसने कहा, 'मैंने अपनी माँ और बहन को तुम्हारे बारे में सब-कुछ लिखा है—वे लोग बहुत खुश होंगी तुमसे मिलकर। तुम्हें मेरे घर में कोई असुविधा नहीं होगी।'

इस बार मेरा कलेजा काँप रहा है। एक कागज़ और पेन्सिल पड़ी हुई थी सामने की मेज़ पर, उन्हें उठाकर मैं आड़ी-तिरछी रेखाएँ खींचने लगी हूँ। आखिर मैं उसे क्या जवाब दूँ ?

'बोलो, बोलो, मुझसे व्याह करने में तुम्हें कोई आपत्ति तो नहीं है कुछ बोल क्यों नहीं रही हो ?'

'मेरे कहने-भर से तो कुछ नहीं होगा मिर्चा, पिताजी कभी राज़ी न होंगे।'

वह हक्का-बक्का हो गया ! 'वे लोग राजी नहीं होंगे ? वे लोग राज़ी हैं ही।'

'तुम्हें कैसे पता है ?'

'वे लोग मुझे इतना प्यार करते हैं, मगर वे लोग राजी नहीं हैं तो मुझे इतना अपनाया क्यों है ?'

'वाह, तो इससे क्या होता है, इसका यह मतलब नहीं कि वे लोग तुमसे मेरा ब्याह होने देंगे।'

'अमृता, तुम अपनी बात बताओ, उनकी बातें बाद में होंगी, तुम्हारी बाधा तो नहीं है, मैं यह सुनना चाहता हूँ।'

लो देखो, मुझ पर अविश्वास कर रहा है ! मैं मन-ही-मन कह रही हूँ— अविश्वास मत करो, कम-से-कम तुम अभी अविश्वास मत करो—'त्वमसि मम जीवनम्, त्वमसि मम भूषणम्, त्वमसि मम भवजलधिरत्नम्'—पर मुँह से कह नहीं पा रही हूँ, कुछ नहीं कह पा रही हूँ, कुछ भी नहीं। मैं सिर नीचा किये कागज पर जैसे-तैसे लिखे जा रही हूँ। 'सुनो अमृता, मैं तुमसे कह रहा हूँ, मैं तुम्हें तुम्हारे प्रियजनों से दूर नहीं ले जाऊँगा, मैं यहीं रहूँगा। यूनिवर्सिटी में डेढ़ सौ रुपये महीने की एक लेक्चररशिप ले लूँगा—बस, और कुछ भी नहीं चाहता—इतने से ही अच्छी तरह गुजर-बसर हो जायेगी।'

'मगर मेरे पिताजी कभी राजी नहीं होंगे मिर्चा, कभी नहीं।'

'पर क्यों, मैं ईसाई हूँ इसलिए ? मेरी चमड़ी सफेद है इसलिए ?'

'क्यों, सो तो मैं नहीं जानती, लेकिन निश्चित रूप से तुम्हारे विदेशी होने की वजह से ही।'

'तो तुम क्या कहना चाहती हो कि प्रोफेसर सा'ब जात-पाँत मानते हैं ? दार्शनिक की नजर में भी हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, ईसाई आदि का भेद-भाव होता है क्या ?'

'खूब होता है।' मैं कागज पर लिख रही हूँ—तुम मेरे इतने नजदीक क्यों आये, कहाँ से आये, क्यों आये ?

वह कह रहा है : 'अगर ऐसी बात थी तो फिर उन लोगों ने तुम्हें मेरे साथ इस तरह से मिलने-जुलने के लिए क्यों छोड़ दिया ? हरदम एक साथ रहते हैं हम लोग...।'

'इससे क्या होता है ? भाई-बहन की तरह क्या हम लोग नहीं मिल-

जुल सकते हैं—? और हम लोग जो उस तरह नहीं रह सके, इसमें तो हमीं लोगों का दोष है।'

'यह कैसी अजीब बात है ?' वह विस्मित हुआ, मर्माहत भी। जैसे ऐसी बात उसने कभी सुनी ही नहीं हो। मुझे तो क्रोध आ रहा है, एक साथ मिलकर कैटलॉग बनाने को छोड़ देने का मतलब ही बात पक्की कर देना है क्या ? उसके साथ मुझे मिलने-जुलने दिया तो इसमें बुरा क्या हुआ ? वह बार-बार मुझसे पूछ रहा है कि मैं किसी दूसरे को प्यार करती हूँ या नहीं, और किससे पहले-पहल प्यार किया था ?

'पेड़ को, पेड़ को, एक छितवन के पेड़ को।' यह भला कैसी बात है ! यद्यपि पहले भी मैंने उसे बताया है, फिर भी ऐसा आश्चर्यप्रद कवित्व उसकी समझ में नहीं आता है। वह खूब गम्भीर हो गया है। मेरे हाथ का कागज आड़ी-तिरछी रेखाओं से भर गया है। 'महुआ' की जिल्द पर श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर लिखा हुआ था—उनके हाथ की लिखावट की नक़ल करना तब हम लोगों की एक आदत थी। सभी किया करते थे, मैं भी कर रही हूँ—वह उठकर खड़ा हुआ और देखा।

'तुम यहाँ इनका नाम क्यों लिख रही हो ? क्या इनसे राय लेनी होगी ? तुम मुझे प्यार करोगी कि नहीं, इसके लिए दूसरे की अनुमति हिए ?'

'सारा देश ही उनके हाथ की लिखावट की नक़ल किया करता है, इसका यह मतलब तो नहीं है !'

'सारे देश के लोग एक आदमी के हाथ की लिखावट की नक़ल करते हैं ? सारे देश के लोग क्या पागल हो गये हैं ?'

मैं उठी, चली जाने के लिए। मेरी उसके पास जाने की बड़ी इच्छा हो रही है, उसके कन्धे पर माथा रखने की इच्छा हो रही है; अगर ऐसा कर सकती तब तो इसी क्षण, उसके मन को जो क्लेश हुआ है वह दूर हो जाता। किन्तु यह सम्भव नहीं है। मैंने चौखट पर क़दम रखा ही था कि उसने कहा : 'अमृता, मेरी एक बात सुनो, रवि ठाकुर को भूल जाओ।'

'यह कैसी बात है मिर्चा, सूर्य को क्या कोई भूल सकता है ?'

'सूर्य ! मनुष्य सूर्य कैसे होगा ?'

'तुम जब बंगला भाषा सीखोगे तो तुम भी समझोगे कि मनुष्य सूर्य होता है कि नहीं।'

मैं मन-ही-मन कह रही हूं, तुम्हें तो मैं सूर्य दिखाऊंगी ही—यदि ऐसा कर सकी तो हम दोनों एक ही साथ सूर्योपासक बनेंगे।

अभी दो कामों को लेकर हम लोग बहुत व्यस्त हैं, एक तो काका का ब्याह होने वाला है और दूसरा, मेरी किताब छपने वाली है। काका खुद भी ब्याह करने के लिए बहुत उत्सुक हैं—लड़की तो पहली ही नजर में उन्हें भा गयी है—यद्यपि माँ को लड़की पसन्द नहीं आयी थी। खैर, फिर भी ब्याह वहीं से हो रहा है। इसी समय से मिर्चा ने नियमित धोती-कुर्ता पहनना शुरू किया है। धोती-कुर्ता पहनने पर वह कैसा सुन्दर लगता है! मगर यह बात मैंने उसे नहीं बतायी है। क्यों बताऊँ? वह कहता है कि मैं सुन्दर हूँ कि नहीं, यह उसकी समझ में नहीं आता। जरूर ही उसका ऐसा कहना निरर्थक है, क्योंकि मेरे हाथ में काफी सबूत हैं। जैसे, मिर्चा के आने के कुछ दिनों पहले मेरी एक मौसेरी दीदी सीता के ब्याह का सम्बन्ध एक जमींदार के लाडले के साथ हुआ था। हमारे ही घर में लड़के वालों ने लड़की को आकर देखा। लड़के के नाते-रिश्तेदारों ने आकर लड़की के बाल खोल कर देखे, उसके बदन के रंग को खूब छान-बीन करके परखा और उससे गाना भी सुना। यद्यपि उसका हारमोनियम पीटकर गाना सुनना उन लोगों के भगाने के लिए काफी था, फिर भी वे भागे नहीं—आखिर उन्हें लड़की पसन्द आ गयी। उन लोगों ने कहा, सब-कुछ जब ठीक हो ही गया है तो अब लड़का आये और लड़की को देख ले। लड़का आधुनिक है, लड़की से परिचय करना चाहता है। लड़की की माँ आधुनिक थी। उन्होंने कहा, लड़का आये, सभी से उसकी जान-पहचान हो। हमारा किस तरह का कल्चर्ड परिवार है—कुछ इसका भी परिचय पा ले। तो लड़का आया, उसका नाम था मृणाक। बड़ा गोरा-चीरा-सा, जमींदार के बेटे के लायक ही सुडौल, चिकना-सा

चेहरा-मोहरा। साधारणतया उसे सुन्दर कहा जा सकता है। माँ की तो इच्छा नहीं थी कि मैं उसके सामने बाहर निकलूँ—किन्तु दुलहिन की माँ ने कहा, इसमें क्या है। व्याह तो ठीक हो ही गया है, अब नाते में साली लगने वाली लड़कियाँ सामने न निकलें तो कैसे जमेगा ?

माँ तो भला यह नहीं कह सकती थीं कि तुम्हारी बेटी से मेरी बेटी देखने में अच्छी है, कहीं कोई गड़बड़ी न हो जाये। आखिर मृगांक आया। दो दिन खाया-पिया, सिनेमा देखा। खूब शोर-शराबा किया हम लोगों ने। मैंने तो मान ही लिया था कि दीदी के साथ उसका व्याह होगा, इसीलिए सालियों का-सा वर्ताव किया था, हँसी थी, और उसे हँसाया भी था। उसके बाद मृगांक नौ-दो ग्यारह हो गया। उसके होस्टल में पूछ-ताछ की गयी तो मालूम हुआ कि वह अपने गाँव चला गया है। बाद में गाँव से उसके पिता ने जताया कि मृगांक विलायत जा रहा है बैरिस्टरी पढ़ने, अभी तो वह हरगिज व्याह करने को राजी नहीं हो रहा है। बहुत सिर खपाया गया, ज़मीन-आसमान के कुलाबे मिलाये गये यह जानने के लिए कि इस तरह के मत-परिवर्तन का कारण क्या हो सकता है, पर कुछ भी पता नहीं चल सका था। जो हो, आखिर मौसी ने कहा था, ऐसे चंचल-मन लड़के के साथ व्याह नहीं हुआ तो अच्छा ही हुआ। और अब सुन रही हूँ, कई दिन पहले पिताजी के पास विलायत से उसने प्रस्ताव भेजा है कि वह मुझसे व्याह करना चाहता है। पिताजी, माँ वग़ैरह सभी असन्तुष्ट हैं। माँ बोलीं, 'तभी दीदी से कहा था—रू को बाहर नहीं निकलने दूँगी उसके सामने। नाते-रिश्तेदारों में ऐसा कहीं अच्छा माना जाता है!' पिताजी ने कहा : 'ज़्यादा फ़ॉरवर्ड बनने की धुन सवार होने पर ऐसी ही हालत होती है।' और नानी ने कहा : 'एक लड़की को देखने आकर दूसरी लड़की की ओर जो बुरी नज़र डाले वह चरित्रहीन है। उसके साथ तो व्याह हो ही नहीं सकता है।' बस, बात खत्म।

लेकिन यह कहानी आज अगर उसे सुनाऊँ तो क्या होगा?

हो, हो, हो, हो, तो फिर क्या हो ? बड़ा मज़ा आयगा। मैं बहुत गम्भीर भाव से उससे कह सकती हूँ : 'देखो, तुम तो देख नहीं पाते कि मैं

सन्नाटे में आ जाती हूँ। उन लोगों की धारणा है, कि वे अँग्रेज हैं, इस-लिए हमारे मालिक हैं वे। और हम बंगाली एकदम गये-बीते निम्न स्तर के जीव हैं। वे लोग तो हम लोगों को पशु ही समझते हैं। 'गेंडी' (महात्मा गांधी) के प्रति उन्हें बड़ी घृणा है, और गुस्सा भी। खुद वे लोग गन्दे और गंवार हैं, लेकिन हम बंगालियों को गँवार समझते हैं! मिर्चा को वहाँ रहने में ठीक ही तकलीफ़ हुई थी। यहाँ तक चर्चा हुई कि उसका जी मिचलाने लगा।

हम लोग तो इस जात को पहचानते तक नहीं हैं। वे लोग कहाँ रहते हैं, क्या करते हैं, कैसे हैं उनके रीति-रिवाज—कुछ भी तो हम लोगों को मालूम नहीं है। हम लोग एक देश में रहते हैं, और एक-दूसरे के बारे में नहीं जानते। हम सभी एक साथ एक ही देश में रहते हैं, हमेशा एक साथ रहेंगे भी फिर भी हम एक-दूसरे को पहचान नहीं सकेंगे। उन्होंने हम लोगों के सम्बन्ध में कितनी बुरी धारणाएँ बना रखी हैं, और हम लोगों ने? उनका कोई अस्तित्व भी है, इसका तो मैंने कभी खयाल तक नहीं किया। हम लोगों के सम्बन्ध में वे कुछ सोच रहे हैं, इसके बारे में सिर खपाने की भला फ़ुरसत किसे है? मिर्चा नहीं बताता तो किसी दिन भी मुझे याद तक नहीं आता कि एंग्लो-इण्डियन नाम की कोई जात इसी देश में बसती है। ट्रेन में आती-जाती हूँ तो वे लोग या तो वहीं नजर आ जाते हैं, या दूर अपने-अपने रेलवे-क्वार्टरों में। पर मुझे वे बुरे नहीं लगते—वे लोग पर्दों को खींचकर खिड़कियों में टाँगते हैं—बंगाली उस तरह पर्दों को तानकर नहीं टाँग सकते। वे खिड़कियों पर फूलों के गमले रखते हैं, बाग लगाते हैं—पर बंगाली ऐसा नहीं करते। लेकिन वे हम लोगों से घृणा करते हैं और बहुत ही घृणा करते हैं, मिर्चा नहीं भी बताता तो भी मुझे पता है कि वे हमारे साथ एक ही डिब्बे में सफ़र नहीं करेंगे। और हम लोग क्या उनसे घृणा नहीं करते? करते हैं और खूब करते हैं! हम लोग उन्हें वर्ण-संकर कहा करते हैं! क्या यह सम्बोधन हमारी घृणा का सूचक नहीं है? किसी को वर्ण-संकर कहना क्या अच्छी बात है? वे लोग हम लोगों को अच्छी तरह नहीं जानते हैं, इसीलिए घृणा करते हैं। यदि जानते होते तो घृणा नहीं करते। मैं अगर उन लड़कियों के साथ

मिल-जुल सकती हो वे कभी मुझसे घृणा नहीं करतीं। आज तक किसी ने मुझसे घृणा नहीं की है। यह जो लड़का मिर्चा के पास बीच-बीच में आया करता है, एक बार उससे हेल-मेल बढ़ाकर देखूँ न कि कैसे वह मुझसे घृणा करता है! हिश, बड़ा आया घृणा करने वाला! मैं अगर कहूँ, मिर्चा, उससे मेरी तनिक जान-पहचान करा दो न, मैं परखना चाहती हूँ कि वह मुझसे घृणा करता है कि नहीं, तो फिर क्या होगा? हो, हो, हो, पंछी चहकेगा फिर से—'मम यौवन निकुंजे गाहे पाखी।'

मिर्चा आजकल रोज ही नीचे पहन धोती पहना करता है—और सुन रही हूँ कि वह आर्य बनेगा, हिन्दू-धर्म स्वीकार करेगा। उसने तो हिन्दू धर्म-शास्त्र का अध्ययन किया है, पर इसके लिए धर्म-त्याग करने की जरूरत क्या है? मुझे पता नहीं कि वह आखिर हिन्दू क्यों होना चाहता है, लेकिन देखती हूँ कि बाबा इस विषय में बहुत अधिक उत्साह दिखा रहे हैं। कहीं ऐसा तो नहीं कि वह सोच रहा हो कि वह अगर हिन्दू हो जाय तो फिर उसका मेरे साथ ब्याह होने में और कोई बाधा नहीं रहेगी? अगर वह ऐसा सोचता है तो यह उसकी भूल है, निरी भूल है। वह हमारे समाज को बिलकुल ही नहीं जानता है। किसी युक्ति के आधार पर यहाँ कोई काम नहीं होता है—पिताजी क्या नहीं जानते हैं कि उनके छात्रों में ये मिर्चा निःसन्देह श्रेष्ठ है? किन्तु इससे क्या आता-जाता है? वह ठहरा अन्य जाति का लड़का—इतना ही नहीं; एक तो वह विदेशी है, उस पर ईसाई, और अगर ऐसा नहीं भी होता—अर्थात् वह अगर बंगाली हिन्दू होता तो भी बात नहीं बनती, उसे हमारी ही जाति का होना चाहिए था। और अगर अपनी जाति का भी होता तो भी काम नहीं चलता—उसे भिन्न गोत्रीय होना पड़ता! हाय, हमारे यहाँ कितने 'छोटे-बड़े नियमों' की उलझनें हैं—यह उसे नहीं पता। वह जानता तो है सब-कुछ जानता है, अनवरत सुन भी तो रहा है—फिर हमारी प्रथाओं और संस्कारों के सम्बन्ध में उसकी जिज्ञासाओं का अन्त भी तो नहीं है, किन्तु उसे यह पता नहीं है कि इन प्रथाओं-संस्कारों का हमारे घर में भी उतना

ही पालन किया जाता है। पिताजी भी, जो इतने बड़े जानकार, समझ वाले आदमी हैं, जिनके अगाध पांडित्य का अन्त नहीं है, नहीं जानते हैं कि मनुष्य का सुख-दुःख उसके गोत्र या जाति पर निर्भर नहीं करता। और मैं ? मैं यह सब क़तई नहीं मानती। मिर्चा के साथ मेरा व्याह यदि न भी हो, तो भी मैं अपने तमाम जीवन के द्वारा यह साबित कर दिखाऊँगी कि मैं यह सब नहीं मानती। किसी भी आचार या प्रथा को मनुष्य से कभी भी बड़ा नहीं मानूंगी मैं। जाति की बात तो दूर, मैं हिन्दू-समाज का कुछ भी नहीं मानती हूँ। यहाँ तक कि मैं 'पूजा' को भी नहीं मानती। उस बार अपने गाँव के घर में 'पूजा' के समय जो कुछ हुआ था, वह बात मुझे नहीं भूलती। भला हुआ क्या था ?

दो वर्ष पहले मैं अपने गाँव गयी थी, गाँव अर्थात् पूर्वी बंगाल के अपने गाँव के घर। उस घर में सत्तर आदमी एक साथ रहा करते हैं। ये सब आपस में एक-दूसरे के चचेरे-तयेरे भाई और उनके बाल-बच्चे हैं। इनके अतिरिक्त वहाँ क़रीब पन्द्रह-बीस छात्र रहते हैं और वे इस वैद्य के घर की पाठशाला में पढ़ते हैं। एक साथ सबकी रसोई बनती है। इस घर के जो कर्ताधर्ता हैं वे ही भाइयों में सबसे बड़े हैं। वे ही सबसे अधिक कमाते हैं और दूसरों को मोटे तौर पर वही पालते हैं। वे बड़े ही रोब-दाब वाले आदमी हैं—उनके दो पत्नियाँ हैं। बड़ी बहू के कोई लड़का नहीं हुआ, इसीलिए उन्होंने दुबारा व्याह किया। उनके इस काम की वजह से मेरी माँ, काका वग़ैरह उनसे नाराज़ नहीं हैं। किन्तु घर में बहुतेरे ऐसे हैं जो उनसे नाराज़ नहीं हैं या नाराज़ हैं भी तो उनके खिलाफ़ कुछ बोलने का उनमें साहस नहीं है—कारण, वे ही उन सबकी भात-पत्तल जुटाते हैं !

पूजा के समय हम लोग दो-चार दिनों के लिए वहाँ घूमने गये थे—हम लोग कलकत्ता के रहने वाले थे, मेरे पिताजी नामवर थे, धनवान थे, इसीलिए हम लोगों की बड़ी खातिरदारी की जा रही थी। पूर्वी बंगाल के ऐसे धनाढ्य गृहस्थ-परिवार में पूजा का विराट आयोजन किया जाता है—कितने दिनों से चंडीमंडप में प्रतिमा बनायी जा रही थी, लड्डू बनाये जा रहे थे, लावे भूने जा रहे थे, तिल कूटे जा रहे थे। मैंने गाँव

का जीवन तो ज्यादा कुछ देखा नहीं था, इसीलिए मैं खूब उत्साहित थी और हमारे रिश्ते के भाई-बहन आदि भी सिल्क की साड़ी और मखमल की चप्पल पहने अपनी एक शहरी बहन को पाकर गर्वित व आनन्दित थे—यद्यपि मैं ठीक दूसरे ही दिन अपनी मखमल की चप्पल को उतारकर उन लोगों के दल में शामिल हो गयी थी। हमारा एक बहुत बड़ा-सा दल तैयार हो गया था, हम लोग खूब मटरगश्ती किया करते थे। जब हम लोग नाव पर सैर-सपाटे के लिए निकलते तो नदी के दोनों किनारे के सुहावने दृश्य देखते ही बनते थे—दोनों किनारे दूर तक फैली बँसवाड़ियाँ कहीं-कहीं अपनी लम्बी-लम्बी जटा-रूपी उँगलियों से पानी को छूती-सी बड़े-बड़े पीपल और बरगद की झुकी डालियाँ नजर आती थीं। यद्यपि मैं पूजा के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानती थी और पहली बार अपने घर में यह पूजा देख रही थी, फिर भी पूजा का आयोजन मुझे बहुत अच्छा लग रहा था। हर दिन को जैसे अलंकृत किया जा रहा था। कितनी तरह के समारोहों की बारीकी से तैयारी हो रही थी : 'आनन्दमयी के आगमन से आनन्द से धरती छा गयी है।' सच कहने में क्या दोष ? पूर्वी बंगाल के उस गाँव के पूजा-मंडप के सामने मैंने किसी कंगाल लड़की को खड़ी रहते नहीं देखा था। हम सभी खुशी से फूले नहीं समा रहे थे।

पहले दिन जिस घटना से गड़बड़ हुई वह थी कि पाठशाला के बरामदे पर बहुतेरे लोग बैठे हुए थे, और मैं बारी-बारी से सबको प्रणाम कर रही थी। वहाँ एक श्वेतश्मश्रु सौम्य-दर्शन वृद्ध को देखा; मैं उन्हें प्रणाम करने ही वाली थी कि सभी वे लगभग उछल-से पड़े और न केवल उन्होंने रोका, बल्कि दूसरों ने कहा भी : 'उन्हें प्रणाम नहीं करना है, वे मुसलमान हैं।' मैं तो स्तम्भित हो गयी थी, इतनी अभद्रता कहीं कोई कर सकता है ?

ताऊजी जैसे मेरे इस अपराध के लिए क्षमा-प्रार्थी थे, 'बच्ची है, नादान है।' मुझे सबसे ज्यादा दुःख हुआ था, इसलिए कि पिताजी ने मेरे समर्थन में कुछ कहा तक नहीं। बाद में जब मैंने उन्हें अकेले में पाया तो उनसे बोली : 'यह कैसी अभद्रता थी, पिताजी !' पिताजी ने कहा : 'तूने ठीक ही किया था। बड़े-बूढ़ों को प्रणाम किया करना। जात-पाँत से क्या

ा-जाता है !'

'लेकिन तब आप चुप्पी क्यों साधे रहे ?'

'बड़े भैया थे—वे मना कर रहे थे, उन्हें कैसे नीचा दिखाता ?'

भी मिर्चा के बारे में जितना ही सोच रही हूँ उतना ही यह सब याद आ रहा है। पिताजी यदि यह समझें भी कि मिर्चा और मेरे व्याह के विषय में क्या करना ठीक है तो भी वे उसे चरितार्थ नहीं कर पायेंगे, क्योंकि तब ये ही सगे-सम्बन्धी, जिनके साथ किसी तरह भी हमारे मन का मेल नहीं है और जो हमारी आधी बातों को समझ भी नहीं सकते हैं—जी-जान से टाँग अड़ाने लगेंगे। मँझले ताऊजी गाँव से भागे आयेंगे और कहेंगे—'अरे नरेन, ऐसा महापाप मत करो; अपने पुरखों को नरक में मत ढकेलो; ऐसा मत करो।'

प्रतिमा के पिछले हिस्से पर नसू चित्र बनाया करता था। एक दिन देखती हूँ, वह एक मँझोले क़द के भैंसे को लाकर एक पेड़ से बाँध रहा था।

'इस भैंसे का क्या किया जायगा ?' मैं यद्यपि समझी हूँ, अच्छी तरह समझ गयी हूँ कि इसका क्या किया जायेगा—फिर भी पूछ रही हूँ—मुझे कष्ट हो रहा है, कलेजे में टीस उठ रही है।

'अष्टमी के दिन देवी के सामने इसकी बलि दी जायगी, कुल आठ बकरों और एक भैंसे की बलि !'

'कौन बलिदान करेगा ?'

'मैं। मेरे अलावा और कौन एक झटके में इन्हें काट सकता है ?'

'नसू, तुम्हें शर्म नहीं आ रही है, यह कहते हुए ? एक असहाय जीव को एक ही झटके में काटोगे, भला इसमें कौन-सी बहादुरी है ! कहाँ तो तुम्हें लज्जित होना चाहिए, सो तो नहीं, उल्टे डींग मार रहे हो, ऐसा करना कभी धर्म भी हो सकता है ?'

'हाय राम, यह कैसी बात बोल रही हो, मुन्नी ? देवी की पूजा

बलि नहीं दी जायेगी ?'

इसके बाद हम सब भाई-बहन इकट्ठे हुए और मैं उन सबके बीच एक ओजस्वी भाषण देने लगी। मेरी बात मेरे बहुत-से समवयस्कों को जंची, वे मुझसे सहमत हुए, और मेरे मत के समर्थक बन गये। फिर हम लोग सदलबल मँझले ताऊजी के पास पहुँचे। वे बड़े भले, सीदे-सादे और स्नेह-प्रवण व्यक्ति थे। मुझे विश्वास था, भले ही और कोई कारण न हो, फिर भी वे मेरे प्रति स्नेह दिखाते हुए इस बात के लिए राजी हो सकते हैं। एक विशेष कारण से वे मुझे बहुत अच्छे लगते थे—और वह यह है कि—जब सब छात्र खाने बैठते थे तब वे हाथ में एक हुक्का लिये उन सबकी देख-रेख किया करते थे कि जिससे उन्हें खाने को अच्छी-सी मछली मिल सके। वे पराये लड़के हैं, उनकी हिफाज़त करनी होगी। उन्हें डर था कि कहीं ऐसा न हो कि बहुएँ अपने-अपने बच्चों के लिए चुन-चुन कर मछली के अच्छे-से टुकड़े रख लें—कोई और व्यक्ति इस घर में ऐसा सोच भी नहीं सकता था।

आखिर में, मँझले ताऊजी धर्म-तत्व के तर्क-वितर्क में जाने को राजी नहीं हुए। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि वे तो इस घर के कर्ताधर्ता नहीं हैं। घर के जो कर्ताधर्ता हैं उनके पास जाओ और उनसे कहो, वे जो कहेंगे वही होगा। उनकी बात सुनकर हम सभी बड़े ताऊजी के कमरे की ओर चल पड़े। उनके कमरे के पास पहुँचकर जो पीछे मुड़कर देखा तो पाया कि भाई-बहनों का पूरा दल नदारद था। आखिर उस भयानक युद्ध के व्यूह में मैं अकेली ही कूद पड़ी। रोबदाब वाले वे गृह-स्वामी एक दुबले-पतले छोटे कद के आदमी थे। हाथ में हुक्का लिये, एक खाट पर पलथी मारे बैठे हुए थे वे। तब उनकी उम्र लगभग साठ साल की थी। उस समय उनकी तरुणी भार्या बैठी एक दुधमुँहे बच्चे को दूध पिला रही थी। मैंने काफी संभालकर अपने विचार उनके सामने पेश किये। मेरी खास प्रार्थना यह थी कि उस भैंसे और बकरों को लौटा दिया जाये। यदि देवी के सामने बलि देना ही आवश्यक हो तो वैष्णवों की भांति लौकी या कद्दू को काटा जा सकता है। वे हुक्का पी रहे थे, सो पीते रहे, रुके बिना पीते ही रहे। कुछ देर बाद उन्होंने अपना मुंह उठाया और बोले,

'हम लोग शाक्त हैं।'

तर्क मैं खूब कर सकती थी। सारी युक्तियों का प्रयोग किया और अन्त में निरीश्वरवादियों और ब्राह्मणों के बीच हुए तर्क-वितर्क के बारे में भी बताया। मैंने उनसे कहा कि उन निरीश्वरवादियों ने ब्राह्मणों से कहा था : यज्ञ में बलि देने पर पशु यदि स्वर्ग जाता है, तो अपने बूढ़े बाप को लाकर बलि दे दो न, उसे स्वर्ग भेजने का तो यह सीधा-सा रास्ता है।

किन्तु वह बूढ़ा व्यक्ति अडिग का अडिग ही रहा। किसी तरह न माना। बाद में सुना है, उन्होंने कहा था : 'नरेन की यह लौंडिया तो बड़ी कु-तर्की है।'

तब मैंने अपने अनुचर भाई-बहनों से कहा, 'इस पूजा में हम लोग शामिल
नहीं होंगे। सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी—ये चार दिन हम लोग घर
में ही नहीं रहेंगे।' सुबह हम लोग चिवड़े, चबेना, लड्डू, गुड़-पगे लावे
केले आदि लेकर निकल पड़ते और दिन भर नदी-नाले में नाव पर घूमते
फिरते, शाम ढले घर लौटते और एक ही दौड़ में बिस्तर पर जा लेटते
बड़ों के साथ बात-चीत तक बन्द कर दी थी। मज़े से हम लोग पिकनि
मना रहे थे; यह कार्यक्रम हम लोगों को कुछ भी अखरा नहीं था। कि
घर में ताइयों का मन टूट गया था। पूजा के समय बच्चे घर पर न
रहे। पूजा देखी नहीं। अन्त में उन लोगों का अनुरोध मानकर हम
लौटे थे—प्रतिमा के विसर्जन में शामिल होने के लिए। मैंने मन-ही-
कहा था : सचमुच यदि प्रतिमा में कोई शक्ति आयी हो, तो कुछ-न-
ऐसा करो जिससे बलि-निषेध का कोई संकेत मिले और जिससे ब
जीवों की जान बच जाये। मगर कुछ भी नहीं हुआ, और उस वे
भैंसे के लहू में बलि का खूँटा तैरने-सा लगा!

इस मामले में शायद पिताजी मुझसे सहमत थे, मुझे डाँट-फटकार
पड़ी। मैं अपने ही बल-बूते पर कुछ-न-कुछ कर पा रही हूँ, मन की
दिखा रही हूँ, इससे वे खुश थे। सरोजिनी नायडू बनने का शाय

मेरा पहला क़दम है—सम्भव है, उन्होंने ऐसा सोचा हो !

किन्तु मिर्चा के मामले में ऐसा समर्थन पाऊँगी ? नहीं, कभी नहीं। और खुद मैं ही क्या ऐसी शक्ति, ऐसी हठ दिखा सकूँगी ? सम्भव नहीं। दूसरे के लिए कुछ कर गुजरना भिन्न बात है, चाहे वह मेसा हो या आदमी, लेकिन अपनी यह बात मैं कह नहीं पाऊँगी। लज्जा, संकोच और अपराध का पंजा मेरा मुँह दबा देगा।

इस विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। मैं बन्दी हूँ, बन्दी हूँ, बन्दी हूँ। कौन मुझे शक्ति देगा ? मैंने मन-ही-मन कहा—'तुम हिन्दू मत होना। देखो, हिन्दू होने से मेरा ही क्या लाभ हुआ है ? हिंदुत्व तुम्हें कोई शक्ति नहीं देगा, बन्दी ही बनायेगा।'

> यदि प्रथम-प्रणय-भीते, मम नन्दन अटवी में
> पिक रह-रह उठती कूक—।

क्या अनूठा है यह गीत ! डर ही तो है, सचमुच डर ही तो है। मैं उसके कमरे में खड़ी हूँ—यह गीत गूँज रहा है मन में, किसी-न-किसी चीज की प्रत्याशा में मैं काँप रही हूँ—वह आकर मेरे पीछे, मुझसे सटकर खड़ा हो गया है। उसकी एक बाँह मेरी कमर से लिपटी हुई है, और दूसरी गले के ऊपर से अधूरे हार की तरह लटक रही है। उसका मुँह मेरे कान के पास है, गाल के ऊपर वह मेरे कान में फुसफुसाकर पता नहीं क्या कह रहा है, शायद अपनी भाषा में कुछ कह रहा है, पर मैं उसका अर्थ समझ नहीं पा रही हूँ।

'मिर्चा, मुझे डर लग रहा है, बड़ा डर लग रहा है।'

'किस बात का डर है, तुम्हें किस बात का डर है ?'

मैं काँप रही हूँ—मैं जानती हूं, अब क्या होगा—'हृगर' नामक किताब में जो लिखा हुआ है, वही होगा। उसने मुझे कुर्सी पर बिठा दिया है—मेरा शरीर निस्पन्द हो गया है—अभी इस दोपहरी में सारा घर आलस्य में डूब-उतरा रहा है—मैं नीचे आयी थी लेटर-बक्स में चिट्ठी खोजने। मैं मन-

मन सोच रही हूँ, उठकर चली जाऊँ। पर जाने के बदले उस
बाँहें डाले हुए हूँ, हाथ हटा लेने की ताक़त नहीं है मुझमें—और मेरे
नावृत उरोजों पर वह अपना मुँह रख रहा है। मेरा शरीर शिथिल है,
री कुछ करने की क्षमता नहीं है, उसके बालों की गन्ध से मेरा निःश्वास
र उठा है। वह न जाने क्या कहे जा रहा है अर्द्ध अस्फुट भाव से, शायद
गॉडेस-गॉडेस'-से शब्द हैं—और मैं कहे जा रही हूँ: 'हमें पाप लग रहा
है, पाप लग रहा है।' कुछेक क्षण गुज़र गये, तभी दूर कहीं एक आवाज हुई,
किसी ने दरवाजा खोला, उसने मुझे छोड़ दिया है और दूर हट गया है।
मैं सीधी होकर बैठ गयी हूँ—और अपने ढरके हुए आँचल को ठीक किये
ले रही हूँ।—तीन-चार मिनट भी तो नहीं लगे होंगे इसमें, लेकिन इसी
बीच जैसे दुनिया ही बदल गयी मेरे लिए। मेरे जीवन में ऐसी घटना घट
सकती है, यह मैं सोच ही नहीं सकती थी। मैं मुँह से तो कहे जा रही हूँ
कि पाप लगेगा, लेकिन मुझमें पाप-बोध तो हुआ ही नहीं। कोई पछतावा
तक नहीं है—उसने मेरे बालों को सहेजकर कानों के ऊपर कर दिया।
'मैं कह रहा हूँ तुमसे, अमृता, इसमें कोई पाप नहीं है—यह तो प्यार
है, इसमें पाप भला क्यों, कैसे लगेगा? आखिर प्यार हमें दिया है किसने?
ईश्वर ने—प्यार ही तो ईश्वर है!'

झड़ू आँगन में उतर आया है, रसोई-घर में घुस रहा है। कुछ देख
नहीं पाया है, हम लोग अभी कम-से-कम एक हाथ की दूरी पर हैं। मैं
निर्विकार हूँ, उसे पुकारकर कहा: 'झड़ू, चाय बनाओ।' अच्छा, यह
जो मैंने मिथ्या आचरण किया, यह क्या अन्याय नहीं है?—'दंड सहना
भी पड़े तो सहो, पर झूठ मत बोलो'—पर यह तो मिथ्या आचरण है, है
न? किन्तु यह बात मिर्चा को बताने से तो कोई लाभ ही नहीं है। यह
तो अच्छा ही है कि वह इसे पाप नहीं मानता। वह यदि इसे पाप मान
कर दूर चला जाता तो मेरा क्या होता? तब तो उसे पाती ही नहीं।
उसे कितना चाहती हूँ!

मैं उसकी ओर नज़रें उठाकर देख रही हूँ, वह अपने होंठों को भी
हुए है—उसका हाथ तनिक काँप रहा है। वह अधीर-सा लग रहा है

वह अपना धैर्य क्यों खो बैठा है ? मैंने पाप की बात कही है, इसलिए उसे बुरा लगा है क्या ? मेरी इच्छा हो रही है—उसके पास जाकर उसके गले से लिपट जाने की। किन्तु ऐसा करना तो असम्भव है, झड़् जाग उठा है न ! मेरा दूसरा, अन्तर का मन त्योरियाँ चढ़ाकर मुझे ताक रहा है, कह रहा है : 'नहीं, नहीं, नहीं, यहाँ और एक क्षण भी मत रहो—भागो, भागो, भागो। इस दम उसके पास से चली जाओ।' मैं उठ पड़ी—उसकी ओर और निगाह ही नहीं डाली। लड़खड़ाते क़दमों से जल्दी-जल्दी ऊपर चली गयी।

उस दिन रात को तो किसी तरह नींद ही नहीं आ रही थी। देर तक उसका स्पर्श मेरी देह में लगा रहा। एक ऐसी अभिज्ञता को दबाये रखने से स्वस्थ रहना मुश्किल है। मैं कुछ छिपाकर रखने की आदी नहीं हूँ। तो क्या इसीलिए मन इतना अधीर है ? या और कोई भय या प्रत्याशा है ? आखिर क्या प्रत्याशा रह सकती है ? खुद मेरी ही आँखें मेरी ओर एकटक देख रही हैं। जहाँ एक अज्ञात गुफ़ा का अन्धेरा है उस ओर मुड़ी हुई ये आँखें विरक्त और साथ ही सब-कुछ देख पाने को उत्सुक हैं।

मैं आज फ़र्श पर चटाई बिछाकर सोयी हुई हूँ—ठंडे पथरीले फर्श पर करवट लेती हुई सोच रही हूँ। अच्छा, इस अभिज्ञता को क्या मैं कविता में लिख सकती हूँ ? अरे बाप, क्या होगा फिर ?

माँ-बाप से भी ज्यादा एक दूसरे व्यक्ति से डर लगता है—वे हैं सजनीकान्त दास—उस व्यक्ति को तो मैंने देखा भी नहीं है। किन्तु उनकी 'शनिवार की चिट्ठी' ! अरे बाप ! चूँकि लड़कों के कॉलेज में कविता पढ़ा करती हूँ, इसीलिए मुझे 'वकुल-वन की चिड़िया' कहते हुए क्या कुछ लिखा है उन्होंने—कहीं इस घटना का आभास उन्हें मिल जाय तो फिर तो वे मुन्डे ठंडा ही कर देंगे ! निश्चय ही बहुत-से लोगों ने इन सब विषयों पर लिखा है—ऐसा तो हो नहीं सकता है कि सिर्फ मेरा ही मन इतने विस्मय से भर गया हो। तो फिर मेरे लिखने की भला जरूरत क्या है ! 'तीव्र व कोमल' में एक कविता है, पर वह अच्छी नहीं है, मैं उसे पढ़ती नहीं, नज़र-अन्दाज़ कर देती हूँ। एक ऐसी कविता को महाकवि क्यों लिखने

वह 'लड़का' हो गया !

मेरी माँ ने कहा था, 'ऐसा लडका कहीं ढूँढे
पढ़ने-लिखने में अच्छा है, वैसा ही भला है। 'माँ' कहे
तो इतना मीठा-लगता है कि क्या कहूँ !'

शान्ति ने कहा था : 'और धोती-कुर्ता पहनने पर द
लगता है।'

काका के ब्याह में काकी के लिए उसने अपने देश से बहुत-सी सुन्दर-सुन्दर चीजें मँगवा दी हैं—तरह-तरह के खिलौने, नक्काशीदार लकड़ी का ड्रेसिंग-टेबल सेट, जार्जेट पर एम्ब्रायडरी किये हुए कपड़े, रूमाल—कितना कुछ—सब-की-सब चीजें बहुत सुन्दर हैं ! मगर मेरा मन बहुत भारी हो गया है : 'उनका ब्याह हो रहा है, उन्हें तो देंगे ही। लेकिन मुझे भी तो कुछ दे सकते थे। एक रूमाल ही सही, पर सो भी नहीं दिया।' मुझे तो वह कुछ भी नहीं देता है। नहीं, नहीं, किताबें दिया करता है। उसने मुझे दो जिल्दों की गेटे की जीवनी दी है। जिस दिन भूचाल आया था, उसके दूसरे दिन उसने ये किताबें मुझे दी थीं। मिर्चा के यहाँ आने के स्थान, काल व अस्तित्व के एकमात्र निदर्शन हैं वे—इस असीम काल-समुद्र में एक क्षुद्र दिग्दर्शन-स्वरूप वे दोनों किताबें, मेरे पास अभी भी अर्थात् 1972 ई० में भी हैं।

भूचाल की वह रात बड़ी सुन्दर रात थी। आधी रात को भूचाल आया, हम सभी नीचे उतर गये। कुछ देर बाहर रास्ते पर खड़े रहे, फिर अन्दर आँगन में आये और सीढ़ियों पर बैठे रहे। मिर्चा ने कॉफी बनायी। कैसी आश्चर्यमय तारों-भरी रात थी वह ! इतनी रात में मैंने और किसी दिन उसे नहीं देखा है, पहले भी नहीं, बाद में भी नहीं। इसीलिए वह रात लम्बे अरसे तक मृदु सुगन्ध की भाँति मन को विभोर किये रही। रात का एक अपना रूप है—और मनुष्य की आँखों को भी वह निश्चय ही एक विशेष दृष्टि देती है। इतनी रात को मैंने जो उसे देखा उस सुख को उसने स्थायी बना दिया दूसरे दिन उन किताबों को देकर। उनमें मेरा नाम लिखकर उसने लिखा : '28 जुलाई 1930 के भूकम्प के बाद की दोस्ती

वैठे ! मुझे: में।'[1] उसने वताया कि उसके देश का यह नियम है कि लग.:.के वाद मित्रों को कुछ उपहार देना चाहिए। मिर्चा ने मुझे गेटे की जीवन-सम्बन्धी वहुत वातें वतायी थीं—किताव से उस अंश को भी पढ़कर सुनाया था जहाँ उस कवि ने प्रकाश की माँग की थी—'प्रकाश चाहिए, और प्रकाश चाहिए।' मैं समझी कि यह सचमुच के 'प्रकाश' की वात नहीं है, अर्थात् यह उनकी मरणाच्छन्न आँखों की सूर्य के प्रकाश की प्रत्याशा नहीं है। यह तो है प्रतीक के द्वारा कहना, जैसे ज्ञान के प्रकाश की माँग, वुद्धि के प्रकाश की माँग !

हमारे कवि ने भी लिखा है—'कहाँ है आलोक, कहाँ है ? अरे, जलाओ उसे, विरहानल की ज्वाला से उसे जलाओ।' विरहानल से ! विरहानल से प्रकाश फैलाने से लाभ क्या है ? मिलन में क्या प्रकाश नहीं होता है ? सारे काव्यों में, हर देश के काव्यों में सिर्फ़ विरह की ही प्रशंसा की गयी है ! क्यों ? आखिर विरह है क्या ? मिर्चा यदि चला जाये, तो फिर मुझे जो कष्ट होगा वही विरह है न ! कैसा भयानक है यह विरह ! जव वह इसी घर में नीचे है, और मैं ऊपर—तव भी मुझे इतना कष्ट होता है, और वह एकदम से चला गया तो कितना कष्ट होगा, यह कोई कहने की वात है ! और फिर इसी को लेकर प्रकाश करना ? उस घने अन्धकार की तो मैं कल्पना भी नहीं कर सकती। उस कष्ट को पाकर ही तो 'मेघदूत' के वेचारे यक्ष ने विरह का प्रकाश वुझा दिया था और मिलन के स्वर्ग की वात सोची थी। स्वर्ग ? वही तो स्वर्ग है जहाँ आनन्द की अवस्था के सिवा अन्य अवस्था में आँखों से आँसू नहीं वहते। जहाँ प्रणय-कलह के अतिरिक्त विरह नहीं होता है। यौवन के सिवा जहाँ और कोई वयस नहीं है। 'मेघदूत' याद आया तो मेरा मन प्रसन्न हो गया है; मैं 'मेघदूत' का श्लोक पढ़ते-पढ़ते सीढ़ियाँ चढ़ रही हूँ :

आनन्दोत्थम् नयनसलिलम् यत्र नान्यैर्निमित्तै
र्नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्ट संयोगसाध्यात्

---

1. As a token of friendship after the earthquake of 28 July, 1930.

नापान्यस्मात् प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्ति
वित्तेशानाम् नच खलु वयो यौवनादन्यदस्ति।

पिताजी बैठक से बाहर निकल आये—'मेघदूत का श्लोक पढ़ रही है, तो अच्छी तरह से उच्चारण कर, आ मेरे साथ बोल—'यत्रनान्यंनिमित्तः—'य', 'य' बोल, 'ज' नहीं; अनपढ़ों का-सा उच्चरण क्यों है तेरा ?'[1]

'पर आप कैसे सुन पाये ?'

'कहीं रत्ती-भर भी संस्कृत मेरे कानों की पहुँच के भीतर उच्चारित हो, और मैं उसे सुन न पाऊँ, ऐसा कहीं हो सकता है ?'

साबी को लेकर बड़ी मुश्किल में पड़ गयी हूँ। वह तो मिनट-भर के लिए भी हम लोगों का साथ नहीं छोड़ती है। कुछ दिनों से वह कह रही है कि वह मिर्चा को बंगला पढ़ाया करेगी। मिर्चा भी कहता है—अच्छा ही तो है, तब तो मैं बंगला भी सीख लूँगा। कारण, मैं भी उसे जितनी बंगला सिखा रही हूँ वह मुझे उतनी ही फ्रेंच भी सिखा रहा है। इन दोनों भाषाओं में हम लोग जो पारंगत हो उठेंगे, इसकी सम्भावना तो कम ही है ! सबसे बड़ी मुश्किल तो यह है कि मिर्चा सोचता है कि साबी बिलकुल छोटी-सी, सरल लड़की है, वह कुछ समझती नहीं है। उसके सामने हम लोग थोड़ा-बहुत प्रेमालाप तो कर ही सकते हैं, वह मेरा हाथ पकड़ सकता है, इत्यादि। किन्तु ऐसा सोचना उसकी भूल है। मैं सोलहवाँ पूरा करके सत्रहवें में पहुँचूँगी, और वह ग्यारहवाँ पूरा करके बारहवें में। बारह साल की लड़की इतनी छोटी नहीं होती कि वह कुछ ताड़ नहीं सकेगी। इसके अलावा उसने अभी जवानी की दहलीज पर कदम रखा है। लेकिन वह खूब बचपना करके बातें किया करती है—जब उसकी सिर्फ छः साल की उम्र थी तब हमारी एक रिश्तेदार ने अपने पति को तलाक दिया था। उस अनोखी घटना के चलते पूरे बंगाल में तहलका मच रहा था—

1. बंगला में 'य' का 'ज' उच्चारण होता है।

महिलाओं के कहीं भी एकत्र होने पर और कोई चर्चा ही नहीं होती थी बस, वही एक बात छिड़ती कि पति को तलाक़ देना अच्छा है या बुरा ! मेरी माँ-मौसी वग़ैरह जब इस बारे में चर्चा करतीं तो उससे चले जाने के लिए कहतीं, पर वह जाने का नाम नहीं लेती, कहती : 'बोलो न, मेरे सामने बोलो, मैं तो छोटी बच्ची हूँ, कुछ समझूँगी भी नहीं !' ख़ैर, तब तो वह सचमुच ही कुछ नहीं समझती थी, लेकिन अब सब-कुछ समझती है। उसे ख़ूब कुतूहल है। कुतूहल का होना तो अच्छा ही है। यह तो जिज्ञासा है, जिज्ञासा न रहे तो मनुष्य कुछ जानेगा कैसे ?

इसके अलावा भी एक नयी बात उसमें लक्ष्य कर रही हूँ। मुझे लेकर पिताजी जो धूम मचाते हैं, मुझे रवि ठाकुर इतना प्यार करते हैं या मैं ही उन्हें प्यार करती हूँ व वहाँ जाने का सुयोग पाती हूँ, उन जैसे बड़े आदमी मेरे इतने अपने हैं—लेकिन वह वहाँ तक पहुँच नहीं पा रही है, इससे वह कष्ट पा रही है। यह कष्ट तो उसके लिए तीखा है और कड़वा भी, किन्तु इसमें उसका कोई दोष नहीं है। कोई यदि अपनी आँखों के सामने किसी दूसरे को इतना कुछ पाता देखे तो फिर देखने वाले को तो कष्ट हो ही सकता है। उसका अभी ऐसा समय नहीं आया है, होने पर उसे भी प्राप्त होगा, उसकी उम्र नहीं हुई है। वह मुँह फुला रही है, रो रही है, 'दीदी को तो सभी प्यार करते हैं, मगर मुझे कोई प्यार नहीं करता है।' छोटी-सी बच्ची की ऐसी मीठी बात पर सभी हँसते हैं, किन्तु इससे उसका दुःख तो दूर नहीं होता।

मैं जब दिल्ली गयी थी, तब रामानन्द चट्टोपाध्याय से उसने एक बार कहा था : 'दीदी नहीं रहती है तो आप तो इस घर में क़दम भी नहीं रखते हैं।' अब उसने मिर्चा को पकड़ा है—उसकी समझ में आ रहा है कि मिर्चा के साथ मेरा कुछ विशेष हेल-मेल हो गया है जहाँ उसके लिए कोई स्थान नहीं है। मुझे तो लगता है, वह बहुत कुछ समझ सकी है और उसे लग रहा है कि यह आदमी भी दीदी को प्यार करेगा। परन्तु इस बारे में मैं किसी से चर्चा तक नहीं कर पा रही हूँ। करूँ भी तो किससे ? मुझे कुछ विशेष भय इसलिए है कि मिर्चा भी कुछ समझ नहीं पा रहा है। क्या पता, उसके सामने कब क्या कुछ प्रकट कर दे ! एक दिन तो

माबी ने पूछ भी डाला : 'तुम लोगों ने आँखों-ही-आँखों में क्या बात की है ?' मैंने जब मिर्चा को यह बताया तो इसमें उसने साहित्य का रस ढूंढ निकाला—खूब हँस रहा था—'आँखों-ही-आँखों में बात करना, ए गुड एक्सप्रेशन। लेट अस ट्राई इट अगेन।'[1] मैं जितना साबी को लक्ष्य कर रही हूं, उतना ही एक अजानी आशंका से मेरा कलेजा धक कर उठता है; इस सुख के स्वर्ग को वह कहीं तोड़ तो नहीं डालेगी ? जान-बूझकर न सही, पर अपने भीतर जमा हुए उत्ताप के चलते कहीं ऐसा तो नहीं कर बैठेगी ? नहीं, नहीं, वह तो बच्ची है, वह क्या कर सकती है ? किन्तु रोज इसी दुश्चिन्ता में पड़कर मैं घुल रही हूँ। मुझे पता है, शान्ति सब-कुछ जानती है। मुन्ना भी जानता है। पर उन दोनों का मुझे मूक अनुमोदन मिला है। वे लोग कभी किसी से कुछ नहीं कहेंगे। सम्भवतः काकी को भी मालूम है, पर वे भी जबान नहीं खोलेंगी। मुझे अगर डर है तो सिर्फ इस छोटी-सी लड़की से ! बीच-बीच में हँसी भी आती है मुझे ! इससे क्या आता-जाता है ? आखिर डर तो रहेगा ही ! 'भय तो नित्य जगा हुआ है—प्रेम के सिरहाने मिलन-सुख के वक्ष में। आनन्द के हृद्स्पन्दन से काँप रहा है हर क्षण वेदना का रुद्र देवता।'

यह कविता बड़ी भयानक है, इसके याद आते ही बदन सिहर उठता है।

हम लोग रोज शेवरले गाड़ी से घूमने जाया करते हैं—कभी जशोर रोड होकर, कभी बैरकपुर रोड होकर, तो कभी टालीगंज के नाले के बगल से होकर अर्थात् टालीगंज सर्कुलर रोड होकर। गाड़ी में मेरे अलावा पिताजी, माँ, मिर्चा, साबी व दो छोटे भाई भी रहते हैं। मिर्चा सामने बैठा करता है, मेरे दोनों छोटे भाइयों को लेकर। बस, ज़रा इस घूमने के समय में ही हम लोग पेड़-पौधों को देख सकते हैं। मेरा खूब मन करता है कि उसके साथ अकेले में घूमा करूँ, पेड़-पौधों के बीच, चाँदनी

1. 'A good expression. Let us try it again'

सकता है। किन्तु इससे भी और अच्छा होता है सचमुच का अकेलापन। मैं घूम-फिरकर उसी पंक्ति को याद करती थी—हम लोग क्या किसी दिन अकेले में घूम-फिर सकेंगे ? किसी चांदनी रात में या जुगनुओं की चमक-भरी संध्या में हम लोग पैदल घूमने तनिक दूर जाते हैं, तो साथी साथ छोड़ता नहीं—'इन सच ए नाइट एज दिस'[1] अगल-बगल रहकर भी हमें विरह सताया करता है। लेकिन क्या दूर-दूर रहकर भी मिलन नहीं हुआ करता है ! बीच-बीच में वह जो सामने वाली सीट पर बैठा रहता है इसी से मेरा मन आनन्द से भर जाया करता है। कुर्ते के बाहर उसके गले की दिखती रेखाओं की ओर देखने से ही मेरे शरीर में सिहरन होने लगती है—मैं सोचती हूँ, और कुछ नहीं चाहिए—वह दूर रहे, दूर रहे, पर उसे जरा देखती रह पाऊं, बस यही मेरे लिए काफ़ी होगा। बीच-बीच में मैं मन-ही-मन प्रार्थना किया करती थी कि वह गाड़ी से पहले न उतरे, तब कहीं मैं उतरते समय उसके गले को जरा छू दे सकती हूँ। परन्तु ऐसा कहां सम्भव है ? वह तो गाड़ी से सबसे पहले उतरता है, उसके बाद हाथ थाम-थामकर सबको उतारता है—ऐसा तो उनके देश का रिवाज है। लेकिन मैंने उससे यह सब बात कभी नहीं कही है; मैं उसे कितना प्यार करती हूँ, यह भी उसे नहीं बताया है। कारण, अभी भी मैं निश्चित रूप से नहीं जानती कि आखिर यह मामला है क्या, यह प्यार है कि नहीं ! इसके अलावा तब तो वह निश्चिन्त हो जायेगा, उसकी ईर्ष्या दूर हो जायेगी। जैसे उसके प्यार की बात जानने के बाद मुझे ईर्ष्या नहीं है—पर उसकी ईर्ष्या ही तो मुझे सबसे ज्यादा अच्छी लगती है। इसीलिए तो मैं जान-बूझकर कभी कुछ ऐसी हरकत किया करती हूँ जिससे उसे ईर्ष्या पैदा हो। जैसे कि उस दिन जब लेखक 'अ' बाबू उसके कमरे में बैठे हुए थे, मैंने उनसे खूब गपशप करना शुरू कर दिया—दो-चार बातें अंग्रेजी में करके बाद में बंगला में ही गपशप की—आखिर हम बंगाली हैं न ! तो सिर्फ़ उन जनाब के लिए हर दम अंग्रेज़ी बोलनी पड़ेगी क्या ? इस बीच मैंने एक बार भी उसकी ओर निगाह नहीं डाली। उस दिन उसके

---

1. In such a night as this. (आज की जैसी रात में)

में या अंधकार में, तारों की रोशनी में। किताबों में तो कितना कुछ पढ़ा है, वैसा कुछ हम लोग कभी नहीं कर पायेंगे, कभी भी ? आखिर कैसे ?

प्रफुल्ल घोष थे अंग्रेजी के प्रोफ़ेसर। वे शेक्सपियर बहुत अच्छा पढ़ाते थे। पिताजी बीच-बीच में उन्हें पकड़ लाते थे। वे आते तो शेक्सपियर सुनाते। एक बार पिताजी ने उन्हें रात को साथ खाने का निमन्त्रण दिया था। तय हुआ कि वे हमारे यहाँ खायेंगे और फिर शेक्सपियर पढ़कर सुनायेंगे। इधर हम लोग आस लगाये बैठे थे, पर वे थे कि आ ही नहीं रहे थे। आखिर जब हम लोग अधीर हो उठे, सबको नींद लगने लगी, गुस्सा भी आ रहा था—तभी वे आये। फिर खाना-पीना हुआ। भर पेट खाया उन्होंने, उसके बाद मुंह धोते-धोते बोले, 'देखिये, आज मैंने एक प्रोफ़ेसर के लायक़ काम किया है। मैं तो निमन्त्रण की बात को बिलकुल ही भूल गया था—खा-पीकर मुँह धोते-धोते याद आया, अरे आज तो निमन्त्रण है ! वह जो ननद-भौजाई वाली कहानी है न, कि ननद और भाभी गयी थीं नदी में बर्तन धोने—ननद को तो घड़ियाल पकड़कर ले गया—भाभी घर आकर वह बात भूल गयी, किसी को कुछ बताया नहीं। खाने-पीने के बाद फिर जब वह घाट पर गयी, तब उसे याद आया, और तब उसने अपनी सास को बुलाकर कहा : माँ एक बात याद आयी। मुँह धोते-धोते घड़ियाल ननद को पकड़कर ले गया लहरों पर नचाते-नचाते।' वे अपने विशाल शरीर को झटका दे-देकर कह रहे थे—'मेरा भी वही हाल हुआ।' उस दिन उन्होंने हम लोगों को 'शाइलॉक द ज्यू' से सुनाया था। पोर्शिया के घर के बग़ीचे में घूमते हुए लॉरेन्सो ने जेसिको से जो कहा है वह पंक्ति उन्होंने सुनायी थी—'द मून शाइन्स ब्राइट इन सच ए नाइट एज़ दिस स्वीट विन्ड डिड जेन्टली किस द ट्रीज़।'[1] कमरे में सब लोग सुन रहे थे, मिर्चा और मैं एक दूसरे की ओर ताक रहे थे; लोगों से भरे कमरे के बीच आदमी चाहे तो अकेलेपन का अनुभव कर सकता है, अकेला हो

---

1. 'The moon shines bright in such a night as this sweet wind did gently kiss the trees.'

सकता है। किन्तु इससे भी और अच्छा होता है सचमुच का अकेलापन। मैं घूम-फिरकर उसी पंक्ति को याद करती थी—हम लोग क्या किसी दिन अकेले में घूम-फिर सकेंगे? किसी चाँदनी रात में या जुगनुओं की चमक-भरी संध्या में हम लोग पैदल घूमने तनिक दूर जाते हैं, तो साथी साथ छोड़ती नहीं—'इन सच ए नाइट एज़ दिस'[1] अगल-बगल रहकर भी हमें विरह सताया करता है। लेकिन क्या दूर-दूर रहकर भी मिलन नहीं हुआ करता है! बीच-बीच में वह जो सामने वाली सीट पर बैठा रहता है इसी से मेरा मन आनन्द से भर जाया करता है। कुर्ते के बाहर उसके गले की दिखती रेखाओं की ओर देखने से ही मेरे शरीर में सिहरन होने लगती है—मैं सोचती हूँ, और कुछ नहीं चाहिए—वह दूर रहे, दूर रहे, पर उसे ज़रा देखती रह पाऊँ, बस यही मेरे लिए काफी होगा। बीच-बीच में मैं मन-ही-मन प्रार्थना किया करती थी कि वह गाड़ी से पहले न उतरे, तब कहीं मैं उतरते समय उसके गले को ज़रा छू दे सकती हूँ। परन्तु ऐसा कहाँ सम्भव है? वह तो गाड़ी से सबसे पहले उतरता है, उसके बाद हाथ थाम-थामकर सबको उतारता है—ऐसा तो उनके देश का रिवाज है। लेकिन मैंने उससे यह सब बात कभी नहीं कही है; मैं उसे कितना प्यार करती हूँ, यह भी उसे नहीं बताया है। कारण, अभी भी मैं निश्चित रूप से नहीं जानती कि आखिर यह मामला है क्या, यह प्यार है कि नहीं! इसके अलावा तब तो वह निश्चिन्त हो जायेगा, उसकी ईर्ष्या दूर हो जायेगी। जैसे उसके प्यार की बात जानने के बाद मुझे ईर्ष्या नहीं है—पर उसकी ईर्ष्या ही तो मुझे सबसे ज़्यादा अच्छी लगती है। इसीलिए तो मैं जान-बूझकर कभी कुछ ऐसी हरकत किया करती हूँ जिससे उसे ईर्ष्या पैदा हो। जैसे कि उस दिन जब लेखक 'अ' बाबू उसके कमरे में बैठे हुए थे, मैंने उनसे खूब गपशप करना शुरू कर दिया—दो-चार बातें अँग्रेज़ी में करके बाद में बंगला में ही गपशप की—आखिर हम बंगाली हैं न! तो सिर्फ़ उन जनाब के लिए हर दम अंग्रेज़ी बोलनी पड़ेगी क्या? इस बीच मैंने एक बार भी उसकी ओर निगाह नहीं डाली। उस दिन उसके

---

1. In such a night as this. (आज की जैसी रात में)

चेहरे का भाव आषाढ़स्य प्रथम दिवस की भाँति मेघाच्छन्न था। उसे जब ईर्ष्या होती है तो वह ज़रा निष्ठुर भी हो जाता है—और मुझे तभी वह सबसे ज्यादा अच्छा लगता है। तो, मेरे मन का यह भाव आखिर है क्या? कॉंकेट्री है? इसके लिए डिक्शनरी देखनी होगी।

कुछ दिनों से उसका दबदबा खूब बढ़ गया है—मुझे तो वह जैसे अपनी सम्पत्ति ही मान बैठा हो। उसकी धारणा है कि माँ, पिताजी और घर के सभी लोग हमारे बीच की बात को जानते हैं और इसका अनुमोदन करते हैं। तो फिर अब बाकी क्या रहा? सब-कुछ तो हो ही गया। मुझे बेरी-बेरी हुई थी, इसीलिए मेरे पाँव कुछ सूजे-सूजे-से रहते हैं—इसके लिए तेल की मालिश करती हूँ—लेकिन इसका यह मतलब तो नहीं कि मैं कभी नंगे पाँव चल भी नहीं सकती। पथरीले ठण्डे फ़र्श पर पाँव रखना मुझे अच्छा लगता है—और वह है कि मुझे ऐसा करने नहीं देता है, कहता है—'चप्पल पहनो।' मिर्च खाने के साथ बेरी-बेरी का कोई सम्पर्क नहीं है, सरसों के तेल से बेरी-बेरी होती है—यह तो उसकी समझ में आता नहीं, लेकिन रोज एक बार कहा करता है: 'मिर्च मत खाना।'

उस दिन खाना खाने के बाद में, काकी व मिर्चा खाने की मेज पर ही बैठे-बैठे बातें कर रहे थे। वह मुझ पर गुस्सा किये हुए था क्योंकि उसकी बात को अनसुनी करके मैंने मिर्च खा ली थी। वह काकी से कह रहा था: 'काकी, आपका नया-नया ब्याह हुआ है, आपको माधुर्य की आवश्यकता है, अतः आप मिर्च मत खाइयेगा। जो चटपटे स्वभाव की लड़कियाँ हैं, उनकी जो खुशी हो, किया करें।' मैंने कहा, 'और जो लड़के ज्यादा मीठे होते हैं, जिन्हें सभी अच्छे लड़के कहा करते हैं, दरअसल उनमें कोई पौरुष नहीं होता न!'

'इसका मतलब? इसका मतलब है चूँकि मिर्च कड़वी होती है इसलिए मैं उसे खा नहीं सकता हूँ। मुझमें साहस नहीं है?' यह कहकर उसने हरी मिर्च व नींबू भरी रकाबी को अपने सामने खींच लिया और

बारी-बारी से मिर्च को उठाकर उसे खाली मुँह ही चबा-चबाकर खाने लगा। क्या मुसीबत है! बिलकुल डकैत है!

'फेंक दो उसे, फेंक दो!' कहकर मैं उठने ही वाली थी कि तभी उसने मेज के नीचे अपने दोनों पाँवों को बढ़ाकर उनसे मेरे दोनों पाँवों को कस दिया और मुझे बन्दी बना डाला—क्या जोर है बदन में! ज्यादा खींचा-तानी भी तो नहीं कर सकती थी क्योंकि तब तो काकी भी ताड़ जातीं कि मैं बन्दी हूँ!

उसके एक-एक करके दो-तीन मिर्च खा डाली थीं—इसी बीच उसके होंठ सूज गये थे, ठुड्डी तक लाल हो उठी थी। उसके गोरे-गोरे-से चेहरे पर जहाँ-तहाँ लाली छा गयी थी—लेकिन वह बिलकुल अविचलित था, मैं हाथ बढ़ाकर उससे रकाबी छीन लेने की कोशिश कर रही थी। उधर काकी निर्विकार भाव से हँस-हँसकर लहालोट होती जा रही थीं। काकी की समझ में कुछ आ नहीं रहा था कि क्यों एक आदमी सामने बैठकर आत्महत्या कर रहा है! मगर मावी सब-कुछ समझ गयी थी; आखिर उसका और मेरा मन तो एक ही धातु से गढ़ा हुआ है।

'माँ, माँ, देखो दीदी यूक्लिड भैया के साथ मार-पीट कर रही है।' माँ रसोईघर से भागी आयीं—उसने उसी दम मेरे पाँवों को छोड़ दिया था और झटपट उठकर खड़ा हो गया था। माँ तो स्तम्भित थीं, खड़ी थीं चित्रलिखित-सी—यह सोचकर कि एक ऐसी हरकत उस शान्त लड़के ने क्यों की?

'यह क्या यूक्लिड, खाली हरी मिर्च चबाकर क्यों खा रहे हो?'

काकी ने कहा: 'चूँकि रू ने उसकी बात की अनसुनी कर दी।'

'चूँकि रू ने उसकी बात की अनसुनी कर दी! यह कैसी बात है!'

वही पहली बार मैंने माँ की आँखों में सन्देह की छाया देखी। माँ ने उसकी ओर चम्मच भर मक्खन बढ़ा दिया। कटोरा उसके हाथ में देकर बोलीं: 'लो, मक्खन खाओ।' मिर्चा ने कटोरा लिया और सिर नीचा किये अपने कमरे में चला गया!

अबकी बार माँ बहुत ही आग-बबूला हो गयीं: 'खाना-पीना तो

कब का हो गया है, फिर भी यहाँ बैठे-बैठे तुम लोग अड्डेबाजी कर रहे हो ? तुम लोगों में से किसी को क्या कोई काम-काज नहीं है ?'

मैं तो बहुत डर गयी थी, किन्तु झटपट, मानो कुछ हुआ ही नहीं हो, कुछ ऐसा भाव करके बोली : 'नहीं, मैंने तो सिर्फ़ कहा था कि तीता खाने के लिए हिम्मत चाहिए। सो इसीलिए वह अपनी बहादुरी दिखा रहा था, क्यों सच है न, काकी ? अहमक और किसे कहते हैं ? खामखा कोई मिर्च भी कभी खाता है ?'

मेरा गला निरुत्ताप था, जैसे कुछ हुआ ही न हो। माँ ने विश्वास कर लिया, सन्देह के बादल छँट गये—कारण, माँ सन्देह को उड़ा देना चाहती हैं। वे जिन्हें प्यार करती हैं उनके सम्बन्ध में वे अपने मन में किसी सन्देह को स्थान नहीं देना चाहती हैं। अप्रिय सत्य का सामना करने का साहस माँ को नहीं है। अर्थात् सिर्फ़ तब ऐसा साहस नहीं था, ऐसी बात नहीं, बल्कि किसी दिन भी नहीं हुआ। जब उनके आँचल से उनके पति को खोलकर कोई और ले जा रही थी, तब भी माँ ने उसे चुटकी में उड़ा दिया था—सोचा था, यह कोई ऐसी बात नहीं है जिसके लिए माथा-पच्ची की जाये। दस बरस से इस खेल का सिलसिला चल रहा था। माँ ने तो ठीक-ठीक कभी खयाल ही नहीं किया। और जब उनका सर्वनाश हो चुका था तब वे हठात् चौंक उठीं। उनकी धारणा है, मैंने विश्वास किया है, तो इसीलिए क्या मुझे धोखा खाना पड़ेगा ? तो विश्वास करना क्या अन्याय है ! उस सोलह साल की लड़की ने भी उस दिन माँ को ठगा। डर के मारे देर तक मेरा कलेजा थर-थर काँप रहा था। आखिर कैसी चालाकी कर सकती हूँ मैं ! तो मिर्चा की खातिर ही मैं ऐसी झूठी होती जा रही हूँ। क़तई नहीं, क़तई नहीं। दुष्यन्त ने क्या कहा है ? 'स्त्रीणाम् अशिक्षित पटुत्वम्...।'

माँ ऊपर जा रही थीं—खाने की मेज से सीढ़ी नजर आती है—मैं सोच रही थी, माँ के मन में यदि ज़रा भी सन्देह बचा हुआ हो तो उसे दूर कर दूँ, उठकर जाऊँ और माँ के गले से लिपटकर लेटी रहूँ।

'काकी, मैं ऊपर माँ के पास सोने जा रही हूँ, आप ज़रा मिर्चा को देखिये न कि उसका क्या हाल है।'

काकी ने आँखें मटकाकर कहा : 'मुझे क्या पड़ी है !'

माँ के पास लेटे-लेटे मैं जो कुछ सोचने लगी, माँ तो उसे सुन नहीं पायी। मैं सोच रही थी—चाहे कोई जितना ही अपना हो, चाहे कोई जितना ही प्यारा हो, वह कितनी आसानी से दूसरे को धोखा दे सकता है ! मुँह से कहे बिना तो कोई किसी के मन की बात समझ नहीं सकता। पर अगर ऐसा हो सकता तो ? तब तो प्यार, श्रद्धा, विश्वास आदि महामूल्यवान् चीजें टुकड़े-टुकड़े होकर क्षार-क्षार हो जाती।...आखिर मिर्ची ने सहसा ऐसा अद्भुत काण्ड क्यों किया, मैं तो कुछ भी समझ नहीं पायी, तो क्या सिर्फ मैंने उसकी बात की अनसुनी कर दी इसलिए इसने ऐसा किया, या सिर्फ अपनी बहादुरी दिखाने की खातिर, अथवा इसके पीछे कोई और कारण है ? आखिर उसके मन में इतना आघात लगा, तो क्यों ? या कि बदला लेने के लिए ऐसा किया ? जो भी कारण हो, मैं तो ऐसा नहीं कर सकती थी।

अपने-आपको कहीं इतना कष्ट दिया जा सकता है ? बहुत-से लोग ऐसा कर सकते हैं। जैसे, दादी मृत्यु के मुँह में पड़े-पड़े भी अपनी प्यास रोक सकती थी, दो-तीन दिन वे उपवास कर सकती थीं। मैं क्या वैसा कर सकती हूँ ? लेकिन उनके ऐसा करने के पीछे कोई-न-कोई कारण रहता था। कभी किसी व्रत-पालन के निमित्त या उसी तरह के किसी और धार्मिक कारण से वे ऐसा किया करती थीं। शायद मिर्ची के भी वैसा करने का कोई कारण था—शायद वह मेरी खातिर कितना कुछ सहन कर सकता है, उसकी परीक्षा दे रहा था। उसकी आत्म-पीडन की क्षमता को देखकर मैं खुद अपनी ही नजर में छोटी हो रही थी। उसमें मुझसे बहुत अधिक आत्मबल है। मैं अब कभी उसके साथ वैसा नहीं करूँगी। इस बार मैं उसे सब-कुछ बताऊँगी; मैं जो उसे चाहती हूँ यह भी उसे बता दूँगी। मगर उसने जिस तरह से कहा है, उस तरह से नहीं, बल्कि मैं उसके बहुत निकट जाकर बैठूँगी, उसके सफेद चील की तरह गोरे-गोरे पाँवों पर हाथ रखूँगी और कहूँगी—उसके पाँवों पर पाँव रखकर नहीं,

वल्कि हाथ रखकर—पैरों को हाथ लगाने से क्या होगा ? आखिर वह तो मुझसे वड़ा ही है। उम्र में, विद्या में और मन के जोर में भी वह मुझसे वहुत वड़ा है। मैं अपने-आप को पराजित महसूस कर रही थी, परन्तु इससे मुझे कोई कष्ट नहीं है, मैं सुखी हूँ। आत्म-पीड़न की शक्ति दिखाकर वह मुझसे वहुत वड़ा हो गया है—'देहि पदपल्लवमुदारम् ।'

पिताजी का ब्लड-प्रेशर वहुत बढ़ गया है, उसी से घर में खलवली मच रही है, क्योंकि उनकी आँखों में खून जमा हो गया है। यह वड़ी कठोर वीमारी है। किन्तु कोई सख्त वीमारी न होने पर भी पिताजी को जब महज़ मामूली-सी वीमारी होती है तव भी वह कठोर-सी ही लगती है। सिर्फ़ हमारे ही घर में ऐसा होता है, सो वात नहीं है। घर-घर की यही राम-कहानी है, जो व्यक्ति घर के मालिक होते हैं वे ही पन्द्रह आने होते हैं, और दूसरे सभी मिलकर एक आना ! अर्थात् उन्हीं की सुख-सुविधा, इच्छा-अनिच्छा पर ही सव निर्भर करता है, दूसरे लोगों की सुख-सुविधा, इच्छा-अनिच्छा का तो कोई मूल्य ही नहीं होता। ऐसी भावना हमारे घर में अधिक प्रवल है—कारण, यहाँ तो पिताजी सिर्फ़ घर के सर्वेसर्वा ही नहीं हैं—अधिष्ठित देवता भी हैं। अतएव उनको वीमारी होने का मतलब है घर में सभी का वीमार होना, अर्थात् उनकी वीमारी की वात को छोड़कर किसी के दिमाग़ में तव और कोई चिन्ता ही नहीं रहती है—विशेषकर माँ को तो वही एकमात्र चिन्ता रहती है, दूसरी कोई नहीं। माँ अपने चेहरे पर शिकन तक नहीं पड़ने देती हैं और रात-पर-रात उनकी सेवा करती हुई जाग सकती हैं—अवश्य यह अथक सेवा पिताजी अपने प्राप्य के रूप में ग्रहण करते हैं। हर घर के प्रधान व्यक्ति का ऐसा मनोभाव है। स्त्रियाँ अपनी इस सेवा का मूल्य अपने वलिदान के आनन्द और तृप्ति में पाती हैं या शायद पुण्य में, किन्तु पति, पत्नी की ऐसी सेवा के वदले में, अपनी ओर से कृतज्ञता का एक शब्द भी कहने की कोई ज़रूरत तक महसूस नहीं करता है। किसी के दिमाग़ में यह वात तक नहीं है। वीमार न होने पर भी घर का उत्तम भोज्य घर के कर्ताधर्ता के लिए ही सुरक्षित

रहता है। उनके सोने के समय पूरे घर में कोई चूं तक नहीं कर सकता है, लेकिन दूसरे के सोने के समय वे जी चाहे जो शोर-गुल किया करते हैं! इसे कोई अन्याय नहीं मानता है। मैंने ऐसे-ऐसे घरों के मालिकों को भी देखा है, जो कहीं जाते समय खुद तो फर्स्ट क्लास के डिब्बे में बैठकर सफ़र करते हैं और बूढ़ी माँ तथा बाल-बच्चों को इंटर क्लास के डिब्बे में बिठा देते हैं। बहुत अच्छे-अच्छे लोग भी ऐसा किया करते थे, इसके लिए न तो कोई उनकी निन्दा किया करता था, न खुद उन्हें कोई आत्म-ग्लानि होती थी। घर के कर्ताओं का, अर्थात् जिनकी रोटियों पर घर के और सभी पलते हैं, अलिखित अधिकार है अपने आश्रितों के सुख-दुःख, इच्छा-अनिच्छा को पैरों तले रौंदकर, उन्हें अपने कहे पर चलाने का। इससे एक बहुत बड़े-से परिवार की सुव्यवस्था बनाये रखने में शायद सुविधा होती है, किन्तु वे प्रधान व्यक्ति महान स्वार्थी व दम्भी हो उठने का सुयोग पाते हैं। उनमें एक धारणा पैदा हो जाती है कि वे अपने घर के ईश्वर हैं! हालाँकि वे ईश्वर तो नहीं हैं, बल्कि उस घर के किसी भी तुच्छतम सदस्य की भाँति ही वे भ्रम-भ्रान्ति-युक्त, सुख-दुःख में कातर साधारण मनुष्य-भर होते हैं। एक राजा जिस प्रकार अपने देश का भाग्यनियन्ता होता है, परिवार का प्रधान व्यक्ति भी वैसा ही होता है। उस पर वे प्रधान व्यक्ति यदि बहुत-से विशेष गुणों के अधिकारी हों, तब तो फिर कहना ही क्या है! पिताजी के गुणों का शायद कोई परिमाप नहीं हो सकता—विशेषतया विद्या के हिसाब से। ऐसा तो कोई विषय नहीं है जिसके विषय में वे कुछ-न-कुछ न जानते हों—उनकी अमेय जिज्ञासा निरन्तर बहुमुखी बनी रहती है! संस्कृत में लिखे दुरूह से दुरूह दर्शन-शास्त्र के अर्थ को समझने के लिए उन्हें किसी भी दिन किसी की सहायता की ज़रूरत नहीं पड़ी। उनकी स्मरण-शक्ति प्रखर है। अनेक लोग मानते थे कि उन्हें पूर्व-जन्म की बातें तक याद हैं। विजयकृष्ण गोस्वामी भी मानते थे कि जब पिताजी की उम्र सात साल की थी तब उन्होंने पूछा था कि उन दोनों ने जो गत जन्म में एक साथ तपस्या की थी—किसी एक नदी के तीर पर—वह बात पिताजी को याद है कि नहीं। पिताजी को अवश्य याद नहीं था। तब विजयकृष्ण ने कहा कि तुम्हारा उस बार भी

पतन हुआ था, इस बार भी होगा—तुम्हें फिर से इस धरती पर आना पड़ेगा। पिताजी इससे भयभीत नहीं हुए, इस लुभावनी दुनिया में फिर से अगर आना ही पड़े तो इससे वे भय क्यों खाएँगे ? उनकी द्रुत-पठन की क्षमता भी विस्मय में डालती है ! अपनी इस लायब्रेरी की तमाम सात-आठ हज़ार किताबें उनकी पढ़ी हुई हैं। इसके अतिरिक्त उनका व्यक्तित्व भी असाधारण है, उस व्यक्तित्व में प्रबल आकर्षण-शक्ति भी है। बड़े-से-बड़े पंडित भी उनके समकक्ष नहीं हैं; पिताजी उनसे प्रश्न पर प्रश्न करके उन्हें नीचा दिखा सकते हैं और यह प्रमाणित कर देते हैं कि उन्हें तत्त्व-ज्ञान का ज्ञान नहीं है !

सिर्फ़ इस देश में ही नहीं, विदेश में भी बहुत-से लोग पिताजी का आदर करते हैं, उन्हें प्यार करते हैं। वे सेवा वसूल करना जानते हैं। उनके प्रोफ़ेसर मैक्टागार्ट की कहानी सुनी है मैंने—इतने बड़े पंडित होकर भी वे अपने इस विदेशी प्रिय छात्र की बाक़ायदा सेवा किया करते थे—कमरे में अपना चैम्बर पॉट तक रख जाया करते थे ! इस बात को पिताजी बड़े ही गर्व के साथ कहा करते थे। उस ज़माने के छात्र व अध्यापकों के सम्पर्क का माधुर्य उनके आपसी सम्बन्धों में घुल-मिल जाता था। पिताजी के लिए जितना प्यार करना सम्भव था प्रोफ़ेसर मैक्टागार्ट को वे उतना प्यार भी किया करते थे। दार्शनिक पंडित मैक्टागार्ट की एक दुर्बलता थी, और वह यह कि वे मद्य का बहुत सेवन करते थे। उनकी एक कहानी प्रायः ही पिताजी सुनाया करते थे—किसी घर में निमन्त्रण खाकर वे लौट रहे थे, एक मैदान को पार करके रास्ते पर पहुँचना था—उस बड़े-से मैदान में कहीं कुछ भी नहीं था, सिर्फ़ एक पेड़ था। प्रोफ़ेसर मैक्टागार्ट सीधे उस पेड़ के सामने आकर खड़े हो गये, किन्तु उसे लांघ कैसे जायें, यह वे सोच नहीं पाये। तब वह फिर से घर लौट गये, और फिर रवाना होकर ठीक उसी पेड़ के सामने आ पहुँचे ! इस तरह अनेक बार करने के बाद श्रांत-क्लांत प्रोफ़ेसर मैक्टागार्ट उसी पेड़ के नीचे बैठ गये : 'आई एम लॉस्ट इन ए डेंस फ़ारेस्ट।'[1]

---

1. 'I am lost in a dense forest.' (मैं गहन जंगल में खो गया हूँ)

यह कहानी बड़ी मजेदार थी। लेकिन मेरे मन में हरदम एक खटका लगा रहता कि पिताजी जिसकी इतनी श्रद्धा किया करते हैं, ऐसा श्रद्धेय विद्वान इतना मद्यप कैसे हो सकता है ? शराब पीना तो बुरा है, पाप ही है, तो फिर ? हम लोगों ने कभी ऐसा सोचना भी नहीं सीखा है कि एक आदमी के चरित्र में एक साथ दोष-गुण के रहने पर भी वह श्रद्धास्पद बना रह सकता है। समाज के विविध तिरस्कारों से अभिभूत हमारी दृष्टि मनुष्य की दुर्बलता व त्रुटि-विच्युतियों को यथायथ 'परिप्रेक्ष्य' में देखना नहीं जानती थी। जैसे, मेरे पिताजी में कोई त्रुटि रह सकती है, ऐसा कभी हम लोग सोच भी नहीं सकते थे। वे सम्पूर्ण दोषहीन और देवतुल्य है ! हमारे भीतर जो ऐसी एक धारणा बन गयी है, इसके मूल में हैं माँ। ऐसी धारणा उन्होंने ही हमारे भीतर पनपने दी। पर यह कितना खतरनाक था, इसे माँ नहीं समझती थीं। सिर्फ मेरी माँ ही ऐसा नहीं—बल्कि दूसरे भी ऐसा सोचा-समझा करते थे। तब ऐसी ही परम्परा थी। लोग मानते थे कि माता-पिता, गुरुजन आदि के सम्बन्ध में कोई विचार भी करने की चेष्टा क्षतिकर है। पिता स्वर्ग, पिता धर्म', पिताहि परमम् तपः—उस युग का मन्त्र था—फिर भी उस युग में ही किसी-किसी घर में इस मन्त्र का प्रभाव शिथिल होने लगा था। हमारे घर में पिताजी की असामान्य प्रतिमा के चलते ही ऐसा हो नहीं पाया। तो भी उस समय मेरे मन में जरा-जरा समालोचना का भाव दिखायी दे रहा था। इसके लिए मैं लज्जित तो थी, फिर भी उस भाव का पूरी तरह दमन नहीं कर पा रही थी। पहली बार मुझे पिताजी के मुँह लगने का साहस हुआ था उनकी बीमारी के समय ही...।

हमारे घर में दादी के जमाने से एक महिला रहती थीं। वे मेरे पिताजी से वृद्ध बड़ी थीं—हम लोग उन्हें अपना रिश्तेदार ही समझते थे। असल में वे परिचारिका का काम करने के लिए ही आयी थीं, किन्तु क्रमशः वे घर के आदमी की तरह हो गयी थीं। उन्हें हम लोग, अर्थात् लड़के-लड़कियाँ सभी खूब प्यार किया करते थे। उनका दम बहुत चढ़ जाया करता था; वे एक्जिमा से भी तकलीफ पाती थीं। मैं देखती, उनके लिए

डॉक्टर को बुलाने, दवा मँगाने की पिताजी को बिलकुल ही गरज नहीं थी—माँ तो भरसक कोशिश करती थीं, किन्तु रुपया तो पिताजी का ही था, वे दें तब न ! एक दिन देखा, वे यन्त्रणा से रो रही थीं—मैंने सीधे जाकर पिताजी से कहा : 'आपके लिए हरदम इतनी दवा आ रही है, डॉक्टर आ रहे हैं, तो फिर चम्पा बुआ के लिए डॉक्टर क्यों नहीं आयेगा ?' पिताजी तो विस्मय-विमूढ़ हो गये : 'मेरे लिए डॉक्टर आ रहा है, और चम्पा के लिए क्यों नहीं आ रहा है ?' इतना विस्मय था उनके प्रतिप्रश्न में कि मानो वे अपने कानों पर विश्वास नहीं कर पा रहे हों। वे चकित थे यह सोचकर, कि वे और उनकी वह दासी मेरी नजर में एक समान हैं।

मैं चुप होकर चली गयी। खुद मुझे ही लाज आने लगी। एक ऐसी बात मैं कैसे कह बैठी ? किन्तु मुझे पता है—मेरे मन में क्रमशः विद्रोह की भावना जमा होती जा रही है। पिताजी की इच्छा के विरुद्ध रंचमात्र भी कुछ करने की हमारी क्षमता नहीं है। इस घर का कोई व्यक्ति उनकी इच्छा के विरुद्ध एकदम कुछ नहीं कर पायेगा। तो फिर ! मेरी इच्छा का क्या मूल्य है ? कुछ नहीं, कुछ भी नहीं। जैसे सम्राट् चाहें, तो किसी को हाथी के पाँव तले डलवा सकते हैं, किसी का शिरच्छेद करा सकते हैं—उसी तरह वे भले ही शारीरिक दण्ड नहीं दे सकते, किन्तु मन को तो कुचल ही सकते हैं, हमारे मन पर तो उनका पूरा अधिकार है। उन्हें यदि हमारी बातें मालूम हो जायें तो वे इसी दम वही करेंगे जो अकबर ने किया था—शरीर का तो वैसा हाल नहीं करेंगे, किन्तु मन का अवश्य। प्रेम की इस अनारकली पर पत्थरों की दीवार जड़ देंगे। कोई भी रोक नहीं सकेगा ! और रवि ठाकुर ? वे यदि मेरे पिता होते, तो वे भी क्या ऐसा ही करते ? जिन्होंने लिखा है : 'डोलता है प्रेम का लहराता चम्पा-हृदय आकाश में', वे भी क्या उस चम्पे की कली को मसल दे सकते हैं ? कभी नहीं ! तो कहूँ उनसे ? क्या होगा कहकर, उनका तो मेरे ऊपर कोई अधिकार नहीं है। वे तो मेरे कोई नहीं लगते। कोई भी नहीं ! कोई भी नहीं ! क्या विचित्र बात है !

एक दिन उसने मुझसे पूछा : 'तुमने कोणार्क की मूर्तियाँ देखी हैं ?'

'मैं तो कोणार्क गयी ही नहीं हूँ। पर क्यों ?'

'मैं पहले सोचा करता था कि आदमी देखने में उस तरह का नहीं हो सकता।'

मैं सोच रही हूँ मन-ही-मन, वह कोणार्क जा सकता है, कारण, वह तो एक खण्डहर है—'पुण्य लोभियों की भीड़ नहीं ही लगी तुम्हारे सूने मन्दिर में, हे देवतालय तुम तो जीर्ण-शीर्ण हो'—किन्तु पुरी के मन्दिर में या भुवनेश्वर के मन्दिर में लोग उसे घुसने देंगे ? वह तो म्लेच्छ है न ! लोगों ने रवीन्द्रनाथ को भी पुरी के मन्दिर में घुसने नहीं दिया था। कैसा अभागा है यह देश ! इसीलिए तो उन्होंने एक ऐसी कविता लिखी है जो सुनने में अभिशाप-सी लगती है।

हम लोग नीचे के बरामदे में खड़े हैं—मैं रेलिंग से टिककर और दीवार से टेक लगाकर खड़ी हूँ। पीछे फूलों के गुच्छों से लदी माधवी-लता हिल रही है, रह-रहकर वह मेरे माथे और गाल से छूती जा रही है। वह मेरे सामने जरा दूर पर खड़ा होकर मेरी ओर टकटकी लगाये हुए है। फिर सहसा धीरे-धीरे बोला : 'देखने में तुम मन्दिर की दीवारों पर उकेरी हुई मूर्तियों की तरह हो।'

पहली बार यही उसने मेरे चेहरे के सम्बन्ध में प्रशंसा भरी बात कही। आखिर यह प्रशंसा है या नहीं, सो भी नहीं जानती। मूर्ति की तरह देखने में अच्छा होना है कि बुरा—कौन जाने ! मैं और भी ज्यादा रूप का मीठा-मीठा बखान सुनना चाहती हूँ, लेकिन और लोग जिस तरह से कहा करते हैं वह तो वैसा नहीं कहता है। उसके देश के लोग हम लोगों की तरह शायद रूप का वर्णन करना नहीं जानते हैं।

> तिल फूल-सी नासा, सुधा सदृश भाषा
> मृगपति-सा कटि-प्रदेश
> कदली उरु काम-धनु को लजाते भ्रू-देश
> मेघ-सम घने काले केश।

सो तो कहते नहीं बना, कहता है : देखने में मूर्ति की तरह हो। धत्, यह भी भला कुछ कहना हुआ !

कुछ दिनों से मेरी एक किताब की छपाई चल रही है, यह एक कविता की किताब है। पिताजी ने बड़ी आशा करके इस किताब का नाम रखा है : 'भासिता'। इस किताब को प्रेस में भेजने के पहले इसके ज़्यादातर हिस्से की कापी मीलू ने की है। मीलू की हिज्जे सम्बन्धी धारणा कुछ नये ढंग की है। 'यह क्या ? 'यदि' के 'द' में ईकार क्यों दिया है तूने ?'

'तो इससे क्या हुआ ? नदी के साथ तो अच्छा ही लगता है।'

फिर यत्व-णत्व के वारे में तो कहना ही क्या है! मुझसे भी जो हिज्जे सम्बन्धी ग़लतियाँ न होती हों, ऐसी बात नहीं। कुछ कठिन हिज्जे सामने आ जाते हैं तो मैं दुविधा में पड़ जाती हूँ। रामानन्द चट्टोपाध्याय, जो देश के एक विख्यात सम्पादक थे, कहा करते थे—एकमात्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर को छोड़कर उन्होने और किसी ऐसे कवि को नहीं देखा है जिसके सारे-के-सारे हिज्जे सही होते हों।

प्रूफ़ देखना सीखकर मैं बाक़ायदा वड़ी हो गयी हूँ। गम्भीर भाव से प्रूफ़ का संशोधन करते-करते मैं स्वयं अपनी ही दृष्टि में वड़ी लगने लगती हूँ। लेकिन हिज्जे के लिए मैं डिक्शनरी नहीं देखती। मैं 'चयनिका' 'वलाका' या 'महुआ' से हिज्जे देख लिया करती हूँ—अर्थात् कौन-सा शब्द किस कविता में, किस पृष्ठ पर है, यह मुझे मालूम है और उस शब्द-विशेष को ढूंढ निकालना मेरे लिए सहज और आनन्द की वात रहती है। उस समय यदि रवीन्द्रनाथ की कविताओं की मुझे शब्दानुक्रमणिका वनाने को कहा जाता तो मैं शायद उसे कर सकती।

पिताजी ने तय किया है कि मेरे जन्म-दिन पर 'भासिता' उद्भासित होगी। उस दिन मेरी वर्षगाँठ पर वंगाल के समस्त कवि, साहित्यिक, और कलाकारों को वे निमन्त्रित करेंगे और एक ताम-झाम का आयोजन करेंगे। जैसे विलायत में लड़की के वड़ी होने पर उसे दरवार में पेश किया जाता है और वहाँ उसका परिचय कराया जाता है, वैसे ही पिताजी इस नयी कवयित्री को, अर्थात् मुझे, विद्वत् समाज में प्रस्तुत करेंगे और वहाँ मेरा सवसे परिचय करा देंगे। यह जो एक आयोजन मुझे केन्द्रित करके चल रहा है, इसके कारण दूसरे कई लोग ओट में पड़ गये हैं। अवश्य, मेरे दोनों भाई तो छोटे हैं, उन्हें इसकी परवाह नहीं है, किन्तु

सावी ? वह तो छोटी नहीं है। वह उपेक्षित महसूस कर रही है, और मुँह फुला रही है। उसका शरीर भी अस्वस्थ है, और मन भी। उसके मन की यह बीमारी उस दिन और भी बढ़ गयी जिस दिन उसे छोड़कर हम लोग उदयशंकर का नाच देखने गये।

कुछ दिन पहले अन्ना पावलोवा कलकत्ता आयी थी। माँ और पिताजी उनका नाच देखने गये थे। पावलोवा के नृत्य को लेकर कलकत्ता के एलीट लोग मुखर हो उठे थे। माँ ने जीवन में पहली बार ऐसा नाच देखा। वे लोग मुझे अपने साथ नहीं ले गये थे, क्योंकि तब भी मैं काफ़ी बड़ी नहीं थी! इस सम्बन्ध में माँ ने जब दूसरों से चर्चा की तो मैंने उस नाच की बात सुनी। नृत्य के सम्बन्ध में माँ कतई विशेषज्ञ नहीं हैं। किन्तु उनकी कला-रुचि व सौन्दर्य-बोध पिताजी की कला-रुचि और सौन्दर्य-बोध से कहीं बढ़कर है। इसीलिए तो मराली की मृत्यु के नृत्य ने उन्हें अभिभूत किया था। कुछ ज्यादा दिनों तक ही एक आवेश-सा छाया रहा था उनके मन पर। लेकिन इसके बावजूद दुविधा भी उन्हें कम नहीं थी। पावलोवा तो मराली-नृत्य करते समय पैरों तक की गाउन पहने हुए नहीं थीं। उनके पहनावे के कपड़े-लत्ते माँ की नज़रों में नहीं के ही बराबर थे। उनकी जाँघें अनावृत्त थीं, लहंगा भी निम्नांगों को बहुत कुछ अनावृत्त करके घूम रहा था! माँ के अनुसार कला की दृष्टि से वह भले ही आवश्यक रहा हो, लेकिन समाज के लिए तो वह हानिकर ही था। 'न्यू एम्पायर' से निकलते समय उनकी बहन के लड़के ने उन्हें देखा, तो वह दुम दबाकर भाग खड़ा हुआ। उस लड़के की उम्र कुछ कम नहीं थी; वह एम० ए० में पढ़ रहा था। किन्तु उसे वहाँ देखकर माँ बहुत परेशान हुई थीं—तो देबू ने भी यह नाच देखा! और उधर देबू भी यह जानकर कम चिन्तित नहीं था कि मौसी ने उसे एक ऐसी 'निषिद्ध' जगह पर देख लिया!

जो हो, उन्नीस सौ तीस ईसवी में उदयशंकर कलकत्ता आये 'न्यू एम्पायर' में नाच दिखाने। पावलोवा के शिष्य भारतीय नृत्य दिखायेंगे। इस देश की आँखें उन दिनों नाच देखने की अभ्यस्त नहीं थीं। कभी-

कभार किसी विशेष समाज के किन्हीं दो-एक विशेष व्यक्तियों ने दो-चार 'बैले' देखे होंगे। स्वदेशी नाच सिर्फ़ मन्दिरों में देखने को मिलता था। हम लोगों ने पुरी व भुवनेश्वर के मन्दिरों में देवदासियों का नाच देखा था। वह नाच असंस्कृत है। और बाईजी वग़ैरह कहाँ नाचती हैं, सो हम सभ्य समाज के लोग जानते तक नहीं। हमारी धारणा है, दुश्चरित्र जमींदार लोग किसी रहस्यलोक से अपने-अपने मनोरंजन-गृहों में उन्हें नचाने के लिए ले आते हैं! कोई भी विदग्ध व्यक्ति उस नाच को देखने के लिए व्यग्र नहीं है! और नाचा करते हैं आदिवासी लोग। संथाल, मुंडा, गोंड आदि नाना उत्सवों में नाचा करते हैं। मैंने जूड़े में जवा के फूल खोंसे संथाली लड़कियों का नाच देखा है। लोक-नृत्यों में से मणिपुरी, गरबा इत्यादि अपने-अपने प्रान्त-विशेष के पर्व-त्योहारों पर हुआ करते हैं। शिक्षित मध्यवित्त के अधिकांश हिन्दू-समाज में एक व्रतचारी[1] को छोड़कर किसी तरह के नाच की बात मैंने पहले तो नहीं सुनी, और सुना है, दादी लोग सुहागरात में वर की नाक में दम करने के लिए नाचा करती थीं। भले घर के लड़के अथवा लड़कियाँ स्टेज पर नाचें, यह तो कल्पनातीत बात थी।

1926 अथवा 1928 ई० में रवीन्द्रनाथ शिलांग गये थे। वहाँ मणिपुरी लोक-नृत्य देखा, तो उन्होंने पहली बार रंगमंच पर दर्शकों के सामने भले घर के लड़के-लड़कियों का नृत्य प्रवर्तित किया। दर्शक टिकट कटाकर उस नाच को देखने गये। बंगाली-घर की लड़कियाँ हजारों लोगों की नजरों के सामने अंगों को डोलेंगी-डुलायेंगी, यह बात सोचकर ही बहुतों की नींद हराम हो गयी थी। यह तो एक तरह के विद्रोह की घोषणा थी। यह शायद राजनीतिक क्रान्ति से भी अधिक कठिनतर क़दम था। इसीलिए रवीन्द्रनाथ को सावधान होकर चलना पड़ा था। पहली बार जिस नाटक में इस नृत्य का आयोजन किया गया वह था: 'नटी की पूजा', 'कथा ओ कहानी' की 'श्रीमती' कविता को ही उस नाटक में रूपान्तरित किया गया था। 'नटी की पूजा' अर्थात् नृत्य भी एक

---

1. गुरु सदयदत्त द्वारा प्रवर्तित नृत्य-विशेष।

नृत्य-शिल्पी के लिए पूजा ही है, इस विशेष व्यंजना द्वारा नटी का कर्तव्य-बोधन बड़े ही सूक्ष्म भाव से किया गया था। जिन गाने के साथ 'श्रीमती नामक वह दासी' नाची, वह है—'मुझे क्षमा करो हे, मुझे क्षमा करो।' नर्तकी भगवान बुद्ध से कह रही है: 'तुम्हारी वन्दना मेरी भाव-भंगिमा और संगीत में विराजे', अथवा 'मेरी सारी चेतना, सारी वेदना को रचा जिसने, पता नहीं वह जो कैसी आराधना है—?' उस आराधना की भाव-मूर्ति को देखकर तो निन्दक लोग थोड़ा स्तम्भित हो गये थे। मैंने तो 'नटी की पूजा' नाम का नाच नहीं देखा था, नाच देखने लायक तब मेरी उम्र ही कहाँ हुई थी! बस, ठीक इसी कारण से माँ और पिताजी ने उदयशंकर का नाच दिखाने के लिए सावी को भी साथ नहीं लिया। मैं गयी, इससे वह दुखित हुई, क्योंकि उसके भीतर भी तब बड़ी होने की आकांक्षा पनप रही थी और वह नव-यौवन की दहलीज पर क़दम रख रही थी।

पिताजी ने कॉलेज से फ़ोन करके बताया कि एक भी सीट खाली नहीं बची है, खाली है तो सिर्फ़ एक बॉक्स। बॉक्स की टिकटों का दाम बहुत है, इसीलिए मिर्चा भी कुछ देने को राज़ी हो गया। तय हुआ, हम लोग चार आदमी जायेंगे। माँ ने उस दिन सुनहली मुकैश जड़ी हुई चुनरी ओढ़ी थी—माँ रानी जैसी दीख रही थीं। मिर्चा ने भी धोती-कुर्ता पहन रखा था। कलकत्ता का सारा नगर-समाज उस दिन वहाँ उपस्थित था। कलकत्ता के उस रसिक-समाज में उच्च-ग्रंथि-भावना-ग्रस्त ब्राह्म-समाजियों का भी एक विराट दल शामिल है। अवश्य सभी नहीं, फिर भी बहुतेरे हैं। उस दल के लोग हम लोगों को किसी दिन भी पर्याप्त सभ्य नहीं समझते हैं—हम लोग तो मात्र कुछ ही पीढ़ियों से कलकत्ता के इस उच्च समाज के लोगों से मिल-जुल रहे हैं, इसके अलावा हम लोग ठहरे हिन्दू! खूब परिचित होने पर भी वे हर समय हम लोगों को पहचानने से कतराते हैं। इस वर्ग के कुछेक विशिष्ट एलीटों ने उस दिन न केवल अपनी स्वाभाविक अकड़ को उतार फेंका, बल्कि झुंड-के-झुंड हमारे बॉक्स के नीचे आकर खड़े हो गये, और पुकार-पुकारकर हम लोगों से बातें करने लगे। पिता-

जी की मुद्रा भी कुछ कम दृप्त नहीं थी—परम सुन्दरी पत्नी, काफ़ी सुन्दरी (मिर्चा चाहे कुछ भी कहे) कवयित्री-कन्या व विदेशी छात्र और बॉक्स—सब-कुछ लेकर जो हाल हुआ था उससे ब्राह्म-समाजियों का दर्प ज़रूर चूर-चूर हुआ।

उदयशंकर ने तो उस दिन अद्भुत नाच दिखाया। मुझे याद है, उनकी छाया मुझे जैसे एक अलौकिक जगत् में ले गयी थी—उनके स्पन्दित बाहु मानो जल की तरंग थे—समस्त शरीर ही तरल-सा बहने लगा था। पार्वती-रूपिणी सिम्की का आकर्षण कम तो नहीं था, परन्तु उदयशंकर की छटा कुछ और ही थी। लगता था, वे जैसे देवलोक से उतर आये हों—मनुष्य की देह का ऐसा स्पन्दित रूप मैंने तो कभी नहीं देखा है। उस दिन वहाँ उपस्थित और किसी ने देखा है कि नहीं, मुझे तो सन्देह है। मिर्चा की दशा तो सुदास माली की तरह थी—मुँह से तो बोली ही नहीं फूटती थी! उसके हाथ में यदि सुदास की तरह कमल रहता, तो वह उसी दम 'कमल देता धर' उदयशंकर के 'चरण-कमल पर'। सारी रात उसने पियानो बजाया, वह सो नहीं सका—मुझे भी तो सोने नहीं दिया, मेरा कमरा ठीक उसके कमरे के ऊपर ही है। इसके बाद मैंने बहुतेरे देशों में, बहुत बार बहुविध नाच देखे हैं, किन्तु उस दिन की तरह की अनुभूति मुझे फिर कभी नहीं हुई। हम दोनों का ही मन एक-सा था, इसीलिए हमारे मन ने सृष्टि की वेदना को अपने समस्त अस्तित्व से अनुभव किया था। कुछ दिनों तक हम लोग उस नाच के अलावा और किसी विषय पर चर्चा ही नहीं करते थे। मिर्चा कहने लगा, 'दिस इज इंडिया, दिस इज इंडिया।'[1]

मुझसे यदि कोई पूछे कि वह हमारे घर में कितने दिन था—यानी कितने दिन, कितने महीने या कितने वर्ष रहा तो मैं नहीं बता पाऊँगी। अपने इस साठ साल के जीवन में कुल मिलाकर दुनियादारी के हिसाब से शायद

---

1. 'This is India, this is India.' (यह भारत है, यह भारत है)

छः-सात वर्ष ही मैंने सचमुच का जीवन जिया है; शेष दिनों में केवल उसकी पुनरावृत्ति होती रही है। मिर्चा के साथ अगर मैंने सिर्फ एक साल ही बिताया हो तो वे मात्र तीन सौ पैंसठ दिन नहीं हैं—सच्चाई यह है कि उसका परिमापन का कोई यन्त्र ही मेरे हाथ में नहीं है। पृथ्वी की धुरी पर वह नहीं घूम रहा है—वह तो सूर्य की भाँति स्थिर है। मैं उसके भीतर इतने दिन पैठी नहीं थी, अब पैठ रही हूँ—जब जी चाह रहा है, पैठ रही हूँ, उस समय में, उस आनन्द में, उस वेदना में। पर वहाँ मैं किसे पा रही हूँ? वहाँ क्या सिर्फ वह और मैं हैं? नहीं, उसमें सभी हैं, शान्ति है, मुन्ना है, वह गोपाल भी है जो उसकी ओर ईर्ष्या-भरी दृष्टि से देखा करता है, कारण वह मुझे बहुत प्यार करता है। वे सब-के-सब उपस्थित हैं। है वहाँ उस लायब्रेरी की किताबें, यहाँ तक कि कैटलॉग का बक्सा तक भी है। मेरी सत्ता के चैतन्य में घुल-मिलकर वह काल अपना समस्त रूप-संभार लेकर अक्षय बना हुआ है।

मेरी माँ बराबर वैष्णव साहित्य पढ़ा करती हैं, इस विषय में वे विदुषी हैं। वैष्णव-साहित्य पढ़ने के लिए उन्होंने उड़िया भाषा भी सीखी है। बाबा ने जब एम० ए० की परीक्षा दी थी, तब माँ ने उनके साथ बंगला एम० ए० की सारी किताबें पढ़ी थीं। चर्यापद, मंगलकाव्य आदि का माँ ने अधिकारपूर्वक अध्ययन किया है। किन्तु सबसे अधिक अधिकार है उनका चंडीदास व विद्यापति पर। मैंने माँ से एक दिन पूछा : 'इन पंक्तियों का क्या अर्थ है—जनम अवधि हम रूप निहारि लूँ, नयन न तिरपित भेल, लाख-लाख हियेहिया राख लूँ तबु हिया जुड़न न गेल'—इस कविता में कवि क्या कहना चाहता है? यह लाख-लाख युग तो मनुष्य-जीवन की काल-अवधि के हिसाब-किताब से बाहर की बात है—कारण इतने दिन कौन जीता है? तब तो यह अत्युक्ति है। तो अत्युक्ति क्या काव्य-शास्त्र में दोष नहीं माना जाता है? तो फिर तुम लोग इसे इतना अच्छा क्यों कहती हो?'

माँ हँस रही थीं : 'नहीं, यह अत्युक्ति नहीं है।'

'अत्युक्ति नहीं है?'

'आखिर कैसे समझाऊँ तुझे—जो हरगिज समाप्त नहीं होता, जो आनन्द या वेदना कभी चुक नहीं जाती, जिसे समय के द्वारा मापा-तोला नहीं जा सकता, यह उसी का वर्णन है। मगर मैं तो ठीक समझ नहीं पायी।' मैं बहुत सोचने लगी—रवीन्द्रनाथ के गाने या कविता में ठीक यही बात कहाँ है, पर वह मेरी स्मरण की पकड़ में नहीं आया। 'लाख-लाख युग'—अर्थात् अनन्त काल! जो सुख किसी दिन तृप्त नहीं होता, वह अच्छा है कि बुरा, कौन जाने! इस चिर-अतृप्ति की बात को सोच-कर मेरी आँखों से आँसू बहने लगे।

साबी की बीमारी बहुत बढ़ गयी है। वैद्य काका उसकी चिकित्सा कर रहे हैं। वह तरह-तरह की कुछ अजीब-सी बातें बोला करती है। इस बीच रवीन्द्रनाथ की तसवीर देखकर पता नहीं वह क्या बुदबुदाती है, और भजन गाती है। मिर्चा को तो पल-भर के लिए भी नहीं छोड़ती है। उसे तो साबी के बिस्तर की बग़ल में बैठा रहना पड़ता है। उसका हाथ थामे रहना पड़ता है। दिमाग़ ठंडा रखने के लिए साबी के सिर में तेल लगाया जा रहा है, उसके लिए उसके सिर के बीच के थोड़े-से बाल काट डाले गये हैं—और तेल की वह मालिश भी मिर्चा को ही करनी पड़ती है। ख़ैर, यह तो अच्छा ही हुआ है। कारण, इसी व्याज से मिर्चा अकसर ऊपर मेरे कमरे में रह पा रहा है, इसी कमरे में तो साबी की रोगशय्या बिछी हुई है। कमरे में बहुत-से लोग-बाग आते-जाते हैं, और वह साबी के समीप बैठा रहता है। यदि मैं बीमार पड़ती तो वह ऐसा कर पाता? साबी तो आख़िर छोटी है न, इसीलिए ऐसा कर पाना उसके लिए सहज हुआ। मेरा मन किन्तु इससे लबालब भर गया है—वह जो इतना अपना बन गया है, ठीक अपने रिश्तेदार-जैसा—इससे एक अद्भुत सुख पाती हूँ मैं! एक दिन की बात मुझे याद है,—वैद्य काका दरवाज़े के पास खड़े होकर माँ को दवा के विषय में कुछ विस्तार से बता रहे हैं—मिर्चा साबी की बात सुन रहा है—मैं कुछ अधिक दूर पर अपनी खाट के नज़दीक खड़ी हूँ—सहसा उसने एक बार मेरी तरफ़ पलकें उठाकर देखा और ज़रा हँसा—और उसी क्षण, ठीक उसी क्षण मेरे तमाम शरीर में एक अद्भु

अनुभूति की लहर बह गयी। मेरे मेरुदंड में झनझनाहट होने लगी; मैं खाट पर बैठ गयी। मैं तो ठहरी 'ज्येष्ठ तात', इसीलिए हर विषय का विश्लेषण करना मेरा स्वभाव है। इस अद्भुत अनुभूति ने मुझे प्रश्नों से भर डाला, आखिर यह क्या हुआ? और हुआ भी तो भला कैसे? यह तो शरीर का मामला है, पूरे तौर पर शरीर का मामला है, इसमें कोई सन्देह नहीं, इसमें आत्मा-वात्मा कुछ नहीं है, किन्तु वह शरीर भी तो छुआ तक नहीं गया है। केवल दृष्टिपात मात्र से कहीं ऐसा हो सकता है? आखिर पूछूं भी तो भला किससे! उससे पूछना ठीक नहीं होगा। तब तो वह शह पा जायेगा, परन्तु इसके अलावा वह जानेगा भी तो कैसे? वह कोई डॉक्टर तो है नहीं। शरीर का मामला तो डॉक्टर या वैद्य ही जान सकता है, लेकिन उनसे तो भला पूछा जा नहीं सकता। मान लिया जाये, यदि वैद्य काका से पूछूं· काका, मिर्चा को देखने से मुझे बीच-बीच में ऐसा क्यों लगता है, तो क्या होगा? हो-हो-हो, तब तो और एक खाट बिछाकर मुझे उस पर लिटा दिया जायेगा और मेरे सिर में मध्यम नारायण नाम के तेल की मालिश की जायेगी। नहीं तो, सीधे बहरमपुर के पागलखाने के हवाले कर दिया जायेगा।

हम लोग छत पर या बरामदे में बैठकर प्रायः ही छोटी-छोटी नाटिकाएँ पढ़ा करते हैं और उनकी आवृत्ति करते। हम लोग पढ़ा करते हैं—इसका मतलब है कि मैं पढ़ा करती हूँ और दूसरे सुनते हैं। छोटी-सी नाटिका अर्थात् 'गान्धारी का आवेदन', 'कर्णकुन्ती-संवाद' या 'विदाय-अभिशाप'। पर पता नहीं क्यों, 'विदाय-अभिशाप' मुझे ज्यादा अच्छा लगता है। इस गोष्ठी में रहते हैं मीलू, गोपाल, मुन्ना, और काकी। शान्ति भी रहती है, लेकिन यह सब वह ज्यादा समझती नहीं है। समझता तो मिर्चा भी नहीं है, फिर भी वह बीच-बीच में उपस्थित रहा करता है। छत पर बैठने में सभी को अच्छा लगता है, बस इतना-भर ही तो प्रकृति के समीप रह पाते हैं हम लोग। पढ़ते-पढ़ते अन्धकार उतरने लगता है, आकाश में एक-एक करके तारे उभर उठते हैं, उसके बाद मंथर गति से एक तरफ से दूसरी

तरफ़ खिसकने लगते हैं। हवा ठंडी हो जाती है। बग़ल के मकान के कामिनी के फूल की झाड़ी की सुगन्ध बिखरती है। अँधेरा हो जाता है तो भी मुझे रुकने की ज़रूरत नहीं पड़ती, मुझे तो सब-कुछ कंठस्थ है। एक दिन गोपाल ने मुझसे कहा : 'तुम इतनी बार 'विदाय-अभिशाप' पढ़ रही हो—भाग्य में कहीं वैसा ही न कुछ घट जाये !'

'अर्थात् ?' मेरी भवें तन गयीं।

'चाहे जो भी अर्थ समझ लो।'

'तुम्हारी हिम्मत तो बहुत बढ़ गयी है—जो मन में आता है मुझे कहने लगते हो।'

'ग़ुस्सा करो तो फिर तो मैं लाचार हूँ। मगर मैं तो तुम्हें सावधान कर रहा था, रू !'

यह उपमा तो मैंने और भी दो-एक बार अपने सगे-सम्बन्धियों के मुँह से, आभास से, सुनी है। मुझे ग़ुस्सा आया, डर नहीं लगा। आखिर डर क्यों लगेगा ? वह तो ठहरा काव्य, और यह ठहरा जीवन। दोनों अलग-अलग दो दुनिया की बातें हैं ! मिर्चा कभी कच की तरह नहीं करेगा। देवयानी को कच आखिर स्वर्ग ही क्यों नहीं ले गया ? ले तो जा सकता था, लेकिन तब इससे कहानी नहीं बनती।

एक दिन मिर्चा ने मुझसे कहा, 'तुम्हारे देश में नव-विवाहितों का जीवन कैसा होता है, इस बारे में कुछ जानने को जी चाहता है।'

'तुम्हारी बात कुछ समझ में नहीं आयी।'

'जैसे ये तुम्हारे काका और उनकी पत्नी हैं न, ये तो नव-विवाहित हैं, लेकिन इनमें तो मैं कोई भावोद्रेक देख नहीं पाता।'

'भावोद्रेक वे तुम्हें दिखाने आयेंगे क्या ?'

'पर हमारे देश में तो दीख पड़ता है—इसके अलावा मैं तो तुम्हारी काकी के चेहरे की ओर नज़रें गड़ाकर भी देखा करता हूँ, पर कहाँ, मुझे तो वहाँ भी कुछ नज़र नहीं आता।'

'अजीब बात है !' मुझे बड़ा ग़ुस्सा आया, 'काकी के चेहरे की ओर

तुम्हें देखने की क्या जरूरत है ? यह तो अच्छी बात नहीं है।'

'नहीं, नहीं, वैसी कोई बात नहीं है—उन लोगों का तो नया-नया ब्याह हुआ है, लेकिन उनके चेहरों पर तो कोई विशेष अभिव्यक्ति, कोई विशेष अभिव्यंजना नजर नहीं आती।'

मैं अवाक् ! 'ब्याह होना कोई चेचक निकलने के समान तो नहीं है कि चेहरे पर दाग़ दिखायी पड़ें ?'

वह हँस रहा है। मुँह दबा-दबाकर हँस रहा है।

'मगर हमारे देश में तो नव-विवाहितों के चेहरे पर स्पष्ट निशान दिखायी देने लगते हैं। कैसे निशान पड़ते हैं, तुम देखना चाहती हो ?'

'हाँ...।'

उसने अपने दोनों हाथों को बढ़ाकर मुझे पकड़ा। अपने मुँह पर मैंने गरम दबाव महसूस किया—व्यग्र और मधुर—तनिक बाद उसने मुझे छोड़ दिया : 'जाओ, आईने में जाकर अपना मुँह देखो...।'

मैंने उठकर दीवार पर टँगे उसके आईने में अपना मुँह देखा, तो चौंक उठी।

निचले होंठ के ठीक बीचोबीच एक छोटा-सा काला गोल दाग पड़ गया है—एकदम स्पष्ट। मैं टकटकी लगाये हुए हूँ—डर के मारे मेरी आँखें फैल गयी हैं : 'क्या होगा मिर्चा, अब क्या होगा ?'

वह निर्विकार भाव से एक किताब खोलकर उसके पन्ने उलट-पुलट रहा है। 'माँ तो सब-कुछ समझ जायेंगी ! नहीं समझेंगी ? बोलो, बोलो मिर्चा !'

'समझना ही ज्यादा सम्भव है।'

'अरे बाप रे, तो क्या कहूँगी माँ से, बता दो।'

'अपनी माँ से तुम क्या कहोगी, यह मैं कैसे बताऊँ।'

'तो आखिर तुमने ऐसा क्यों किया ? एँ, ऐसा क्यों किया ?'

निरुपाय होकर मैंने रोने का उपक्रम किया। एक किताब हाथ में लिये हुए उसके पन्नों को उलटाते-उलटाते उसने मेरी ओर निगाह डाले बिना ही कहा : 'अगर रोना-धोना शुरू किया तो फिर और एक निशान बना दूँगा।'

तरफ़ खिसकने लगते हैं। हवा ठंडी हो जाती है। बग़ल के मकान के कामिनी के फूल की झाड़ी की सुगन्ध विखरती है। अँधेरा हो जाता है तो भी मुझे रुकने की ज़रूरत नहीं पड़ती, मुझे तो सब-कुछ कंठस्थ है।

एक दिन गोपाल ने मुझसे कहा : 'तुम इतनी बार 'विदाय-अभिशाप' पढ़ रही हो—भाग्य में कहीं वैसा ही न कुछ घट जाये !'

'अर्थात् ?' मेरी भवें तन गयीं।

'चाहे जो भी अर्थ समझ लो।'

'तुम्हारी हिम्मत तो बहुत बढ़ गयी है—जो मन में आता है मुझे कहने लगते हो।'

'ग़ुस्सा करो तो फिर तो मैं लाचार हूँ। मगर मैं तो तुम्हें सावधान कर रहा था, रू !'

यह उपमा तो मैंने और भी दो-एक बार अपने सगे-सम्बन्धियों के मुँह से, आभास से, सुनी है। मुझे ग़ुस्सा आया, डर नहीं लगा। आखिर डर क्यों लगेगा ? वह तो ठहरा काव्य, और यह ठहरा जीवन। दोनों अलग-अलग दो दुनिया की बातें हैं ! मिर्चा कभी कच की तरह नहीं करेगा। देवयानी को कच आखिर स्वर्ग ही क्यों नहीं ले गया ? ले तो जा सकता था, लेकिन तब इससे कहानी नहीं बनती।

एक दिन मिर्चा ने मुझसे कहा, 'तुम्हारे देश में नव-विवाहितों का जीवन कैसा होता है, इस बारे में कुछ जानने को जी चाहता है।'

'तुम्हारी बात कुछ समझ में नहीं आयी।'

'जैसे ये तुम्हारे काका और उनकी पत्नी हैं न, ये तो नव-विवाहित हैं, लेकिन इनमे तो मैं कोई भावोद्रेक देख नहीं पाता।'

'भावोद्रेक वे तुम्हें दिखाने आयेंगे क्या ?'

'पर हमारे देश में तो दीख पड़ता है—इसके अलावा मैं तो तुम्हारी काकी के चेहरे की ओर नजरें गड़ाकर भी देखा करता हूँ, पर कहाँ, मुझे तो वहाँ भी कुछ नजर नहीं आता।'

'अजीब बात है !' मुझे बड़ा ग़ुस्सा आया, 'काकी के चेहरे की ओर

तुम्हें देखने की क्या जरूरत है ? यह तो अच्छी बात नहीं है ।'

'नहीं, नहीं, वैसी कोई बात नहीं है—उन लोगों का तो नया-नया ब्याह हुआ है, लेकिन उनके चेहरों पर तो कोई विशेष अभिव्यक्ति, कोई विशेष अभिव्यंजना नजर नहीं आती ।'

मैं अवाक् ! 'ब्याह होना कोई चेचक निकलने के समान तो नहीं है कि चेहरे पर दाग दिखायी पड़ें ?'

वह हँस रहा है । मुँह दबा-दबाकर हँस रहा है ।

'मगर हमारे देश में तो नव-विवाहितों के चेहरे पर स्पष्ट निशान दिखायी देने लगते हैं । कैसे निशान पड़ते हैं, तुम देखना चाहती हो ?'

'हाँ...।'

उसने अपने दोनों हाथों को बढ़ाकर मुझे पकड़ा । अपने मुँह पर मैंने गरम दबाव महसूस किया—व्यग्र और मधुर—तनिक बाद उसने मुझे छोड़ दिया : 'जाओ, आईने में जाकर अपना मुँह देखो...।'

मैंने उठकर दीवार पर टँगे उसके आईने में अपना मुँह देखा, तो चौंक उठी ।

निचले होठ के ठीक बीचोबीच एक छोटा-सा काला गोल दाग पड़ गया है—एकदम स्पष्ट । मैं टकटकी लगाये हुए हूँ—डर के मारे मेरी आँखें फैल गयी हैं · 'क्या होगा मिर्चा, अब क्या होगा ?'

वह निर्विकार भाव से एक किताब खोलकर उसके पन्ने उलट-पुलट रहा है । 'माँ तो सब-कुछ समझ जायेंगी ! नहीं समझेंगी ? बोलो, बोलो मिर्चा !'

'समझना ही ज्यादा सम्भव है ।'

'अरे बाप रे, तो क्या कहूँगी माँ से, बता दो ।'

'अपनी माँ से तुम क्या कहोगी, यह मैं कैसे बताऊँ ।'

'तो आखिर तुमने ऐसा क्यों किया ? एँ, ऐसा क्यों किया ?'

निरुपाय होकर मैंने रोने का उपक्रम किया । एक किताब हाथ में लिये हुए उसके पन्नों को उलटाते-उलटाते उसने मेरी ओर निगाह डाले बिना ही कहा : 'अगर रोना-धोना शुरू किया तो फिर और एक निशान बना दूँगा ।'

मैं सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर जा रही हूँ, मेरे हाथ-पाँव काँप रहे हैं। भय, भीषण भय कँपा रहा है मुझे। मृत्यु-भय भी शायद ऐसा नहीं होता। पता नहीं, मृत्यु-भय कैसा होता है, किन्तु उस क्षण यदि ईश्वर आविर्भूत होकर कहते : तुम इसी दम मर जाना चाहती हो, या दो-तल्ले पर अपनी माँ के सामने जाना चाहती हो तो मैं पहले को ही हजार गुना श्रेयस्कर मानती। किन्तु वैसा हुआ नहीं। ईश्वर कहाँ थे पता नहीं, वे तो भयार्त बालिका की पुकार सुन नहीं सके। कुछ देर बाद ही मैं माँ के सामने पड़ गयी। माँ तो मुझे देखकर ही चौंक उठीं। उसके बाद मेरी ओर स्थिर दृष्टि से ताका और पूछा : 'रू, तुम्हारे होंठ पर वह भद्दा-सा दाग़ कैसे पड़ा ?'

'कहाँ है दाग़ ?' मेरी आवाज अत्यन्त सहज और अचंचल है।

'जाकर आईने में देखो न।'

'ओ समझी, दरवाजे से धक्का लगा है।'

'किस दरवाजे से ?'

'किस दरवाजे से ! ओ, क्या पता...शायद...शायद लायब्रेरी के दरवाजे से।—शायद लायब्रेरी के दरवाजे से ही !'

'इतनी बड़ी चोट लगी, दर्द हुआ होगा, और तुम्हें पता तक नहीं कि धक्का लगा ? रू, सच-सच बताओ तो।'

'नहीं, नहीं दर्द तो नहीं महसूस हुआ। ओ, याद आया, मैंने खुद अपने ही दाँतों से इस होंठ को चबा डाला है।'

'वही तो। दरवाजे का धक्का खाने से कहीं वैसा होता है ? जाओ, पारा मोम लगाकर उसे ढक दो।'

सरल, भोली-भाली, विश्वास-परायण माँ ने मेरी बात का निश्चित मन से विश्वास करके राहत की साँस ली।

मेरा जन्म-दिन शीघ्र ही आने को है। समारोह के आयोजन से एक बार फिर पूरा घर मुखर हो उठा है। प्राचीन भारत में जिस तरह से जन्म-तिथि मनायी जाती थी, उसी तरह यह समारोह भी मनाया जायेगा। सभी साहित्यिक आयेंगे। इस अवसर पर वयोवृद्ध जलधर सेन सफ़ेद

कबूतर उड़ायेंगे—कबूतर उड़ेगा, बद्ध जीव मुक्त होगा। समारोह का आयोजन चल रहा है। इधर साबी की बीमारी बढ़ती जा रही है। वह बेसिर-पैर की बातें बकने लगी है, उसके अशान्त मन के लिए शायद वे बेसिर-पैर की बातें नहीं हैं, लेकिन उन बातों की संगति को मिलाने की किसे परवाह है? अभिभावक लोग अपनी सूची के मुताबिक काम किया करते हैं। बच्चों के मन पर क्या गुज़रती है—उनके मन की टोह भी रखनी चाहिए—इस ओर उन लोगों का ध्यान ही नहीं जाता है। वे लोग सोचते हैं, जैसा होना उचित है, अर्थात् जैसा होने से सब-कुछ शान्तिपूर्वक चलता रहे, वैसा ही सब-कुछ अपने-आप हो जायेगा। साबी इतनी बीमार है, इसके बावजूद समारोह का आयोजन इतने ज़ोर-शोर से चल रहा है। उसकी अवहेलना निश्चय हो ही रही है, इसीलिए तो वह अधिक अधीर है, परन्तु अपनी अधीरता व आपत्ति वह बेचारी प्रकट करे भी तो भला कैसे? उसके इस रोग का मूल बीजाणु है—छोटी-सी उम्र-मुखी विषभरी एक आशंका : 'दीदी को तो ममी प्यार करते हैं, मगर मुझे कोई प्यार नहीं करता!'

सगे-सम्बन्धियों में भी हलके-हलके बातें हो रही हैं, नरेन बाबू ने अपनी इस लड़की को लेकर बड़ी धूम मचाना शुरू किया है! इससे तो उसका दिमाग बिगड़ जायेगा! मेरी सहेलियाँ भी आशंकित हैं कि मैं उनसे जैसे अलग होती जा रही हूँ। यहाँ तक कि मिर्चा भी मान बैठा है कि मेरे माँ-बाप उसके साथ मेरा ब्याह रचाने को उत्सुक हैं और यथासमय वे लोग ही उससे इसके बारे में कहेंगे। उसने भी मुझसे उस दिन हठात् कहा, 'अगर तुम्हारे साथ मेरा ब्याह नहीं हो, तो इतना जान रखो कि मेरी इच्छा है कि मैं तुम्हें कम-से-कम तीन बार ज़रूर देखूँ, पहली बार जब तुम माँ बन जाओगी, दूसरी बार जब तुम बहुत बूढ़ी हो जाओगी और तीसरी बार जब तुम मृत्यु-शैया पर पड़ी होगी।' उसकी यह बात सुनकर मुझे बड़ा गुस्सा हो आया है। मैं जानती हूँ, यह उसका कविता में बातें करने के बराबर है। मैं भी बहुत-सी बातें कविता में किया करती हूँ—जिनका कोई शब्दार्थ नहीं होता! किन्तु उसके इस कथन का मर्म क्या है भला? युद्ध

जिस प्रकार ज़रा, मृत्यु देखी थी तो उसी प्रकार यह जनाब भी देखेंगे! बात तो काफ़ी मज़ेदार है।

मेरे जन्म-दिन पर बंगाल के प्राय: समस्त विख्यात साहित्यिक आये थे। सिर्फ़ रवीन्द्रनाथ नहीं आये थे—क्यों नहीं आये थे, सो तो मुझे याद नहीं है—सम्भवत: यहाँ नहीं थे। किन्तु वे हमारे घर कभी नहीं आये हैं, ऐसी बात नहीं। वे तो कई बार आये हैं, इस मकान में ही कुछ दिन पहले अचानक एक दोपहरी में बिना कोई खबर दिये आ गये थे। मैं तब आँगन की सीढ़ी पर बैठकर उच्च स्वर में कविता पढ़ रही थी—दु:ख की बात यह है कि वह रवीन्द्रनाथ की कविता नहीं थी—सम्भवतः अचिन्त्य सेन-गुप्त की 'अमावस्या' नाम के काव्य-संग्रह की कोई कविता थी, और मैं उसी से पढ़ रही थी। वह किताब हाल ही में प्रकाशित हुई थी। ऐसे समय एक आदमी ने गली की तरफ़ वाले आधे लटकते दरवाज़े को ज़रा हटाया और कहा: 'रवि बाबू आये हैं।' तब उन्हें सभी रवि बाबू कहा करते थे। यद्यपि मैंने अपनी इस किताब में उनका इस नाम से उल्लेख नहीं किया है—मैं तो कुछ क्षणों के लिए उसकी बात ही नहीं समझ पायी। इतनी अप्रत्याशित यह घटना थी! इसके बाद अपने-आप को संभाला और दरवाज़ा खोला, तो देखती हूँ, वे मिर्चा के कमरे के गलियारे के बीचोंबीच खड़े हैं—'निरंजन आनन्द मूरति', तनी हुई लम्बी देह, चश्मे से काला फीता लटक रहा है—उस चश्मे का नाम है पेंसिले[1]—कानों पर कमानी नहीं है। सामने की धोती का एक सिरा फ़र्श को छू रहा है। यह तो मानो स्वर्ग से कोई देवता सहसा हमारे इस घर के बीचोंबीच आ आविर्भूत हुए हों। मेरी अवस्था देखी, तो उन्होंने हँसकर कहा: 'तो डॉक्टर बिशू की तरह खबर देकर आना उचित था क्या?' मैं सोच रही थी, सौभाग्य से हम सभी घर पर हैं। सीढ़ियाँ चढ़ते-चढ़ते उन्होंने कहा:

1. इस प्रकार के चश्मे की कमानियाँ नहीं होतीं, एक काला फ़ीता इससे लटका रहता है।

'आया था रामानन्द बाबू के घर, उन्होंने बताया कि तुम लोग नज़दीक ही रहती हो, इसीलिए सोचा, तुमसे एक बार मिलता जाऊँ। उन्हीं का आदमी मुझे यहाँ तक पहुँचा गया है।'

रामानन्द बाबू पास ही रहते थे टाउनसेंड रोड में। रोज सवेरे वे प्रातःभ्रमण के लिए निकलकर हाथ में छड़ी लिये, धीरे-धीरे चलकर हमारे घर आया करते थे। हमारे घर में सवेरे की चाय की मेज़ पर कुछ देर के लिए उनकी उपस्थिति एकदम नित्य-नैमित्तिक घटना थी। वे कभी चाय नहीं पीते थे। पीते थे एक गिलास दूध। जहाँ तक मुझे याद आता है, क़रीब-क़रीब उन दिनों एक घटना को लेकर वे खूब उत्तेजित थे। एक विख्यात पंडित ने स्वयं अपनी एक किताब में अपने एक छात्र के शोध के विषय को, अर्थात् उस छात्र की रचना को, रख दिया था। इस बात को लेकर तब समूचे देश में तहलका मच रहा था। रामानन्द बाबू दुर्बल पक्ष के सहायक बने थे; उनके अनुसार उस बेचारे छात्र की तरफ़ से बोलने वाला कोई नहीं था—पिताजी के साथ इस विषय में वे चर्चा किया करते थे।

टाउनसेंड रोड-स्थित रामानन्द बाबू के घर उस दिन दोपहर में कवि आये थे 'शेषेर कबिता' की पांडुलिपि लेकर। सिर्फ़ इतना ही नहीं कि 'प्रवासी' पत्रिका में रवीन्द्रनाथ की सारी रचनाएँ सदा प्रकाशित होती थीं, बल्कि वह पत्रिका उन्हें हर तरह से अपने-आप में धारण किये हुए थी। रामानन्द चट्टोपाध्याय मानो विराट पंख फैलाकर सदा उनकी रक्षा को तत्पर रहते, जिस तरह से मादा पंछी अपने बच्चे की रक्षा किया करती है। सुनने में तो यह उपमा कुछ अजीब-सी लग रही है। रामानन्द ने क्या कैसे रवीन्द्रनाथ की रक्षा की थी : क्या वे रवीन्द्रनाथ से बड़े थे? नहीं, ऐसी बात नहीं। लेकिन रक्षा करने की शक्ति उनमें थी—उनके हाथ में थी भारत की श्रेष्ठ पत्रिका, जो पत्रिका सिर्फ़ साहित्य के लिए ही नहीं, बल्कि निर्भीक पत्रकारिता, निरन्तरता, सब-कुछ लेकर विशेष सम्मान और सम्मान-योग्य थी, और प्रचार-प्रसार भी जिसका सर्वाधिक था। ऐसी कितनी ही पत्रिकाएँ आजकल हैं, जिनकी प्रतियाँ उससे कई गुना अधिक छपती-बिकती हैं, किन्तु उतनी श्रद्धा के साथ किसी पत्रिका

का नाम आज कोई नहीं ले सकता। उन दिनों और भी जो दो बड़ी-बड़ी पत्रिकाएँ थी—'वसुमती' व 'भारतवर्ष'—इन दोनों में कभी, जहाँ तक मुझे याद आता है, रवीन्द्रनाथ की एक भी रचना प्रकाशित नहीं हुई, क्योंकि रवीन्द्र-काव्य की प्रकृति के साथ इनका विरोध था। रवीन्द्रनाथ का विरोध करने वाली पत्रिकाओं व लोगों की कमी नहीं थी। शायद संख्या में वे ही अधिक थे; निन्दा-मुखर इस देश के ईर्ष्या-जर्जर छोटे-बड़े हर व्यक्ति के साथ अथक लड़ाई लड़ी थी रामानन्द ने। उनके तेज़-तर्रार, निपुण परिहास-उज्ज्वल 'विविध-प्रसंग' में रवीन्द्रनाथ के तमाम कामों का समर्थन व विपक्ष के प्रति युक्तिशाणित विद्रूप वाण निक्षिप्त हुए थे। यदि कोई कहे, कि इसकी क्या ज़रूरत थी ? तो मैं कहूँगी, हाँ, उसकी ज़रूरत थी। रामानन्द की सहायता न पाते, तो निन्दा के कुशांकुर से रवीन्द्रनाथ का कोमल मन छिद-भिद जाता !

मैं रामानन्द के साथ एक विशेष आत्मीय मेल का अनुभव किया करती थी। वे भी कवि को मेरी ही तरह प्यार किया करते थे। रामानन्द को इसलिए कभी-कभार ईर्ष्या करने का अधिकार भी था। अतः जब 'विचित्रा' पत्रिका आधुनिक सज्जा से अलंकृत होकर और रवीन्द्रनाथ की दो बृहत् रचनाओं 'चतुरंग' व 'तीन पीढ़ी' से समृद्ध होकर प्रकाशित होने लगी तो वे जो ज़रा खिन्न हुए होंगे इसमें आश्चर्य क्या है ! इसीलिए उस दिन रवीन्द्रनाथ अपने हाथों 'शेषेर कविता' की पांडुलिपि लेकर आये थे—'प्रवासी' के सम्पादक का मान-भंग करने। फलस्वरूप मेरा ही लाभ हो गया—उनके ऐसे अप्रत्याशित आविर्भाव से अधिक और क्या सुखकर घटना हो सकती है !

मेरे जन्म-दिन के समारोह पर उस 'विचित्रा'-पत्रिका के सम्पादक उपेन गंगोपाध्याय भी आये थे। वे भी प्रायः आया करते थे; बड़े मधुर-भाषी व्यक्ति थे। रामानन्द बाबू की भांति उपेन गंगोपाध्याय भी इस बालिका की रचनाएँ जेब में डालकर ले जाया करते थे। हमारे समय में साहित्य के क्षेत्र में इतनी रेलपेल नहीं थी। सम्पादक को पसन्द आने पर ही कोई रचना प्रकाशित हुआ करती थी और पसन्द निर्भर करती थी रचना पर—रचयिता की जन्म-पत्री पर नहीं।

उस दिन मेरी वर्षगाँठ पर जो-जो व्यक्ति आये थे उन सब की बातें लिखने बैठूं तो यह लेखन 'महाभारत' के समान महाकाय हो जायेगा। श्रद्धेया कामिनी राय की तब कवयित्री के रूप में देशव्यापी ख्याति थी; इसके अलावा एक और कारण से हम लड़कियाँ उनके प्रति विशेष संवेदना अनुभव किया करती थी—हम लोग सुनते थे, जगदीशचन्द्र वसु को वे प्यार करती थीं, और जगदीशचन्द्र भी उन्हें प्यार करते थे।

इन दोनों का विवाह तय था, पर हुआ नहीं। सुना है, इस विरह की फलश्रुति 'प्रकाश छाया' नामक कविता की पुस्तक है। और पी० सी० राय जिन्हें प्यार करके चिरकुमार बने रहे, वे यही कामिनी राय हैं। ऐसे-ऐसे महान् पुरुषों की श्रद्धा व प्रीति पाने के योग्य थी रमणीया कामिनी राय!

उस दिन हमारे घर में कामिनी राय से एक नवोदित कवयित्री कह बैठी कि वे लोग अब पुरानी पड़ चुकी हैं; 'आज' के युग में उनकी रचनाएँ ग्रहण-योग्य नहीं रहीं। कामिनी राय हृदय की ज्योति से ज्योतिष्मती थी; इस अपमान से वे तनिक भी विचलित नहीं हुईं—स्निग्ध भाव से मौन धारण किये रहीं। किन्तु उस कवयित्री का यह दम्भ-प्रदर्शन मेरी माँ को बहुत बुरा लगा था। माँ ने कहा . 'कामिनी राय पुरानी पड चुकी हैं, और *ये जैसे पुरानी ही नहीं पड़ेंगी किसी दिन!* कविता क्या कभी पुरानी हो जाती है? क्या उसका मूल्य कभी कम हो जाता है? कवि ने जो कहा है, जब नयी-नयी मसें भीगती हैं तो लड़का बार-बार आईने में अपना मुँह देखा करता है, ये नये कवि भी उसी तरह हरदम अपनी अदृश्य मूँछों पर ताव दिया करते हैं!' यह पुरानी हो जाने वाली बात मुझे भी किसी दिन अच्छी नहीं लगती। पुराना क्या होता है? मनुष्य? उसका भाव? सत्ता का जो अमर अंश है, वही तो साहित्य का जन्म होता है। अतः एक दिन जो कुछ अच्छा था, यदि सचमुच ही वह अच्छा था, तो दूसरे दिन क्या वह अच्छा नहीं रहेगा? और फिर इस बात का भला निर्णय ही कौन कर सकता है? निर्णय करने वाला भी तो अपने हाथ में कोई अपरिवर्तशील मानदंड लिये नहीं बैठा हुआ है। शरत्चन्द्र को मैंने वहीं पहली बार देखा...पहली और आखिरी बार, क्योंकि उन्हें मैंने फिर नहीं देखा। यद्यपि उनकी लगभग तमाम रचनाएँ ही मैं तब तक साग्रह निगल

चुकी थी। 'विप्रदास' ने मुझे उनके प्रति विमुख किया था। 'विचित्रा' में 'विप्रदास'[1] छप रहा था। मैंने अपनी उस छोटी-सी उम्र में ही सोचा था, जिन्होंने 'पल्ली समाज'[1] लिखा है, उन्होंने 'विप्रदास' आखिर क्यों लिखा? विप्रदास खान-पान लेकर छुआछूत मान रहे हैं, लेखक उसका समर्थन कर रहे हैं! विप्रदास यद्यपि 'योगायोग'[2] के विप्रदास की तरह ही बातें किया करता है फिर भी उसकी बातें निरर्थक हैं। यदि वे बातें गोरा के अनुरूप हैं तो भी 'गोरा'[2] के लेखक—गोरा की मार्फ़त दक़ियानूसीपन के समर्थन में चाहे जितनी ही बातें कहें किन्तु वे स्वयं तो—उसका समर्थन नहीं करते...गोरा को साहब बनाकर उन्होंने तमाम छुआ-छूत व दक़ियानूसीपन का मूलोच्छेद किया है। और शरत्चन्द्र के विप्रदास यह कहकर कि, इस हाथ का छुआ नहीं खाऊँगा, उसके छू देने से नहीं चलेगा, आदि—किस सत्य की उपलब्धि कर रहे हैं? किन्तु उनसे यह बात पूछने का साहस मुझे उस दिन नहीं हुआ था।

कवयित्री प्रियंवदा देवी ने अपनी सारी छोटी-छोटी कविता की किताबें मुझे दी थीं। उन्हें तो मैंने बहुत निकट से देखा है। वैसी स्नेह-प्रवण और मधुर स्वभाव की विदुषी आजकल तो देखने को नहीं मिलतीं। शायद किसी को यह बात मालूम नहीं है कि उनके साथ रवीन्द्रनाथ के विवाह का प्रस्ताव एक बार हुआ था—रवीन्द्रनाथ की पत्नी के देहान्त के बाद। महर्षि देव ने भी इस विवाह के समर्थन में इच्छा प्रकट की थी। परन्तु रवीन्द्रनाथ ने ही नकार दिया था। सुना है कि प्रसिद्ध जापानी कलाकार ओकाकुरा उन्हें प्यार करते थे—एक चित्र भी उन्होंने उनका बनाया था। ये सब बातें सुनी-सुनायी हैं—ये मुँहबोली मधुर कहानियाँ हैं। इन दोनों में से कोई अपनी जीवनी नहीं लिख गये, इसीलिए हम लोग ठीक-ठीक कुछ जान नहीं पाये। किसी-किसी मनुष्य का जीवन ही तो एक दीप होता है जो दूसरे के पथ को आलोकित करता है—दुनिया को पहचानना सिख-

---

1. लेखक—श्री शरत्चन्द्र चटर्जी।
2. लेखक—श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर।

जाना है!

प्रियंवदा देवी की बात याद आने पर एक ही साथ बहुत-सी नारी-मूर्तियाँ दिमाग में आती हैं—ये सब-की-सब विदग्धा व बहुगुण-सम्पन्न थीं—और हरेक नाना प्रकार के वैशिष्ट्य से विभूषित थीं—सरला देवी, हिरण्मयी देवी, प्रियंवदा देवी, इन्दिरा देवी—सबका नाम उल्लेखनीय है, सभा-समितियों में इन्हें अगल-बगल में देखने की हमारी आँखें अभ्यस्त थीं—सब-की-सब ब्राह्मसमाजियों के ढंग से साड़ियाँ पहने, हाथों में जापानी पंखे लिये रहती थीं—देखने में आभिजात्य की प्रतिमूर्ति-सी प्रतीत होती थीं। सरला देवी, सुना है, खूब कड़े मिजाज की महिला थीं। किन्तु उनमें मैंने जो स्नेह पाया है उसमें उस बात का समर्थन करने की मेरी इच्छा नहीं होती है। वस्तुतः ठाकुर-घराने से सम्बद्ध हरेक आदमी ही मुझे बहुत अच्छा लगता था, उन लोगों के सम्बन्ध में मेरी राय पक्षपात-पूर्ण मानी जा सकती है। अनुरूपा देवी को तो बहुत निकट से मैंने नहीं देखा है, लेकिन वे इस समाज की महिला नहीं थीं।

कान्तिचन्द्र घोष के मूँछें थीं, किन्तु वे उन पर 'ताव' नहीं देते रहते थे। यद्यपि 'उमर ख़ैयाम' की रुबाइयों का अनुवाद करके उन्होंने तब विशेष ख्याति अर्जित की थी—वे सुन्दर ढंग से आवृत्ति किया करते थे—'ओह, टेक द कैश ऐन्ड लेट द क्रेडिट गो—नॉट हीड द रम्बलिंग ऑफ़ द डिस्टेंट ड्रम'[1]—की बात उस दिन बड़ी सच थी। भविष्य की किसी विभीषिका को उस दिन मैं देख नहीं पाती थी—मेरे दो हाथ कैश से भरे थे, नक़द मूल्य से भरे थे, मोहरें खनक रही थीं—खनन-खनन।

उन दिनों के साथ आज की तुलना करने बैठती हूँ, तो एक बात मेरे दिमाग में आती है और वह यह कि अभी जो बुद्धिजीवियों के नाम से विख्यात हैं, उनमें, मुझे लगता है, फ़र्क़ बहुत ज्यादा हुआ करती है। अल्पवयस्क लड़कों में से भी कोई अमुक पत्र-पत्रिका में लिख रहा है, किसी ने अमुक पुरस्कार पाया है—बस, उनके सामने इस उम्र में भी

---

1. 'Oh! take the cash and let the credit go—nor heed the rumbling of the distant drum.'

डर के मारे हम लोग सिर नहीं उठा सकते हैं। अपवाद इसमें न हो, ऐसी बात नहीं, लेकिन वे तो ठहरे अपवाद ही। मैं तो आज बाक़ायदा हीन-ग्रन्थि-भावना से ग्रस्त हूं। क्योंकि पुरानी पड़ चुकी हूं। किन्तु उन दिनों उन सब प्रसिद्ध साहित्यिकों के, जो ज्ञान-गुण और उम्र में मुझसे बहुत अधिक बड़े थे, व्यवहार में तनिक भी अवज्ञा देखने को नहीं मिली। मेरे पिताजी ने, जो बित्ते-भर की एक लड़की को लेकर धूम मचाना शुरू किया था, उसकी भी कोई खिल्ली नहीं उड़ा रहे थे, बल्कि वे लोग तो खुश थे, तुष्ट थे, तृप्त थे। उन्होंने तो मेरी ओर हाथ बढ़ा दिया, मानो सहयात्री को गाड़ी में चढ़ा लिया। 1930 ई० की पहली सितम्बर को मैं सहसा कामिनी राय, प्रियंवदा देवी, कान्तिचन्द्र घोष, जलधर सेन आदि की समकालीन हो गयी।

उदयशंकर को लेकर तो हम लोग मन-ही-मन दीवाने-से हो उठे थे, पिताजी उन्हें भी ले आये। उनके साथ ज़रा अकेले में बात करने की इच्छा से उन्हें दो-तल्ले के बरामदे में ले गयी और उन्हें अलग से 'चाय' दी। घर तब लोगों से भरा पड़ा था। मैं उनसे बात करने की कोशिश कर रही थी कि तभी मिर्चा अपनी धोती का अगला सिरा संभाले वहाँ पहुँचा। वह तो उनका मुझसे भी बड़ा प्रशंसक है, यह मुझे पता है। मैं तो चाहती हूँ कि वह उनसे बातें करे। मैंने क्या मना किया है? जी में आये तो वह उन्हें अपने नीचे के कमरे में भी ले जा सकता है, और यदि अकेले में उनसे बात करना चाहता हो, तो भी मुझे कोई आपत्ति नहीं है। सो तो नहीं, वह एक चक्कर लगाकर खिन्न मुख से चला गया।

सच-सच बताने में क्या दोष है—नज़दीक से उन्हें देखकर मैं ज़रा निराश ही हुई। क्योंकि बात करना तो उनकी कला का माध्यम नहीं है। जो मनुष्य मंच पर कभी पर्वत-शिखर-सा ऊँचा, कभी समुद्र की लहर-सा लगा था, वह सहसा मनुष्य हो गया!

पहले हम सभी लोग एक साथ गाड़ी से घूमने जाया करते थे दूर-दूर तक; पिताजी अपनी आँखों की बीमारी के बाद अब जा नहीं सकते हैं, इसीलिए

हम लोग अर्थात् मैं, सावी, मेरे छोटे-छोटे दो भाई, शान्ति और मिर्चा, लेक तक घूमने जाया करते थे। तब ढाकुरिया लेक की खुदाई हाल में ही शुरू हुई थी या हो रही थी। बड़ी लेक का सजाना-संवारना खत्म हो चुका था; उस पार की छोटी-सी लेक की खुदाई हो रही थी। तब वहाँ लोगों का इतना जमघट नहीं लगा करता था। तब कलकत्ता की जनसंख्या आज की जनसंख्या की एक चौथाई भी थी कि नहीं, इसमें सन्देह है; सदर्न एवेन्यू से होकर तब शायद घंटे में दो-तीन से ज्यादा गाड़ियाँ नहीं चलती थी!

घूमने जाते समय मिर्चा रोज ही धोती, कुर्ता और चप्पल पहन लिया करता था—वह जैसे घर का ही एक आदमी हो जाता था। घर के अल्पवयस्क सभी मोटे तौर पर हमारी बात को जानते थे, मगर कोई कुछ कहता नहीं था। शान्ति तो बल्कि बच्चों को लेकर घूमने जाकर हम लोगों को कुछ मौका दिया करती थी!

जन्म-दिन के समारोह के आयोजन में मुझसे वह जरा दूर हो गया था, मगर फिर से हम लोगों में पहले की तरह हेल-मेल हो गया। क्रमशः कुछ ऐसी हालत होती जा रही है कि हम एक-दूसरे को छोड़कर जरा भी नहीं रह सकते, हालांकि रहना तो पड़ता ही है। इसीलिए सर्वदा दुःख और सुख आपस में घुल-मिलकर मन को व्याकुल किये रहता है—वह कुछेक दिनों के लिए अपने देश जाना चाहता है, वह अगर जाये तो मैं क्या करूँगी? भविष्य की चिन्ता करने की उम्र मेरी नहीं है। हमारा ब्याह नहीं होगा, यह मैं मोटे तौर पर जानती हूँ। किन्तु उसे छोड़कर रह नहीं सकूँगी, यह भी जानती हूँ—सो भी इन दोनों दशाओं के बीच जो सामंजस्य करने की जरूरत है यह न तो मेरे दिमाग में ही आता है, न इसकी कोशिश ही करती हूँ।

एक दिन अचानक आंधी आयी, फिर वर्षा। मैं दोपहर में नीचे उतरकर आ रही थी—सोच रही थी, आँगन में खड़ी होकर भीगूँ। तभी वह बोला: 'अमृता, इधर तो आओ।'

उसके कमरे के सामने की तरफ, दरवाजे के पास मैं खड़ी थी, वह

भी वहीं चौखट से पीठ सटाकर खड़ा था। उसने अपने दोनों हाथों को बढ़ाकर मुझे खींच लिया।

'क्यों तुम मेरे हाथ को हटा रही हो, अमृता ?'

'मुझे डर लगता है।'

'डर लगता है, या ईर्ष्या होती है ?'

'ईर्ष्या भला किससे होगी ?'

'क्या तुम अपने-आप से ईर्ष्या करती हो ? क्या तुम अपने शरीर से ईर्ष्या करती हो ? तुम्हें क्या लगता है कि मैं तुमसे अधिक तुम्हारे शरीर को प्यार कर रहा हूं ? ऐसी बात नहीं है अमृता, ऐसी बात नहीं, मैं तो तुम्हें ही ढूंढ रहा हूं, तुम्हारी आत्मा को ढूंढ रहा हूँ। तुम तो अपने शरीर में ही हो, तुम्हारे जिस अस्तित्व को न आँखों से देखा जा सकता है, न हाथों से छुआ जा सकता है, तुम्हारी देह के परे के तुम्हारे उस अस्तित्व को मैं तुम्हें स्पर्श करके पा रहा हूँ !'

वह मेरी आँखों में आँखें डाले निहार रहा है।

'मैं कुछ समझ नहीं पाती मिर्चा, कुछ समझ नहीं पाती।'

1930 ई० की कहानी समाप्त होने को आयी। मेरे दुर्धर्ष तत्वज्ञानी पिता व अभिज्ञ माता को इन दो तरुण-तरुणियों की प्रणय-लीला की किसी खबर का पता नहीं चला। कोई सन्देह भी उन्हें नहीं हुआ है—उनको खबर अन्ततः मिली ग्यारह वर्ष की एक लड़की से।

साबी की बीमारी की कोई स्थिरता नहीं है, वह उसके मिजाज के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है। जब मनोयोग को आकर्षित करने का समय आता है तब उसका उल्टा-पुल्टा बोलना बढ़ जाता है। उस दिन हम सभी लेक में घूम-फिर रहे थे; मेरे छोटे-छोटे भाई-बहन भाग-दौड़ कर रहे थे। हम दोनों एक झुरमुट की बगल में बैठे हुए थे नयी लेक के उत्तर की तरफ़ : संध्या होने को आयी थी। आस-पास कोई खास लोग-बाग नहीं थे। मुझे याद नहीं आता है कि शान्ति उस दिन हमारे साथ थी कि नहीं। हम दोनों एक-दूसरे से सटकर बैठे हुए थे, नीरव अन्धकार

में हवा आकाश हम लोगों को घेरे हुए था, सामने के तरंगहीन निथरे पानी पर पीछे की बत्ती की रोशनी में हम दोनों की छाया लम्बी होकर पड़ रही थी। चारों ओर निस्तब्धता छायी हुई थी, मेरा मन भी शान्त था। एक अनोखी प्रशान्ति से मैं आविष्ट थी, लेकिन वह चंचल, अस्थिर अधैर्य था। हठात् उसने मेरी जाँघ को छुआ।

'नहीं, नहीं मिर्चा, नहीं, ऐसा नहीं करते।'

'क्यों नहीं ऐसा करूँ? तुम मेरी नहीं बनोगी? मैं तुम्हें अच्छा नहीं लगता हूँ?'

'नहीं मिर्चा, मैं तुम्हारी नहीं बन पाऊँगी, मिर्चा! वे लोग कभी इस बात के लिए राज़ी नहीं होंगे।'

'क्या कह रही हो तुम? उन लोगों ने तो तुम्हें मुझे दे ही दिया है।'

वह बेचारा हमारे संस्कार, धर्म, आचार-व्यवहार को बिलकुल समझ नहीं रहा है! इन सबके बारे में उसे चाहे जितना ही सुनाया जाये, उसे लेकिन वह समझ नहीं पाता है। वह तो मुझे भी नहीं समझ पाता है।

'छोड़ दो मिर्चा, मुझे डर लग रहा है।'

'तुम्हें कभी नहीं छोड़ूँगा। कभी नहीं, इस जीवन में नहीं छोड़ूँगा।'

तभी सहसा हो-हल्ला हुआ, न जाने किसने पुकारा, हम लोग भागे हुए गये, तो देखा, साबी ज़मीन पर लोट रही है, और चिल्ला-चिल्लाकर ऊल-जलूल कुछ बके जा रही है। मिर्चा ने उसे उठा लिया और लाकर बड़ी लेक के किनारे एक बेंच पर लिटा दिया। मैं उसके सिर और बदन पर हाथ फेरती हुई उसे शान्त करने की कोशिश कर रही थी। धीरे-धीरे चाँद निकल रहा था—चाँद की छाया पड़ी हुई थी लेक के पानी पर। साबी छटपटा रही थी: 'यूक्लिड भैया, तुम मेरे पास बैठो। मुझे ज़रा दुलराओ तो।'

मिर्चा ज़रा आगे बढ़ा: 'क्या तकलीफ हो रही है तुम्हें, क्या तकलीफ हो रही है?' उसने उसके कपाल पर एक छोटा-सा चुम्बन जड़ दिया।

साबी कह रही थी: 'अब दीदी को दुलारो तो, दुलारो, दुलारो न!' वह उन्मत्त-सी हो उठी थी।

'उफ़, सावी, चुप हो जा, क्या पागलपन कर रही है ?' मैं उसे जितना रोकना चाहती थी वह उतना ही बार-बार जिद किये जा रही थी, और मिर्चा भी उस मौक़े को हाथ से जाने देने को राजी नहीं था : 'अच्छा, अच्छा, दुलरा रहा हूँ,' यह कहकर उसने मुझे बाँहों में भर लिया और जरा ज़्यादती कर डाली। परन्तु सावी उसी क्षण फिर चिल्लाने लगी : 'क्या किया है तुमने दीदी, क्या किया है ?' मैं उसे जितना समझाती थी, कहाँ क्या किया है, कुछ भी तो नहीं किया है, यह रहा मिर्चा, वह तो तुम्हारी ही बग़ल में खड़ा है, उतना ही वह और बके जा रही थी, किसी भी तरह रुकने का नाम नहीं ले रही थी। काफ़ी देर तक बातें करके उसे रोकना चाह रही थी, भुला रही थी। मेरा कलेजा काँपने लगा था। प्रेम के अमृत को डुबोकर भय का विष मेरे शरीर में फैल गया था : मुझे विषधर ने डस लिया था। हम लोग गाड़ी में चढ़े। मिर्चा को तो कोई फ़िकर थी नहीं। वह कल्पना भी नहीं कर सका था कि कैसी भावी से सामना होने वाला है।

हम लोग घर आ पहुँचे। सावी गाड़ी में ख़ामोश थी। मैं सोच रही थी, वह शायद सब-कुछ भूल गयी है। आख़िर बीमार है न ! मिर्चा गाड़ी से उतरकर नीचे के कमरे में चला गया...और मैं ऊपर के।

इधर से, उधर से पिताजी और माँ की आवाज़ें सुनायी पड़ रही थ और मेरा कलेजा काँप-काँप उठता था। बाद में जब उस समय की बा सोची, तो लगा, उस दिन के आनन्द के साथ भय की भावना ओतप्रो होकर घुल-मिल गयी थी, एक पल के लिए भी भय ने मुझे राहत साँस नहीं लेने दी थी। सचमुच ही क्या अनूठे, अमानवीय और हिं समाज में हम लोग रहते थे !

घंटा-भर भी नहीं बीता होगा कि माँ आकर मेरे कमरे में घु 'रू, छत पर चलो तो।' माँ का मुँह गम्भीर है, गला काँप रहा है। लोग छत पर आयीं, तारों-भरी ठण्डी रात---मुझे अब उतना भय सता रहा है। लगता है, मैं शायद माँ के साथ बातें कर सकूँगी।

'सावी से यह सब क्या सुना, रू ? मैं तो विश्वास ही नहीं क रही हूँ।'

छत पर एक बड़ी-सी चौकी है, माँ उस पर बैठी हुई हैं—दोनों हाथों से घुटनों को बाँधे। माँ के बाल खुले हुए हैं, मुँह पर चाँदनी पड़ रही है। माँ देवी-सी दीख रही हैं। माँ की भला उम्र ही कितनी है! मुझसे मात्र सोलह साल बड़ी हैं। हम लोग तो धीरे-धीरे सहेलियों-जैसी होती जा रही हैं।

माँ ने कहा : 'मुझे सब-कुछ खुलासा बताओ तो।'

मैं खाट पर औंधी हो गयी और माँ के पैरों पर सिर रखा—'माँ-माँ-माँ!'

'बताओ न, बताओ न, तुम उससे व्याह करना चाहती हो?'

महत्वपूर्ण समय में भी मुझे अक्सर सहज मामूली बातें याद आया करती थी—मैं सोच रही हूँ, इस बार तो मुझे खुद अपने मुँह से कहना पड़ेगा कि मैं उससे ब्याह करना चाहती हूँ, कैसी लाज की बात है! यह तो बचपन की घटना की तरह होगा। छुटपन से ही सुनती आ रही हूँ, ब्याह की बात ही बड़े लाज की बात है—जिसका ब्याह होने वाला है वह चूँ तक नहीं कर सकती है। माथा नीचा किये रहती है लाज के मारे। मैं सोचा करती थी, ब्याह की बात बोलने में ही जब लड़की इतनी लजाती है तो फिर ब्याह कैसे करती है? लाज के मारे मर क्यों नहीं जाती है? बाद में दादी के साथ एक बार एक ब्याह के घर गयी थी, उस दिन दिन-भर वहीं रहना पड़ा था—दुलहन तो बड़ी ही चटपटी थी—खुद ही सभी को बिठा रही थी, खातिर कर रही थी, आलमारी खोलकर गहने दिखा रही थी, लेशमात्र लज्जा नहीं देखी उसमें। दादी से पूछा : 'दादी, दुलहन को तो लाज भी नहीं आ रही है?' दादी भी बहुत विरक्त थी : 'निर्लज्ज, बेहया लड़की है।' पर आज? आज दादी रहती तो?

माँ कह रही हैं : 'बताओ न, बताओ न, सचमुच तुम उससे ब्याह करना चाहती हो कि नहीं? अगर तुम ऐसा चाहती हो तो फिर उसी के साथ निश्चय तुम्हें ब्याह दूँगी। मैं अपनी बेटी को मन से भी व्यभिचारिणी नहीं होने दूँगी।'

मैं मां के पैरों पर माथा रखे ही बोली : 'हां मां, मैं उससे व्याह करना चाहती हूं, चाहती हूं मैं उससे व्याह करना, मां ! उसे छोड़कर मैं रह नहीं सकूंगी।'

'ओ, तो ऐसी बात है !' मां ने दीर्घ नि.श्वास छोड़ा : 'अच्छा तो ऐसा ही होगा।'

मैं देर तक मां की गोद में लेटी रही, आकाश के नीचे रात के शीतल स्पर्श ने मां के स्नेह की भांति ही मुझे गले से लगा लिया था। मेरा मन शान्त है, प्रशान्त है। चारों ओर कैसी नीरव प्रगाढ़ शान्ति छायी हुई है ! मेरी इतने दिनों की इतनी आशंका मिट गयी—एक क्षण में। मुझे बहुत पहले ही मां को बताना उचित था। मैंने मां को पूरे तौर पर ग़लत समझा था। मां ने तो एक बार भी नहीं कहा कि उसे प्यार करके मैंने पाप किया है। और सावी ने अगर सब-कुछ बता भी दिया है तो भी मां ने मुझसे कुछ नहीं कहा। बहुत देर बाद मां बोलीं : 'तू अपने कमरे में चली जा, रू। आज और नीचे मत जाना। मैं खुद तुम्हारे कमरे में खाना पहुंचा दूंगी।'

उस रात उससे फिर भेंट नहीं हुई। उसने उस दिन पियानो भी नहीं बजाया। नीचे पियानो बजने पर मैं मन और तन में भी अर्थात् अपनी चेतना के पोर-पोर में मिलन का गहरा आनन्द अनुभव किया करती थी। किसी-किसी दिन तो मुझे लगता था—उससे यदि मेरी भेंट न भी हो—लेकिन सुर में उसके अस्तित्व की खबर तिरती हुई आये तो वह भी मेरे लिए काफ़ी होगा। उस दिन रात को मुझे केवल यही लगने लगा कि उससे तो मैंने भय के बारे में इतना कुछ कहा है, किन्तु आज कह नहीं पायी : भय नहीं, कोई भय नहीं। कल सवेरे मां शायद उससे पहली बार कहेंगी। विनिद्र आंखों से बहुत रात तक मैं विवाह की रात के समारोह का दिवा-स्वप्न देखती रही। मैं देख रही हूं, वह ऐपन-लगी

पीढ़ी पर खड़ा है—गरद की धोती-चादर पहने—'चन्दन-चर्चित नील कलेवर, पीत वसने वन माली'—नील कलेवर चाहे जितना ही अच्छा क्यों न हो, श्वेत कलेवर उससे कहीं ज्यादा अच्छा होता है ! तो क्या उसे यज्ञोपवीत पहनाया जायेगा ? नहीं, सो कैसे होगा ? और 'शुभ-दृष्टि' के समय ? जब चादर हमारे माथे के ऊपर लोग डाल देंगे तब श्रीमती मालविका अर्थात् माया देवी की छाती पर तो साँप लोटने लगेगा या अभी ही लोट रहा हो, क्योंकि उन्होंने तो इसी बीच एक बार मुँह बिचकाकर मुझसे कहा है, कच व देवयानी का अभिनय कैसा चल रहा है ? वे कहेंगी : पेट में दाढ़ी लिये लड़की ने तो 'शुभ-दृष्टि' पहले ही निपटा ली है ! और रानू, मेरी स्कूल की सहेली रानू वह तो आँखें फाड़कर मुझसे कहेगी : तो तूने आखिरकार 'प्रेम-विवाह' कर ही लिया, तुझमें तो बहुत साहस है !

सबकी बातें मुझे याद आ रही हैं—मीलू क्या कहेगी, नानी क्या कहेंगी, और आराधना क्या कहेगी ? मुझे लग रहा है, सभी खुश होंगे । कोई मेरी निन्दा नहीं करेगा । इन सबके ऊपर उसका सोना हुआ चेहरा नजरों के सामने तिर रहा है, बेचारा अभी भी यह नहीं जानता है कि उसकी इच्छा पूर्ण होगी । वह मुझे इतना चाहता है, लेकिन हम लोग अभी भी चार-पाँच मिनट से ज्यादा एक-दूसरे के नजदीक हो ही नहीं सकते हैं, मगर अब ? 'तुम्हीं में समाये रहूँगी बहुत दिन, बहुत रात, बहुत बरस, बहुत मास।' किन्तु पिताजी और माँ को छोड़कर रह सकूँगी ? उन लोगों को छोड़कर भला रहना ही क्यों पड़ेगा ? उसने तो कहा है कि वह तो यहीं रहेगा । वाह, वह चाहे कुछ भी कहे, उसके देश तो निश्चय ही जाऊँगी, उसकी माँ को मैं नहीं देखूँगी ? और उसकी बहन को ? उसके देश जाने की बात से मुझे प्रिंसेप घाट की बात याद हो आयी—एक बार रवीन्द्र-नाथ विलायत जा रहे थे, उन्हें विदा करने के लिए हम लोग बन्दरगाह तक गये थे। वहाँ कैसा बड़ा जहाज था ! अब डर-वर दूर हो गया है, लज्जा, दारुण लज्जा से मेरे कान झनझना रहे हैं—आखिर उनसे तो कहना होगा । कौन कहेगा ? मैं ही कहूँगी । कब ? जब वे कलकत्ता

आयेंगे। लगभग साल-भर से वे विदेश में हैं।

रात गहराती जा रही है, आधी सुषुप्ति और जागृति में मैं स्ट्रैथेयार्ड जहाज को देख पा रही हूँ, दोनों किनारे की तट-रेखाओं के भीतर से होकर सँकरे-से जल-मार्ग पर वह आगे बढ़ता चला जा रहा है, हिलता-डुलता—यह तो स्वेज नहर है—उस ओर भूमध्य सागर की नीली जल-राशि है, उधर जाते-जाते वह जहाज मोर-पंखी-सा हो गया है।

दूसरे दिन माँ का चेहरा देखा, तो मेरा कलेजा काँप उठा! माँ की आँखें सूजी हुई थीं और स्वर गम्भीर। तो क्या माँ रात-भर सोयी नहीं है?

'रू, तुम आज नीचे मत उतरना। अपने कमरे में ही रहना। किसी से बात मत करना—शान्ति, छोटकी किसी से भी नहीं। मैं आ रही हूँ ज़रा बाद में।'

मैं स्तम्भित होकर खड़ी रही—यह फिर क्या हुआ?

मेरे हाथ-पांव में झुनझुनी होने लगी। खड़ा रहना असम्भव हो गया, तो मैं रात के बिस्तर पर ही फिर से लेट गयी।

कुछ देर बाद माँ एक गिलास लिये हुए कमरे में घुसीं।

'लो, इसे पी लो। तुमसे कुछ बातें करनी हैं।'

मैं दूध पीना पसन्द नहीं करती, बिलकुल ही पसन्द नहीं करती। किन्तु अभी बिना किसी प्रतिवाद के माँ की बात मान ली। माँ मेरी बग़ल में खाट पर बैठ गयीं और बड़े कड़े स्वर में मुझसे कहा: 'तुम्हारे पिताजी ने मुझसे खूब अच्छी तरह पूछ-ताछ करने के लिए कहा है। सच-सच बताओ, तुम लोग कितनी दूर तक पहुँच चुके हो?' मैं चुप्पी साधे हूँ। मैं सोच रही हूँ, सावी या शान्ति कोई भी बनाकर झूठ नहीं बोलेगी।

शान्ति यद्यपि बनाकर कहानी कह सकती है—पर सावी कभी झूठ नहीं बोलेगी। मैं या मेरे भाई-बहन झूठ नहीं बोलते। माँ ने सिखा दिया है: 'यदि दण्ड भी सहना पड़े तो भी कभी झूठ नहीं बोलना।' आखिर हम लोग तो कहीं दूर नहीं गये थे, वहीं तो थे।

माँ ने फिर कहा: 'बताओ, बताओ, मेरी बात का उत्तर दो। कहाँ तक जा चुके हो तुम लोग?'

माँ का प्रश्न अच्छी तरह से मेरी समझ में नहीं आया—मैं बोली, 'तुम उन्हीं लोगों से पूछो न ! लेक में और कहीं दूर नहीं गये थे हम लोग।' माँ निश्चिन्त हुईं। मेरी भर्त्सना से खुश हुईं। देर तक एक चुप्पी छायी रही हमारे बीच। नीचे बच्चों का कोलाहल सुनायी पड़ रहा है। जागे हुए घर में रोज का स्वाभाविक जीवन शुरू हो गया है—किन्तु उसके साथ हमारा जैसे कोई मेल ही नहीं हो—इस क्षण मैं और माँ जैसे बहुत दूर किसी और दुनिया में, किसी और समय में चली गयी हों। माँ ने दीर्घ निःश्वास छोड़ा। फिर कुछ देर बाद बोलीं : 'रू, अच्छा, सच-सच बता तो, मिर्ची ने तुम्हारे साथ क्या-क्या किया है ?'

मैंने तकिये में मुँह छिपा लिया। मैं इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दूँगी, हरगिज नहीं, वरना झूठ बोलना पड़ेगा। आखिर सच्ची बात बताऊँ तो बताऊँ कैसे ? सब तो सारा दोष उसी का हो जायेगा। पर क्या सिर्फ़ उसी का दोष है ? मेरा भी तो दोष कुछ कम नहीं है, जरा भी कम नहीं है। उसकी तो यहाँ माँ नहीं है, बाप नहीं हैं, कोई भी नहीं है। वह तो दूसरे के घर में रहता है। यहाँ तो मेरे पिताजी ही उसके सब-कुछ हैं। अब वे यदि नाराज हो जायें तो फिर वह कहाँ जायेगा ?

माँ बोलीं : 'रू, उठो, मुँह उठाओ और मेरी ओर ताको।' माँ का स्वर कड़ा और स्नेह से शून्य, लेशमात्र भी स्नेहयुक्त नहीं है। मैंने मुँह तो उठाया है, लेकिन माँ की तरफ ताक नहीं पा रही हूँ। माँ की नजरों से नजरें मिलाकर भला झूठ कैसे बोलूँगी ! मेरा मुँह सूख गया है, गला सूख गया है, कुछ बोल नहीं पा रही हूँ। उतनी सुन्दर चीज़ पाने के लिए आखिर इतना नीचे क्यों उतरना पड़ेगा ?

'तुम कुछ बोल क्यों नहीं रही हो, रू ? आखिर मेरी ओर पलकें उठाकर देख भी क्यों नहीं रही हो ? तुम्हारा चेहरा ऐसा काला क्यों पड़ गया है ? कहाँ है वह मेरी तेजस्वी, सत्यवादी बेटी जो झूठ के साथ कभी समझौता नहीं किया करती ? आखिर आज उसकी ऐसी दशा क्यों है ? छिः, अपराध के भार से तुम्हारा सिर नीचा हो गया है, आखिर यह भी मुझे देखना पड़ा ?' माँ का कलेजा मुँह को आ रहा है। मैं जानती हूँ, माँ जो कुछ कह रही हैं, वह सच है, किन्तु चाहे जितना ही अन्याय हो मैं

ो झूठ ही बोलूँगी। उसे कभी मुसीबत में नहीं डालूँगी।

'अच्छा बताओ तो रू, उसने तुम्हें चूमा है?'

'हाँ।'

'कहाँ?'

इस बार याद हो आया है, एक निरापद उत्तर देना होगा।

'कपाल पर...।'

'बस, सिर्फ़ कपाल पर ही?'

'हाँ।'

'तुम लोगों ने कोई गन्धर्व विवाह-उवाह तो नहीं न किया है?'

'यह भला कैसी बात है? यह क्या होता है?'

'क्यों, गन्धर्व-विवाह किसे कहते हैं, क्या तुम नहीं जानती हो? यही मालाओं का आदान-प्रदान, अँगूठियों का आदान-प्रदान, या वैसा कुछ?'

'नहीं माँ, वैसी बात तो हमारे दिमाग़ में भी नहीं आयी है।' बाद में समझ में आया है, कि माँ ने सोचा था वैसा कुछ-न-कुछ हुआ हो तो माँ के लिए हमारी सहायता करना सहज होगा।

'देखो रू, मैंने तुमसे जो कुछ कहा था, वह कर नहीं सकी। तुम्हारे पिताजी हरगिज़ राजी नहीं हुए।'

मैं काँप रही हूँ। माँ ने मेरे बदन पर हाथ रखा: 'शान्त हो जाओ।'

'मगर क्यों, माँ? क्यों?'

'तुम्हारे पिताजी ने कहा है—उसके बारे में हम लोग नहीं जानते हैं—उसके वंश के बारे में कुछ नहीं जानते हैं, फिर उसके बाप-दादा कैसे हैं, कौन जाने? हो सकता है, उसको कोई बुरी बीमारी हो।'

मैं सन्नाटे में आ गयी, यह भला कैसी अजीब बात है! 'माँ, आज लगभग साल-भर से वह हमारे यहाँ है, एक दिन के लिए भी उसे ज्वर तक नहीं आया है। फिर उसको कोई बुरी बीमारी क्यों होगी?'

'ऐसी बीमारी नहीं, वह कुछ और बात है। ख़ैर, वह तुम्हें जानने क जरूरत नहीं। तुम्हें तो पता नहीं कि ये फ्रांसीसी कैसे बुरे लोग हुआ कर हैं, ये बिलकुल असभ्य होते हैं।'

'लेकिन वह तो फ्रांसीसी नहीं है।'

'उससे क्या होता है! ये सब एक-से होते हैं—आखिर उसकी सभ्यता तो फ्रांसीसी सभ्यता ही ठहरी।'

'मगर फ्रांसीसी सभ्यता बुरी कैसे है? आखिर तमाम यूरोप तो फ्रांसीसियों का ही अनुकरण किया करता है।'

'हाँ ठीक है, करते हैं, परन्तु ऐसा करने से उनकी क्या उन्नति हुई है?'

'क्या कहती हो माँ, यूरोप की उन्नति नहीं हुई है?'

'अरे सो बात नहीं—उनका जीवन कैसा होता है, यह तो तुझे नहीं पता। बड़ी होने पर मोपासाँ की कहानियाँ पढ़ोगी तो सब-कुछ समझ में आ जायेगा। पति-पत्नी तक में विश्वास नहीं रहता—वे एक-दूसरे को लगातार ठगते रहते हैं—ब्याह करते हैं किसी और से, और मौज उड़ाते हैं किसी और के साथ। एक वैसे बुरे समाज में तू जी नहीं सकेगी!'

'मैंने तो मोपासाँ की 'नेकलेस' नामक कहानी पढ़ी है। पर कहाँ, वह तो कोई बुरी कहानी नहीं है।'

'अरे नहीं, और कितनी ही कहानियाँ हैं—फिर तेरे पिताजी ने जो कुछ बताया उसे सुनकर तो मारे डर के मेरे हाथ-पाँव ठंडे हो जाते हैं।... ऐसा करना कभी अच्छा नहीं होगा, रू।'

'माँ, माँ, मेरी प्यारी माँ!'

'क्या करूँ, रू? उन्होंने कहा है, इस विषय में मैं अगर ज़ोर दूँ तो वे अपनी जान दे देंगे। तो तुम उन्हें मार डालना चाहती हो? तुम उन्हें ज़रा भी प्यार नहीं करती हो? तो वही लड़का तुम्हारा इतना अपना बन गया?'

मैं खुद ही हक्की-बक्की होती जा रही हूँ। मेरे मन में, पिताजी की बीमारी की बात जानकर भी, कोई दुश्चिन्ता नहीं हो रही है,—बल्कि मुझे तो गुस्सा आ रहा है—इसी बीमारी का डर दिखाकर वे हमेशा माँ से अपनी 'हाँ' में 'हाँ' मिलवा लेते हैं। तो क्या और किसी को ब्लडप्रेशर नहीं हो सकता है? आखिर मुझे ब्लडप्रेशर क्यों नहीं होता है? हे भगवान, कुछ ऐसा करो जिससे मुझे अभी तुरन्त ब्लडप्रेशर हो जाये! माँ कह रही हैं:

'रू, तुम अगर इसे लेकर कोई ज़्यादती करो तो उन्हें स्ट्रोक हो सकता है। ऐसा हो, यह क्या तुम चाहती हो? अपने-आपको संभालो, आदमी की हर चाह पूरी होती है क्या?'

पता नहीं मेरे घंटे, मिनट किस रूप में और कैसे कटे! दोपहर में माँ आयीं: 'रू, उठ, चल देख, मिर्चा चला जा रहा है। उसने कहा है, जाने के पहले वह तुझे एक बार, सिर्फ़ एक बार देखना चाहता है।'

मैं उठ नहीं पा रही हूँ, मेरे शरीर की तमाम हड्डियाँ जैसे चूर-चूर हो गयी हों—मैं उठूँ कैसे?

'रू, उठ, उठ, वह नीचे धूप में खड़ा है—तू ऊपर के बरामदे में खड़ी हो जाना—इस बात पर तुम्हारे पिताजी राज़ी हुए हैं, वह सिर्फ़ एक नज़र तुझे देखकर ही चला जायेगा।'

इस उन्नीस सौ बहत्तर ईस्वी से जब मैंने फिर से उन्नीस सौ तीस ईस्वी में प्रवेश किया तो फिर—ठीक फिर उसी अठारह सितम्बर की-सी हालत हुई। फिर मेरी हड्डियाँ पिस गयीं, कलेजे में कचोट होने लगी—क्या आश्चर्य है, मुझे तो पता ही नहीं था कि तैंतालीस बरसों से मेरे अस्तित्व का एक भाग उन्नीस सौ तीस ईस्वी में ही स्थिर होकर खड़ा है—'अजो नित्यः शाश्वतोऽयम् पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे'—आज तो वह शरीर नहीं रहा, पर वह तो है वही, वही अमृता।

मैं बरामदे के बीचोंबीच एक खुली-सी जगह में खड़ी हूँ और वह नीचे खड़ा है—माधवी-लता की हल्की-सी छाया उसके चेहरे पर पड़ी हुई है—वह अपना वही यंत्रणा-कातर मुँह मेरी ओर उठाये हुए है—लग रहा है, उसे जैसे किसी ने आग के सींखचे से बींध दिया हो! मैंने आज तक किसी के मुँह पर वैसी यंत्रणा का बिम्ब नहीं देखा है। उसने हाथ उठाकर मुझे नमस्ते की: 'विदा!'

'नहीं, नहीं, मिर्चा नहीं...!' और ठीक उसी क्षण समझ में आया कि उससे तो मैं कुछ कह नहीं पायी, कितनी बार सोचा था, अब की बार कहूँगी किन्तु जबान तक नहीं खुली। अब किसी दिन मैं उससे कभी कुछ नहीं कह पाऊँगी...।

उसके बाद क्या हुआ, मुझे कुछ स्पष्ट याद नहीं आता है—मेरी धारणा है कि माँ ने मुझे लिटा दिया था। पर बाद में मैंने सुना कि मैं गिर गयी थी। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। मेरी हड्डी-पसलियाँ ही तो ढीली हो गयी थीं। जब मुझे होश आया, तो देखती हूँ, मैं अपने कमरे के बगल वाले उस तंग बरामदे में, जो मिर्चा के कमरे के सामने वाले सँकरे-से गलियारे के ऊपर है, लेटी हुई हूँ—माँ मेरे माथे पर पानी डाल रही हैं और उनकी आँखों से आँसू बह रहे हैं, और वे बोले जा रही हैं : 'दुर्गा श्रीहरि, दुर्गा श्रीहरि—क्या करूँ मैं, अब क्या करूँ ?'

मिर्चा जा चुका है—पर कहाँ गया, कौन जाने ? कौन मुझे बतायेगा ? मुझसे किसी की मुलाकात नहीं हो रही है—माँ मुझे निकलने नहीं दे रही हैं—मेरा शोकाहत रूप वे सबकी नजरों से बचाकर रखना चाहती हैं—इसे देखकर लोग हँसेंगे। मैं शरबत के अलावा और कुछ नहीं पीती हूँ—खाना असम्भव-सा हो गया है। माँ तो एक छोटी-मोटी डॉक्टर ही ठहरी, वे भी जोर नहीं करती हैं। वे कहती हैं : दुःख, शोक और क्रोध की किसी भी अवस्था में शरीर में विष पैदा होता है। तब कुछ जलीय खाना ही काफी है। रह-रहकर मेरा मन करता है कि सावी को बुलाकर पूछूँ कि जाते समय उससे मिर्चा कुछ कह गया है कि नहीं ? फिर सोचती हूँ कि नहीं, वह बच्ची ठहरी, उसके सामने हम लोगों ने जो एक ऐसा कांड किया, यही तो बड़ा भारी अन्याय हुआ है, ऐसा न करना ही उचित था। इसके अलावा उससे और भला वह कहेगा ही क्या ?

बाद में मैंने सुना है कि उसने कहा था : 'क्या किया साबी, तुमने यह क्या किया ?' बेचारी साबी ने रो-रोकर कहा था : 'मैं समझ नहीं पायी

थी यूक्लिड भैया, मैं समझ नहीं पायी थी कि तुम्हें इतना कष्ट होगा, दीदी को इतना कष्ट होगा !'

•

क्या पता, उसके जाने के कितने दिन बाद की बात है—एक शाम को देख रही हूँ, मेरे उस कमरे में, जिसमें मुझे बंदी तो नहीं लेकिन लोगों की नजरों से बचने के लिए रखा गया है, सहसा दरवाजा थोड़ा-सा खोलकर चुपके से कोई औरत घुसी। तब भी बाहर हल्की-सी रोशनी है—मगर कमरे के भीतर अँधेरा छाया हुआ है, एक कोने में नीली बत्ती जल रही है—शेड लगी—और ज्यादातर दरवाज़े बन्द हैं। उस औरत की बात तो मुझे याद है, मगर उसका चेहरा नहीं देख पा रही हूँ। उसके साड़ी के घेरे के अन्दर के दोनों पैर धीरे-धीरे मेरी ओर आगे बढ़ते आ रहे हैं, पर वह है कौन ? काकी है, या शान्ति है, या चम्पा बुआ है या कोई और है ? खैर, वह मेरे बिस्तर के पास आकर खड़ी हो गयी : 'देखो रू, भागने की कोशिश मत करना। मेरी बात को गिरह बांध लो, तुम अभी भी नाबालिग़ हो—तुम अगर भागीं, तो तुम्हें तो पकड़वाकर लाया ही जायेगा—हाँ, तुम्हारी और कोई क्षति नहीं होगी, लेकिन उसे जेल में डाल दिया जायेगा। और उस जेल में भले आदमियों के साथ नहीं, चोर-डाकुओं के साथ रहना होगा उसे। उसे निकर पहनाकर उससे पत्थर तुड़वाये जायेंगे।'

'आखिर तुम लोग मुझे धमकी क्यों दे रही हो ?' मैं तकिये में मुँह छिपाये हुए हूँ, कैसी निरुपाय हूँ मैं, कैसी निरुपाय ! 'मैं क्या कहीं जा रही हूँ ? मैं तो इस कमरे में अकेली पड़ी हुई हूँ—ऐसी अण्ड-बण्ड, निरर्थक बातों से मुझे छलनी कर डालने की जरूरत क्या है ?'

'मैं तो तुम्हारी भलाई के लिए ही कह रही हूँ।'

•

दो-एक दिन कट चुके हैं, मुझे सबसे ज्यादा तकलीफ़ इस बात को लेकर है कि मैं उससे कुछ नहीं कह पायी। कहने को कितना कुछ था, पर अब

तो इस जीवन में कभी उससे कुछ कह नहीं पाऊँगी। काश ! उसके जाने के पहले एक घंटा भी अकेले में उससे बातें कर पाती ! जितने दिन वह यहाँ रहा, मैंने उसे सिर्फ कष्ट ही दिया है, और कुछ नहीं, और कुछ भी नहीं।

अभी सवेरा हुआ है, दरवाज़ा ज़रा खुला, मुन्ना कमरे में घुसा, घुसते ही उसने आदतन अपनी चुहलबाज़ी शुरू कर दी : 'ऐं, पड़े-पड़े रोना ! छिः-छिः, कहाँ से आये तुम निर्मम पथिक...?' वह 'विदाय-अभिशाप' से देवयानी का कथन दोहरा रहा है, 'उठो, मिर्चा ने तुम्हारी एक किताब माँगी है। उसके पास तुम्हारी एक भी किताब नहीं है।'

'तुम्हें पता है, वह कहाँ गया है ?'

'ज़रूर पता है, वह फिर उसी रिपन स्ट्रीट में जाकर ठहरा है।'

'फिर से उन्हीं ऐंग्लो-इंडियनों के मकान में ठहरा है ? हाय री तकदीर ! वह जो उनसे बिलकुल ही घृणा करता है, वह उनके वहाँ रहना पसन्द नहीं करता है—वहाँ लड़कियाँ अच्छी नहीं हैं, रे मुन्ना...!'

'तो फिर कहाँ जाता ? इस तरह अचानक एक दिन में खदेड़ दिये जाने पर इस विदेश में वह बेचारा जाता ही कहाँ ?'

'ओ भाई मुन्ना—अरे मुन्ना रे—मैं अब क्या करूँ...?'

'चुप हो जाओ, कुछ मत बोलो...।' उसने होंठों से तर्जनी छुई और एक मुद्रा बनाकर एक चक्कर खा लिया . 'चारों ओर जासूस चक्कर लगा रहे हैं—मैं तो भागूँगा—जल्दी से किताब निकालो, मैं बरामदे में इन्तज़ार कर रहा हूँ।'

मैंने किताब निकाली, मैं बरामदे में आयी—तभी मेरे दिमाग में आया कि उसे सावधान कर दूँ—ताकि पिताजी यदि उससे कुछ पूछें भी तो वह जैसे कुछ स्वीकार न करे—वह तो मानता ही नहीं है कि उसने कोई अनुचित काम किया है, उसकी दृष्टि में यह अनुचित नहीं है, इसीलिए वह सबकुछ साफ-साफ बता भी सकता है। मैंने किताब का पिछला पन्ना खोला और उस पर लिखने लगी—मेरा हाथ काँप उठा, पंक्ति टेढ़ी-मेढ़ी हो गयी, मैंने तो एक झूठ को प्रेम के बल पर अक्षय बना दिया था, पर यह बात मैं जान भी नहीं सकी—'मिर्चा, मिर्चा, मिर्चा, आई हैव टोल्ड माई

मदर दैट यू हैव किस्ड मी ओनली ऑन माई फ़ोरहेड।'

'भाई मुन्ना, इसके साथ मैं एक चिट्ठी भी दूंगी। उसे ले जाओ और उसका उत्तर ला देना।'

'जल्दी-जल्दी लिखो—मामा को पता चलेगा तो इसी दम निकाल देंगे मुझे।'

मैंने एक छोटा-सा कागज लिया और चिट्ठी लिखने बैठी। आखिर क्या लिखूं? लिखने को कितना कुछ था, पर कुछ याद नहीं आ रहा है। ठहरो! दो बातें तो ऐसी हैं जिन्हें खूब जोर देकर कहना होगा। और मन में दृढ़ विश्वास लेकर इस सत्य की मैं रक्षा जरूर करूंगी...मैंने लिखा, 'मैं तुम्हें कभी नहीं भूलूंगी...आई शेल नेवर फ़ॉरगेट यू...नेवर फ़ॉरगेट यू...नेवर फ़ॉरगेट यू।'[1] और लिखा : 'तुम्हारे लिए मैं प्रतीक्षा करूंगी—आई शैल वेट फ़ॉर यू, वेट फ़ॉर यू!'[2] पंक्ति-पर-पंक्ति इस एक ही बात को लिखकर मैंने पूरे कागज को भर दिया और फिर मुन्ने को दे दिया।

'मुन्ना, तुम यह चिट्ठी उसे दे देना। उसके बाद जो कुछ होगा, देखा जायेगा।'

मेरे ढेर सारी केश-राशि इन्हीं दिनों में जटा बन गयी है। मैंने माँ को इन बालों को छूने तक नहीं दिया है। माँ के साथ हमेशा बक-झक करती हूँ, और वे सब-कुछ सह रही हैं। मैं चिट्ठी उसे देकर कमरे में आयी और फिर लेट गयी। मैंने अपने लम्बे-लम्बे बालों को लटका कर बाँह से आँखों को ढक लिया और प्रतिज्ञा करने लगी : 'नहीं भूलूंगी, नहीं भूलूंगी, नहीं भूलूंगी।' मन पर तो पिताजी का हाथ नहीं है—और वह प्रतिज्ञा दबे पाँव मेरे अवचेतन में उतरने लगी—फिर सीढ़ी-दर-सीढ़ी बड़ी सावधानी से नीचे, बहुत नीचे मन के अतल में—जहाँ बाहरी दुनिया की आवा-जाही नहीं होती, जहाँ दिन-रात नहीं होता, जहाँ सुबह-शाम नहीं होती, जहाँ सूर्य नहीं उगता, जहाँ चाँद और तारे नहीं टिमटिमाते—

---

1. 'I shall never forget you...never forget you...never forget you.'
2. 'I shall wait for you...wait for you.'

उतर गयी, और महायोग निद्रा में सो गयी, पर तब किसे पता था कि तैंतालीस वर्षों के बाद उसकी नींद फिर टूटेगी ?

दो-तीन दिन कट गये, मुन्ने का फिर कोई पता नहीं चला। उससे भेंट ही नहीं हो पाती थी, आखिरकार एक दिन उसे पकड़ा, 'क्या हुआ ? मेरी किताब और चिट्ठी उसे तुमने दी है ?'

'हाँ।'

'फिर ?'

'फिर क्या ?'

'इसके बाद फिर क्या—इसके मतलब ? उसने कुछ नहीं कहा ?'

'नहीं तो।'

'नहीं तो ! तुम आज ही एक बार उसके पास जाओ और उससे कहो कि मैं उसका उत्तर चाहती हूँ।'

'पर वह तो वहाँ है ही नहीं। वह ढूंढे नहीं मिल रहा है, मैंने पूछ-ताछ की तो मालूम हुआ कि वह वहाँ नहीं है।'

'हाय राम ! कैसी अजीब बात है ! पर इतने दिन तुमने मुझसे कहा क्यों नहीं ?'

'कहता भी तो तुम क्या करती ? अगर वह पानी में डूबकर जान भी दे दे, तो तुम क्या कर सकती हो ?'

'अरे भाई मुन्ना, तुम कुछ करो। मेरे प्यारे मुन्ना, मैं तुम्हारे पाँव पड़ती हूँ, उसकी खबर लाकर मुझे दो...।'

'अच्छा-अच्छा।' मुन्ना नौ-दो-ग्यारह हो गया।

सवेरा होता है, रात होती है, कैसे अमोघ नियम से समय का पहिया घूम रहा है। यह घूमता हुआ पहिया हमारे भीतर सुख, दुःख, शोक, आनन्द आदि का शोधन करके एक भाव को दूसरे भाव में परिणत कर चलता है। माँ कहा करती हैं, शोक का संताप रहता है पहले तीन दिन, तब वह

आग में जलाकर धीरे-धीरे कम होता जाता है। फिर तो माँ पुत्र का शोक भूल जाती है, सद्य:-विधवा तक उठ खड़ी होती है। प्रतिदिन क्षय होता है और फिर प्रतिदिन उसकी क्षतिपूर्ति भी होती है। सभी इस बात को, कानों से सुनकर अथवा किताबों को पढ़कर जानते हैं—परन्तु ऐसा जानना तो कोई जानना नहीं है, यह दु:ख-दहन मुझे सिखा रहा है कि कैसे सत्य को जानना चाहिए। मैंने तो सोचा था कि मैं अपने बाल काट डालूंगी—पर वैसा कहाँ कर सकी—और अब तो वैसी इच्छा भी नहीं होती है। मेरा दूसरा मन कह रहा है, बालों को काटने से क्या बनता-बिगड़ता है, उससे तो सूरत बिगड़ जायेगी। यही तो जीवन-लिप्सा है! इतना मैं जानती हूँ।

माँ मेरे पास बैठकर तरह-तरह की बातें कर रही हैं—काका ने कैसा बुरा बर्ताव करना शुरू किया है, वे लोग दूसरे घर में चले जायेंगे। बहू अच्छे स्वभाव की नहीं है। मायके जाकर पिताजी और माँ के नाम से चुग़लियाँ कर रही है। मेरे नाम से भी। पर मैं कुछ नहीं सुन रही हूँ—तकिये में मुंह छिपाये लेटी हुई हूँ। ये सब बातें सुनकर क्या होगा? जिसकी जो खुशी हो, करे। यह घर-संसार मेरे लिए बिलकुल पराया हो चुका है।

माँ ने उँगलियाँ फेर-फेरकर मेरे बालों में पड़ी लटों को सुलझा दिया है, चोटी गूंथ दी है। माँ धीरे-धीरे कह रही हैं: 'रू, दु:ख पाने का भी अपना एक मूल्य है—सभी ज्ञानी-गुणी व्यक्ति यह कह गये हैं। तुम भगवान को पुकारो, वे ही तुम्हारे मन को ठीक कर देंगे। शान्त कर देंगे। दु:ख पाकर ही मनुष्य उनकी शरण में जाता है, यों ही नहीं जाता—बाण खाकर जो गिरता है वही तुम्हारा चरण पकड़ता है।'

माँ ने कमरे की रोशनी बुझा दी और चली गयीं—गाने की पंक्तियाँ घूम-फिरकर दिमाग़ में आ रही हैं, किन्तु मेरे आच्छन्न, अभिभूत मन में उनका अर्थ-बोध नहीं खुल पा रहा है। 'आराम से जिसका आघात ढका है, कलंक जिसकी है सुगन्ध', 'कलंक जिसकी है सुगन्ध'—तो मुझे कलंक लगा है? निश्चय। पड़ोस के वैद्यनाथ बाबू ने कहा है, 'यही सब है बड़े घरों की करतूत! घर में एक ईसाई छोकरे को रखने का यही नतीजा होता है।' यह सुनकर पिताजी को बड़ा गुस्सा आया, वे इस मकान को

छोड़ने की सोच रहे हैं। ऐसे असभ्य मुहल्ले में रहने की जरूरत नही। सभी कीचड उछाल रहे हैं, खिल्ली उड़ा रहे हैं...मेरा आच्छन्न मन एक अद्भुत तन्द्रा में डूबा जा रहा है—'कलंक जिसकी है सुगन्ध'...'तुम्हारा चरण वहीं गहता है'...'देहि पदपल्लवम्'...'देहि मुख-कमल-मधु-पानम्'... तुम्हारा चरण वही गहता है, तुम्हारा चरण वही गहता है—गाने की पक्तियाँ पिनाकी के हाथ का पिनाक बन गयी है, और सीधे आकर मेरे माथे में लग रही है उसकी टंकार—झननन-झननन, तुम्हारा चरण वही गहता है—मैं बिस्तर पर लोट रही हूँ कि तभी अचानक मैं खाट से गिर पडी।

उस दिन जब मुझे होश आया तो कमरे में सभी को देखा, पिताजी को भी। मिर्चा के चले जाने के बाद बस यही पहली बार मेरी पिताजी से आमने-सामने भेंट हुई। पिताजी माँ से कह रहे हैं : 'दूध के साथ जरा ब्राडी पिला दो।'

'कल श्यामादास वैद्य को बुलवाइये।'

काका बहुत-सी सख्त बातें कहकर चले गये। यही पहली बार मैंने उन्हें पिताजी के सामने उद्धत होते देखा। मुझे काका पर गुस्सा आ रहा है। हिम्मत तो देखो, पिताजी से इस तरह से बात करेंगे—आखिर पिताजी ने तो उन्हें पाल-पोसकर अपने पैरों पर खड़ा कर दिया है न! मैं निर्वाक् टकटकी लगाये हुए हूँ—कमरे मे दो बत्तियाँ जल रही हैं, किन्तु लोग मुझे ऐसे देख रहे हैं जैसे अधकार मे किसी छाया-मूर्ति से सामना हो जाये। यहाँ तक कि पिताजी भी। उनकी छाया मेरी किताबों की आलमारी के पास जाकर खड़ी हो गयी है। पिताजी ढूँढ-ढाँढ़कर किताबें निकाल रहे हैं। पहली किताब जो उन्होंने निकाली वह एक जापानी परियों की कहानी की किताब है, जो चमकीले नीले कपड़े से मढ़ी हुई है और जिस पर सुनहले रंग को एक अजीब-से जानवर की तसवीर काढ़ी हुई है। पिताजी ने धीरे-धीरे उसे खोला और उसके पहले पृष्ठ को, जिस पर मिर्चा ने उपहार-स्वरूप कुछ लिखा था, फाड़ डाला। वह किताब उसने मुझे दी थी। उसके बाद उन्होंने 'हंगर' नामक [illegible] निकाली और उसके उसी समर्पण के पृष्ठ को फाड़ डाला। इस [illegible]

किताबों को निकाल रहे हैं और बारी-बारी से हरेक के उपहार
को फाड़े जा रहे हैं—गेटे की जीवनी को भी उन्होंने निकाला तो था,
किन्तु उसके उस पृष्ठ को वे ढूंढ नहीं पाये जिस पर मिर्चा ने कुछ लिखा
था—क्योंकि वह पहला ही पन्ना था और वह जिल्द के साथ सट गया
था। बस इतनी-सी ही उसकी हाथ की लिखावट और वही एकमात्र चिह्न
सारा जीवन मेरे साथ रहे हैं, इसके सिवा और कुछ नहीं है—यहाँ तक
कि उसकी एक तसवीर तक नहीं है मेरे पास।

पिताजी ने धीरे-धीरे उन सारे काग़ज़ों को टुकड़े-टुकड़े कर डाला
और खिड़की से नीचे फेंक दिया। कोई दूसरा घर होता तो शायद उन
सारी किताबों को ही बरबाद कर दिया जाता। मगर इस घर में वैसा
नहीं किया जा सकता है—इस घर में भी चंगेज खां हैं, लेकिन वे किताबें
बर्बाद नहीं कर सकते। वे आदमी को तो जला सकते हैं, किन्तु किताब
को नहीं—क्योंकि किताब उनकी ईश्वर है।

पूजा की छुट्टियों में पिताजी के मित्र सपरिवार मधुपुर जा रहे हैं—हम
लोगों को भी आबोहवा बदलने की जरूरत है—पिताजी कह रहे हैं,
नयी जगह जाने से तन-मन अच्छा हो जायेगा!

लेकिन मेरा मन क्रमशः भारी होता जा रहा है—अन्य सारे कारणों
को लांघकर एक बात ने छुरी की तेज धार की तरह मेरे कलेजे को भेदक
उसमें घाव और जलन पैदा कर दी है—वह यह कि एक बार यदि उस
पूछ सकती : मेरी चिट्ठी का उत्तर क्यों नहीं देते हो? किन्तु यह कै
सम्भव है? आखिर कौन मुझे रिपन स्ट्रीट लिवा जायेगा? मैं कलक
के रास्ते नहीं जानती, ऐसी बात नहीं। किन्तु अकेले निकलना
असम्भव है और खतरनाक भी। कलकत्ता के अकेले रास्तों पर मैं क
पैदल नहीं चली हूं। ड्राइवर को तो भेजा जा सकता है, लेकिन वह आ
मुझे अच्छा नहीं लगता है—उसकी दोनों आँखें खूंखार जानवर की
हैं और वह हमारी ओर घूरता रहता है। मैं उससे डरती हूं।

मुन्ना तो अब आता ही नहीं।

हम लोग जिस दिन मधुपुर जाने वाले थे, उस दिन वह आया—हम लोगों के साथ स्टेशन जाकर माल-असबाब चढ़ाने में मदद पहुँचाने।

वह जरा अकेले में मिला, तो मैंने पूछा—'मुन्ना, तुम अब आते क्यों नहीं हो, भाई? कम-से-कम तुम्हारे साथ उसके बारे में कुछ बातचीत तो कर सकती हूँ।'

मुन्ना चुप। 'क्यों नहीं आते हो, बताओ न?'

'मैं तुम्हारी इतनी तकलीफ नहीं देख सकता, रू! आखिर मनुष्य की सहन-शक्ति की भी तो एक सीमा होती है।'

'लेकिन तुम्हारे साथ जरा बात कर पाती, तो मेरी तकलीफ़ तो कम होती। अच्छा बताओ तो, वह अब क्या कर रहा है?'

'मगर वह तो यहाँ नहीं है, हिमालय चला गया है।'

'हिमालय! नहीं, नहीं, दार्जिलिंग गया होगा। सो हिमालय न कहकर कहो कि दार्जिलिंग गया है। यही बात है न!'

'नहीं, नहीं, वह तो हिमालय ही गया है, दार्जिलिंग नहीं, ऋषिकेश गया है—वह तो सन्यासी हो गया है।'

'क्या कहा, संन्यासी हो गया है? वह क्या होता है? सन्यासी होना किसे कहते हैं? तो क्या इसीलिए चिट्ठी का उत्तर नहीं दे रहा है?'

ट्रेन पर सवार होकर मैं लेट गयी हूँ और पूरा बदन एक चादर से ढक लिया है। इस अजीब-सी खबर का तो सिर-पैर भी कुछ समझ में नहीं आ रहा है। कहाँ तो उसे मुझे चिट्ठी लिखनी चाहिए—मुझसे कुछ परामर्श करना चाहिए—सो तो नहीं, उलटे हिमालय चला गया! मैं रो रही हूँ। पिताजी और माँ दोनों ही समझ रहे हैं कि मैं रो रही हूँ। वे दोनों आपस में धीरे-धीरे बात कर रहे हैं—बच्चों को खिला-पिला रहे हैं, सुला रहे हैं। अवश्य ये सारे काम माँ अकेले ही कर रही हैं—पिताजी तो एकदम शिशु-से हैं, जीवन में शायद उन्होंने स्वयं एक गिलास पानी भी उँडेलकर नहीं पिया है। रोते-रोते धीरे-धीरे मेरे आँसू सूख गये हैं—यंत्रणा कम होने को आयी है—दुःख में जलने में भी एक अलौकिक तृप्ति मिलती है, वह तृप्ति मेरे मन को सुला रही है—मैं उस स्तिमित दुनिया

में हठात् सुन पायी, पिताजी माँ से कह रहे हैं : 'उसकी तरफ़ वाली खिड़कियाँ बन्द कर दो, कहीं ऐसा न हो कि वह बाहर कूद जाय।' तब खिड़कियों में छड़ें नहीं रहती थीं। मैं मन-ही-मन सोच रही हूँ, ऐसा काम तो कभी नहीं करूँगी—जीवन सुन्दर है, दुःख भी सुन्दर है—यह जीवन तो लौ की तरह जलेगा : 'विरहानल की ज्वाला में उसे जलाओ।' अब जाकर इस गीत-पद का अर्थ समझ में आया है !

मधुपुर का मकान सुन्दर-सा है, चारों ओर खुली प्रकृति है। यहाँ आकर शरीर शीतल हो रहा है। हिमालय जाकर उसे भी शायद अच्छा ही लग रहा है। प्रकृति चुपचाप हमारी सेवा करती है—प्रकृति माँ-जैसी होती है ! मेरे साथ तो माँ भी हैं। परन्तु उसके साथ तो कोई भी नहीं है, वह तो बिलकुल अकेला ही है। एक दिन तालाब के घाट पर बैठकर माँ ने मुझसे धीरे-धीरे कहा : 'मन को ठीक कर लो, रू—उससे अब तुम्हारी किसी भी दिन भेंट नहीं होगी।'

'पर क्यों माँ, क्यों ?'

'तुम्हारे निष्ठुर पिताजी ने उससे बिलकुल पक्की प्रतिज्ञा करवा ली है कि वह तुमसे कोई सम्पर्क नहीं रखेगा।'

मैं तो मिशनरियों के स्कूल में पढ़ी हूँ—'ननों' द्वारा जीवन-पर्यन्त निभाये जाने वाले व्रत और वचन लेने की बात सुनी है। वह बात याद आयी, तो इसीलिए मुझे हँसी आयी : 'पर वह ऐसी प्रतिज्ञा को रखेगा क्यों ? वह 'नन' है क्या ?'

किन्तु—'उससे अब तुम्हारी किसी भी दिन भेंट नहीं होगी'—यह बात मेरे मन के भीतर घूमती ही रही, एक दीर्घश्वास के चारों ओर चक्कर लगा-लगाकर—जिसका नाम हाहाकार है...!

हमारे मधुपुर-प्रवास के समय चटगाँव के अस्त्रागार की लूट की खूब चर्चा हुआ करती थी। सम्भवतः उसी समय वह घटना घटी। इसके अलावा जिनके घर में हम लोग ठहरे थे वे लोग भी उस घटना-स्थल और पात्रों से विशेष परिचित थे और हम लोग भी। जिस पहाड़ की तलहटी

में वह संघर्ष हुआ, वह हमारी परिचित जगह थी—और उसमें भाग लेने वाले लड़के हमारी ही उम्र के थे। इसलिए खासकर उनके असीम साहस से हम लोग गर्वित थे। पिताजी जब कहने लगे कि ऐसे पागलपन का कोई अर्थ नहीं होता है, तब हम लोगों ने खूब बहस की। इसके फल-स्वरूप देश कितनी जल्दी स्वाधीन हो सकेगा, सो कौन जाने, किन्तु स्वयं वे लोग अपने रास्ते पर आगे बढ़ें—इतना बड़ा एक काम करना ही क्या कोई मामूली बात है? मैं सोच रही हूँ, ऐसे महान कार्य में यदि मैं हाथ बटा सकती, तो मेरा दुःख निश्चय दूर हो जाता। लेकिन मेरे लिए कोई उपाय, कोई रास्ता नहीं है कोई राहत पाने का। वे लोग तो देश को स्वाधीन करना चाहते हैं, पर मनुष्य को, कौन स्वाधीन करेगा? फिर मुझे और मेरी माँ को कौन स्वाधीन करेगा? उस तालाब के किनारे बैठकर मैं सोचा करती थी, अगर किसी दिन मेरे हाथ मौका लगा, तो मैं इस समाज के सारे संकीर्ण नियमों के विरुद्ध लड़ूँगी। मैं तो छोटी हूँ, मगर माँ की पराधीनता मुझे सबसे ज्यादा अखरती है। स्वयं अपनी बेटी के सम्बन्ध में उन्हें कोई अधिकार ही नहीं है। मुझे पता है कि यह माँ को काफी बुरा लगा है। माँ तो इस प्रेम का सम्मान करती हैं, किन्तु वे भी निरुपाय हैं।

मैं जब उन्नीस सौ तीस ईस्वी की बात सोचती हूँ, तो पता है इसीलिए उस विशेष वर्ष के अपने जीवन को मैं विशेष रूप से देख सकती हूँ, अन्यथा मेरी अनुभूति में कोई तारीख-वारीख नहीं है, कोई ईस्वी-वीस्वी नहीं है। दिन, वर्ष, मास सब-के-सब अर्थहीन हैं। जैसे आकाश में पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण नाम की कोई दिशा नहीं, सीमाबद्ध पृथ्वी से ही दिशाओं का अर्थ समझना पड़ता है। उसी तरह महाकाल में प्रविष्ट जो अनुभूति है उसकी भी तारीख-वारीख, ईस्वी-वीस्वी, सुबह-शाम नहीं होती है। अपनी विपुल व्याप्ति को लेकर वह तब कालिक उपस्थिति का अतिक्रमण कर जाती है, और तब उसके लिए दूर और पास दोनों एक-से हो जाते हैं। तब उसका चलना, न चलना दोनों एक जैसे होते हैं—तद्दूरे तद्वन्तिके

तदेजति तन्नैजति'।

इसीलिए मैं ठीक कह नहीं सकती कि यह कब की और किस दिन की घटना है, मधुपुर जाने के पहले की या बाद की—क्योंकि ऐसा भी तो होता है कि किताब की पढ़ी हुई किसी घटना का उल्लेख फिर से देखने के लिए जब उसे खोला जाता है, तो यह सोचकर खोला जाता है कि उस घटना का उल्लेख उस किताब के किसी दाहिनी तरफ़ वाले पृष्ठ पर होगा जबकि वह बायीं तरफ़ वाले पृष्ठ पर निकलता है।

मैं अपने कमरे में लेटी हुई हूं। मां बैठे-बैठे गपशप कर रही हैं; इस गपशप का दायरा पिताजी की बीमारी तक सीमित है। पिताजी की बीमारी कितनी सांघातिक है, वही बताकर मां मेरे मन को उनके प्रति अनुकूल बनाना चाह रही हैं। परन्तु पिताजी के प्रति मेरी श्रद्धा न तो ज़रा भी घटी है, न प्यार ही। फिर भी पिताजी की बीमारी को लेकर मां इतनी परेशान हैं! मां बीमार पड़ती हैं, तो न तो पिताजी उसकी परवाह करते हैं और न स्वयं मां ही। आखिर यह कैसी बात है? इसीलिए मैं मां की बातों का जवाब नहीं दे रही हूं। मां मेरे विमुख मन के भाव को ताड़कर विपन्न हो रही हैं। ऐसे समय पिताजी के पैरों की आवाज़ सुनायी पड़ी। वे दरवाज़े के पास आकर खड़े हो गये। पिताजी की आंखें बहुत बड़ी-बड़ी हैं, नाक तोते की-सी है, और रंग चमकीले तांबे-सा। गुस्सा आने पर उनका वह रंग और ज़्यादा लाल हो उठता है। इस वक़्त पिताजी का मुंह लाल है।

'इस तरह पड़े-पड़े रोने से क्या होगा? क्या परीक्षा नहीं दी जायगी? छुटकी तक परीक्षा दे रही है। अजीब बात है! आख़िर इतना शोक मनाने की क्या बात है!'

पिताजी बड़े ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला रहे हैं; मां जल्दी से उठकर गयीं। दरवाज़े के पास से पिताजी को हटाकर बन्द दरवाज़े की ओर ले गयीं। पर वह दरवाज़ा भी बिलकुल बन्द नहीं है—उसमें थोड़ी फांक है—मैं सब-कुछ सुन पा रही हूं। मेरे कान उधर लगे हैं। मां कह रही हैं: 'हर बात को लेकर क्या ज़बरदस्ती की जा सकती है? निष्ठुरता की भी एक

सीमा होती है !'

'तो इस तरह हमारी नज़रों के सामने वह अपना जीवन बर्बाद करेगी ? हम चुप बैठे रहेंगे ? वह परीक्षा नहीं देगी ?'

'परीक्षा देना अगर इतना ज़रूरी समझते हैं, तो फिर स्कूल क्यों छुड़ा दिया ? इसी वर्ष परीक्षा हो जाती !'

'वाह, स्कूल में क्या पढ़ाई-लिखाई होती है ? स्कूल जाती तो वह इतना साहित्य पढ़ सकती ? समस्त रवीन्द्र-काव्य उसे कंठस्थ है। एम० ए० कक्षा के लड़कों ने भी उतना नहीं पढ़ा है। स्कूल जाती होती, तो इतनी कविताएँ लिख सकती ? होम-वर्क दिया करती हैं मास्टरनियाँ, होम-वर्क ! और सिर्फ़ लाल स्याही से लिखती रहती हैं—'गुड', 'वैद', 'खाक-पत्थर !'

'तब तो हो चुका—पढ़ाई-लिखाई तो इसने की है। रही परीक्षा की बात, सो बाद में दे देगी।'

'नहीं, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, परीक्षा तो उसे देनी ही होगी। वाह, मेरी बेटी पास नहीं करेगी ? क्या गड़बड़ा गया ! अब कुछ नहीं हो सकेगा ! इतने जतन से मैंने उसे तैयार किया था। मेरे सारे किये-कराये पर पानी फिर गया। वह अब कविता नहीं लिखेगी, पढ़ाई-लिखाई नहीं करेगी; मेरी सारी आशा, समेला धूल में मिल गया। अब तो खोज-पड़ताल करके इसका कहीं ब्याह ही करा दो।' पिताजी ज़ोर से रो पड़े।

माँ जैसे छोटे शिशु को सान्त्वना दे रही हों : 'मुझे ज़रा समय दीजिये। इसमें तनिक समय लगेगा। जैसा सब कुछ था मैं ठीक वैसा ही फिर सब कुछ कर दूँगी।'

'पर तुम ठीक ढंग से चल कहाँ रही हो ? तुम उसके मन को उसके प्रति विमुख करो। लड़की से कहो, वे धूर्त के लोग होते ही हैं शिकार में होशियार !'

'ऐसा मैं हरगिज़ नहीं कर सकती ! बेचारा पगला लड़का, संन्यासी होकर जंगलों-वनों में भटक रहा है। उसके लिए कुछ कर तो सकती नहीं, तो फिर कलंक ही उसके मत्थे कैसे मढ़ दूँ ?'

'इससे यह बात कहोगी तो इससे उसका क्या बिगड़ेगा ? उसे तो

इसका पता तक नहीं चल पायेगा। तुम उसके साथ कोई बुरा वर्ताव करो, यह मैं कहाँ कह रहा हूँ ? युद्ध जीतना हो, तो अक़्ल से काम लो, सिर्फ़ भावुकता से कुछ बनने वाला नहीं : नथिंग इज रॉन्ग इन लव एण्ड वार।'[1]

'पर मेरी यह राय नहीं है। बुरा तो बुरा ही होता है, विवेक के विरुद्ध मेरी बुद्धि कुछ नहीं कर पायेगी।'

माँ पिताजी से निपुणता से तर्क कर रही हैं। माँ हर समय ऐसा किया करती हैं। माँ की निजी राय तो है, मगर वे उसे अमल में नहीं ला सकतीं। स्नेह के कारण पराभूत हो जाया करती हैं।

माँ और पिताजी के बीच हो रहे तर्क को मैं सुन रही हूँ, किन्तु आश्चर्य है कि आखिर मेरे परेशान मन ने पिताजी की ही बात मानो स्वीकार की। ठीक ही तो कहा है उन्होंने—यह तो शिकार ही है। वरना उसने चिट्ठी तक का उत्तर क्यों नहीं दिया ? मुझे क्यों नहीं जताया कि मैं क्या करूँ ? वह ठहरा पुरुष ! मुझसे बड़ा भी है। वही अगर न बताये तो फिर कौन मुझे रास्ता सुझायेगा ? तो इसका मतलब यह हुआ कि वह अब मुझे नहीं चाहता है। खेल खत्म हो चुका है। आखिर शिकारी ही ठिकार न !

एक दिन पिताजी हम लोगों को 'शकुन्तला' पढ़ा रहे थे। हम लोग जमीन पर चटाई बिछाकर बैठे हुए थे—बीच में पिताजी बैठे हुए थे। मैं उन्हें देख रही हूँ। पिताजी के मुख से संस्कृत निःसृत होते जिसने नहीं सुनी है, वह जान नहीं सकता कि उसका अपूर्व सौन्दर्य क्या है। संस्कृत भाषा अपने समस्त माधुर्य, ऐश्वर्य को लेकर काव्य के अर्थ को शब्दार्थ के परे पहुंचा रही है और मन के पोर-पोर को झंकृत कर रही है। पिताजी कह रहे हैं : 'न खलु न खलु बाणः सन्निपातोऽयमस्मिन् मृदुनि मृग शरीरे पुष्पराशाविवाग्निः।'

---

1. 'Nothing is wrong in love and war.'

मृगया-रत नागरिक दुष्यन्त आये हैं वन में शिकार करने। वन के मृग सरल, असहाय, मृदु अर्थात् कोमल हैं—दुष्यन्त रथ पर से बाण चलाने को उद्यत हैं, अभी तुरन्त वे बाण चलायेंगे। वनवासी उन्हें ऐसी निष्ठुरता करने से मना कर रहे हैं, वे दोनों हाथों को उठाकर कह रहे हैं, 'मत मारो, मत मारो बाण—फूलों के इस कोमल सम्भार को आग मत लगाओ?' यह धनुष किसका है? मदन का है! और यह मृग कौन है? शकुन्तला है! कुसुम सुन्दर-कोमल और वल्कल में भी मनोज्ञ लगने वाली, पुष्पाभरण से विभूषित शकुन्तला अनभिज्ञ है, सरल है—नगर-निवासियों के आचार-विचार के बारे में वह कुछ भी नहीं जानती। वही तो मृग है। दुष्यन्त थोड़ी देर बाद ही उसे शर-विद्ध करने वाले हैं। वे पुष्प-राशि को आग लगायेंगे। यहाँ उसी का पूर्वाभास दिया जा रहा है, यह संकेतात्मक है, जो घटना बाद में घटने वाली है, यहाँ उसी का आभास दिया गया।

मैं सोच रही हूँ, सोच रही हूँ, सोच रही हूँ कि पिताजी ने तो ठीक ही कहा है कि यह शिकार है, परन्तु मैं तो निश्चय ही सरल, सहज नहीं हूँ। फिर मुझे अभिज्ञता भी तो बहुत हुई। इस बार को तो मैं ज़रूर निशाना फेंकूँगी।

दूसरे दिन मैंने माँ से कहा: 'माँ, तुम पिताजी से कहो, मैं परीक्षा दूँगी। अभी भी तो तीन महीने का समय है। उनसे कहो, वे सिलेबस ला दें। काफ़ी समय अभी बाक़ी है।'

'हाँ, ठीक कहती हो। अभी भी काफ़ी समय है। चाहोगी, तो तुम बहुत जल्दी परीक्षा की तैयारी कर लोगी।'

माँ को बहुत खुशी है, मेरी खुशामद कर रही हैं: 'तुम्हारे पिताजी कहा करते हैं—जिसकी साध से मैंने उसका नाम रखा है, वह ज्ञान के अमृत का पान करेगी, ब्रह्म-वादिनी बनेगी। अपने पिता के मन की मुराद पूरी करो, बेटी! ज़रा-से मामूली कारण के चलते अपने जीवन को तहस-नहस मत कर डालो।'

पहली बार जिस दिन पिताजी के पास पढ़ने बैठी थी, उस दिन की अभिज्ञता दुःखद तो है ही, साथ ही आज के ज़माने में अविश्वसनीय भी है। पिताजी मुझसे कह रहे हैं : 'अभूत तद्भावेच्वि' के कुछ उदाहरण लिखो।' पर मैं हूँ कि मन ही नहीं लगा पा रही हूँ। पिताजी चहल-क़दमी करके फिर अपनी जगह आ बैठे। मैं खाली कापी हाथ में लिये सूनी नज़रों से देखती बैठी हुई हूँ—पिताजी आपे से बाहर हो उठे हैं यह सोचकर कि बित्ते-भर की लड़की को वे अपने क़ाबू में नहीं ला पा रहे हैं। 'क्या हो गया है तुम्हें ? क्या सब-कुछ घोलकर पी चुकी हो ? लिख क्यों नहीं रही हो ? लिखो, लिखो, कहता जो हूँ।' मेरा हाथ और भी ठिठक गया, तनिक हिल भी नहीं रहा है। भला लिखूँ भी तो क्या, कुछ भी तो याद नहीं आ रहा है। तभी हठात् पिताजी ने मेरे गाल पर बड़े ज़ोर से एक तमाचा मारा। पंजे का दाग़ पड़ गया मेरे गाल पर, लेकिन आश्चर्य है, कि मुझे दर्द तक महसूस नहीं हुआ। माँ भागी आयीं : 'क्या बात है ? इतनी बड़ी लड़की को मारा आपने ?'

पिताजी किताब फेंककर उठ गये हैं। 'असह्य है, असह्य है उसकी यह बेवकूफ़ी। जान-बूझकर नहीं पढ़ेगी।'

माँ चुप रहीं। उस दिन पिताजी पर नहीं, माँ पर ही मुझे अभिमान हुआ था। पिताजी ने जो ठीक सोचा है, वही किया है। पर माँ ने जो ठीक सोचा है वह तो वे कर नहीं पा रही हैं। दबाव में आकर, सिर झुका-कर सब-कुछ स्वीकार कर लेती हैं, मगर अपनी इस भूल की क़ीमत उन्हें चुकानी पड़ती है। बैठक से अर्थात् जहाँ मैं पढ़ने बैठी थी वहाँ से, बाहर निकली, तो सीढ़ी के पास, देखती हूँ, शान्ति खड़ी है। उसने मेरी ओर डबडबायी आँखों से निहारा : 'देखो रू, मैं अब इस घर में नहीं रहूँगी।'

पर मैं सोच रही हूँ, मुझे तो इस घर में रहना ही पड़ेगा। उसने तो फिर मेरी खोज तक नहीं ली, मैं और कहाँ जाऊँ ?

मधुपुर जाकर किसी की भी सेहत अच्छी नहीं हुई। वहाँ तलाब में नहाने

मे हरेक को कुछ-न-कुछ बीमारी हो गयी। चार-वर्षीय भाई को सांघातिक टाइफ़ायड हो गया। भाभी को तो जवानी का रोग लगा हुआ है, और ठीक इसी समय इसे मानसिक आघात भी लगा मेरे चलते। सबसे ज्यादा मैंने माँ की नाक में दम कर डाला है। माँ को बेहद तकलीफ़ हो रही है—इसी बीच पिताजी ने कहा कि उनकी हर तरह की जाँच कराने की ज़रूरत है, इसके लिए वे अस्पताल में एक कमरा लेकर रहेंगे। अतः मेडिकल कॉलेज में एक कमरा लिया गया—कमरा क्या, वह तो एक बड़ी-सी अच्छी-खासी बैठक है। उस ज़माने का अस्पताल बड़ा ही साफ़-सुथरा रहता था! पथरीला फ़र्श, बिस्तर झक-झक कर रहा है, अच्छा-सा जो सामान है। पिताजी की हर तरह की जाँच की जा रही है, शरीर में तो कोई तकलीफ़ है ही नहीं, इसलिए ढेर-की-ढेर किताबें वे मँगा रहे हैं, और पढ़ रहे हैं। शाम को उनके अनगिनत प्रशंसक और शिष्य आते हैं, तो अड्डा लगता है, गपशप होती है, चर्चाएँ होती हैं। अस्पताल में जो खाना दिया जाता है और जो घर से मँगाया जाता है, वह इतना अधिक हो जाता है कि अतिथियों को भी खिलाया जा सकता है। कमरे में नाते-रिश्तेदारों को रहने दिया जाता है। माँ तो आ नहीं सकती हैं, इसलिए मैं ही दिन-भर रहती हूँ। अकेले टाइफ़ायड के रोगी को सम्भालने में माँ अस्त-व्यस्त रहती हैं—उस ज़माने में टाइफ़ायड बड़ी भयंकर बीमारी थी। शान्ति के अलावा माँ को सहारा देने वाला और कोई नहीं था। मैं तो पिताजी के पास रहकर दिन-भर उनकी परिचर्या कर रही हूँ।

एक दिन अस्पताल में पिताजी ने मुझसे धीरे-धीरे कहा : 'रू, तू अब कविता नहीं लिखेगी?' मैं चुप्पी साधे रही। असल में मैं अब कविता लिख तो रही थी, लेकिन जो कुछ लिखना चाहती हूँ वह कुछ इतना स्पष्ट हो जाता है कि उसमें कोई दुराव-छिपाव नहीं रह पाता। ऐसी रचना क्या किसी को दिखायी जा सकती है? सभी तो मन की बात जान जायेंगे। मैंने लगभग एक किताब लिख डाली थी—मैंने सुना है व्यक्तिगत चीज़ को निर्वैयक्तिक बना देना ही साहित्य का काम है। मैं चाहती थी कि जो कुछ मेरा है वह सबका बनकर निखरे, लेकिन ऐसा हो नहीं पा रहा था—बल्कि मेरी बात बड़ी लज्जाजनक हो जाती थी। उस समय की अपनी

एक कविता में मुझे याद है, उसमें मैंने शेक्सपियर से पूछा था : 'तब तुम कहाँ थे शेक्सपियर, जब मैं बरामदे में खड़ी थी ? वह तो खिड़की नहीं थी, बरामदा था, मगर उसमें क्या फ़र्क पड़ता था ? वह घर तो एक मामूली-सा, किराये का दो-मंजिला मकान था, किसी धनी के प्रासाद का चौतरा तो नहीं था, और वह नीचे था, रास्ते पर, बग़ीचे में नहीं। भले ही वहाँ कोई प्राचीर नहीं थी, लेकिन एक माधवी-लता तो थी। अगर बग़ीचा नहीं था तो क्या हुआ ! बग़ल में रास्ता था, कलकत्ता के उस गन्दे रास्ते पर कोई फूल नहीं खिला था। अगर फूल नहीं खिला था तो क्या हुआ—तो क्या सिर्फ़ इसी के लिए वह घटना तुच्छ हो गयी ? महाकवि ! मैंने आशा की थी कि जिस क्षण वह विदा हो रहा था तुमने उसे देखा—तुम तो मुझे घेरे हुए पीछे ही खड़े थे—जैसे प्रतिमा के पीछे कंकाल का ढांचा रहता है। मैंने तो सोचा था कि मेरे उस ध्वस्त प्रेम में तुम फिर से जान डाल दोगे ! स्वर्ण-मूर्ति क्या जूलियट को अमर बना सकती है ? चूँकि मैंने उसे अमर बनाया है, इसलिए तुम मेरे भक्त बनो, मेरी वन्दना करो, महाकवि ! मेरे कमरे में आओ।'

इन सारी कविताओं की, चार-पाँच वर्ष बाद, मैंने होली जलायी, किन मैं अब जानती हूँ, पिताजी को अगर तब भी दिखाती तो वे गुस्सा नहीं होते। जो चीज़ लिखी गयी है, वह यदि अच्छी बन पड़ी है तो वह ईश्वर हो गयी—तब उसे किसने लिखा है, क्यों लिखा है—इसे लेकर वे माथा-पच्ची नहीं करते। मेरे प्रेम में पड़ने पर उन्हें आपत्ति थी, लेकिन प्रेम की कविता लिखने पर नहीं होती। देखते, तो वे कहते : 'ना ना, अभिज्ञ होना तो अच्छा ही है। यह तो सब अविद्या है, माया है, इस अविद्या के जगत् के भीतर से होकर ही तो ज्ञान के जगत् में पहुँचना होगा : अविद्यया मृत्युम् तं र्त्वा, विद्ययाहमृतमश्नुते।' ज्ञान के अमृत का पान करने के लिए पिताजी सतत् उन्मुख रहते हैं—अविद्या के जगत् में सुख-दुःख से कातर जो मनुष्य वास करते हैं उनके लिए वे उतने चिन्तित नहीं हैं—सबसे बड़कर मनुष्य है, यह उनके जीवन का सिद्धान्त नहीं है !

अस्पताल में रोगी की परिचर्या करने जाती, करती थी। दिन-भर पिताजी को किताब पढ़कर सुनाना, शाम को जो अतिथि-अभ्यागत आते, उनके लिए स्टोव पर खाना बनाकर रखना, आदि कार्य करती। बाहर से देखने में तो मैं अब स्वाभाविक-सी लगती हूँ, लेकिन मन हरगिज़ ठीक नहीं हो रहा है—उसके संन्यासी होकर जंगल-वन में मारे-मारे फिरने की बात सोचती हूँ, तो कलेजा मुँह को आ जाता है, पछतावे की आग में जलती रहती हूँ। मुझे लगता है, कि साँप के डस लेने से कहीं उसे कुछ हो गया तो मैं ही जिम्मेदार ठहरूँगी। तब समेगा कि मैंने ही उसे मार डाला। आखिर वह कैसे जंगल में दिन गुज़ार रहा है, वह तो साहब ठहरा। उसे कितने सलीके से रहने की आदत है! पिताजी हरदम मुझसे कहा करते थे: 'हर दूसरे दिन खाने की मेज का मेजपोश बदल दिया करना रू, जिससे शोरबे का एक दाग़ भी न रहे। पता है, ये यूरोपीय लोग अपने देश में कितने साफ़-सुथरे रहा करते हैं?' ये सब बातें जब याद आती थीं तो बाहरी हाव-भाव को स्वाभाविक बनाये रखने के चलते मन लहूलुहान हो जाया करता था। पिताजी के सामने अपनी दुर्बलता प्रकट करने में मुझे लाज आती थी। मेरे आत्म-सम्मान को चोट पहुँचती थी। इसीलिए मैं ऊपर से खूब हँसमुख बने रहने की कोशिश करती थी, इसके बावजूद मैं एक दिन अस्पताल में बेहोश होकर गिर पड़ी। ठीक उसका तात्कालिक कारण क्या था, वह तो अभी याद नहीं आ रहा है, पर शायद कोई विशेष कारण नहीं था। डॉक्टर ने कहा: 'नर्वस ब्रेकडाउन होने का लक्षण मालूम पड़ता है।' माँ तो सोच में पड़ गयी। पर पिताजी कहने लगे, 'यह ज़रा मन में ज़ोर लावे, तो चंगा हो उठेगी, और ऐसा किये बिना कुछ होने वाला नहीं! यह तो जान-बूझकर ऐसा कर रही है, मेरी नाक में नकेल बाँधने के लिए।' अगर कोई और डॉक्टर होते तो वे डॉक्टरी विद्या में पिताजी से प्रश्न-पर-प्रश्न करके यह साबित कर देते कि इस विद्या में पिताजी को कुछ नहीं मालूम है, और इस तरह उन्हें नीचा दिखा देते। मगर डॉक्टर तो कोई और नहीं थे, वे सर्वश्रेष्ठ चिकित्सक स्वयं नीलरतन सरकार, जो सिर्फ़ रोगी की गन्ध पाकर पहचान लेते थे कि टाइफायड है या निमोनिया—जो कमरे में क़दम रखते, तो मौत के मुँह में पड़े हुए

रोगी को अभय मिल जाता था ! हमारे उन्हीं हित-चिन्तक डॉक्टर ने मुझे चंगा कर दिया। सात-आठ महीने में मैं चंगी हो उठी। फिर परीक्षा भी दी, उसका फल भी अच्छा ही हुआ। रोग जब दूर हो गया, तो मुझे भारी दुःख होने लगा। लगा, जैसे युद्ध के लिए उठाया मुख्य अस्त्र ही भोंथरा हो गया हो, अब लड़ूँगी किस अस्त्र से ?

आज जब अपनी उस बार की परीक्षा के विषय में कहने बैठी हूँ, तो आज के जमाने के माँ-बाप के कारनामों को देखकर मुझे उन पर तरस आता है। खासकर जब देखती हूँ कि माँ-बाप भी अपने बच्चों के लिए प्रश्न-पत्र की खोज में एड़ी-चोटी का पसीना एक करते हैं, धोखा-धड़ी और दगा-बाजी तक करने में न तो कोताही करते हैं, न झिझकते ही हैं।

मेरा परीक्षा देना पहले से तय नहीं था, इसलिए पिताजी ने ही प्रश्न-पत्र बनाया था, किन्तु बाद में मेरे परीक्षा देने के लिए तैयार हो जाने पर पिताजी ने अपने परीक्षक के पद से त्यागपत्र दे दिया था। प्रश्न-पत्र तो पिताजी ने बनाया था, मुझे पढ़ाया भी था उन्होंने ही, किन्तु मैं रत्ती-भर भी भाँप नहीं सकी थी कि क्या प्रश्न आयगा। मेरे परीक्षा देकर आने के बाद पिताजी खूब हंस रहे थे : 'पहले कुछ भाँप तो नहीं सकी थी न !' पर आज के जमाने में यह बात शायद सुनने में नानी की कहानी-सी लगेगी। दिनों माँ-बाप चाहते थे कि बच्चे लिखना-पढ़ना सीखें, मगर आज वे चाहते हैं कि किसी भी तरह से बच्चों को किसी तरह डिग्री मिल जाये ! देश में यह एक परिवर्तन तो आया ही है !

नौ-दस महीने या एक साल गुजर चुका है। इसी बीच मुझे उसकी ओर कोई खबर नहीं मिली। मुन्ना भी तो नहीं आता है। उसकी किताब की दुकान पर जाती हूँ तो भी उसे पकड़ नहीं पाती हूँ। इधर मेरी एक छोटी बहन पैदा हुई है। काका घर को छोड़कर जा चुके हैं, पिताजी से बहुत झगड़ा करके—परन्तु उनके सामने पड़कर, पिताजी से झगड़ने का साहस उन्हें नहीं हुआ। उन्होंने माँ को ही खोटी-खरी सुनायी थी—और माँ ने अपने पति का पक्ष लेकर उनसे झगड़ा किया था। मुझे भी काका पर

पिताजी जब उसके पूरे चेहरे पर दाढ़ी होने की बात बता रहे थे तब मेरा कलेजा पिसता जा रहा था—मैं सोच रही थी, आखिर पिताजी हँस क्यों रहे हैं ? तो क्या उनके हँसने से सारा मामला मुझे हास्यापद, और बच्चों का-सा प्रतीत होगा ? मन में दुःख होने से क्या इस तरह से पहाड़-जंगल-घाटियों में घूमते फिरना कोई आसान बात है ? उसके मन में दुःख तो था ही, उसके साथ फिर शरीर के दुःख का भी मेल हो गया। किन्तु इस काम में वह बेजोड़ है—अपने-आपको कष्ट देने में उसकी बराबरी कोई नहीं कर सकता, पर अपने-आपको कष्ट देने से क्या फ़ायदा ? शायद यह एक बेवकूफ़ी है। फिर भी तो मनुष्य ऐसे काम का आदर करता है, सती-प्रथा की तरह भयावह चीज और कुछ नहीं है, तो भी जब दादी कहतीं कि उनके पूर्वजों में से कोई सती हुई थीं तब उनका चेहरा दमक उठता था। निराभरण, उपवास जर्जर वैधव्य, कोई मजाक की चीज नहीं है। कुल वधूटियों की चीजें गाड़ी में रख रही हूँ और सोच रही हूँ, क्या पिताजी किसी के लिए अपने-आपको कष्ट दे सकते हैं, अपने-आपको जरा भी वंचित कर सकते हैं ? नहीं, असंभव है। तो फिर क्यों उसकी हँसी उड़ायी—उन्होंने 'ही जेस्ट्स एट स्कार्स हू नेवर फ़ेल्ट ए वून्ड।'[1] महिमामय शेक्सपियर के ज्ञान-चक्षु मुझमें उन्मीलित हुए—घावों के दागों का वही मजाक कर सकता है जिसने कभी एक ज़ख्म न खाया हो !

हममें से किसी की भी सेहत ठीक-ठीक अच्छी नहीं हुई—इसीलिए फिर हम लोग बाहर जायेंगे, काशी जायेंगे—यह तय हुआ। खुद को तो मैं देख नहीं पा रही हूँ, पर मेरी धारणा है कि मैं बहुत स्वाभाविक ढंग से चल-फिर रही हूँ, और कोई मेरा मनोविकार स्पष्ट अभिव्यक्त नहीं हो पा रहा है। मनोविकार है ! नहीं तो और क्या है ! प्रेम-प्रेम सब बेकार की बातें हैं। किन्तु माँ के मन में तो शान्ति नहीं है—शान्ति न मिलने का प्रधान कारण खुद माँ के भीतर मौजूद है ! माँ सोच रही हैं, वे कैसे मेरा ब्याह

---

1. 'He jests at scars who never felt a wound.'

रचायेंगी ? मैं क्या और किसी व्यक्ति को प्यार कर सकूँगी ? प्यार तो ऐसी चीज नहीं है जिसे एक आदमी से छीनकर दूसरे को दिया जा सकता है; ऐसी बात भी नहीं है, इस बात को तब शायद मुझे अच्छी तरह जानकारी नहीं थी। मनुष्य जरूर इस बात को जानता था, पर समाज नहीं जानता था। माँ ने एक दिन मुझसे कहा : 'रू, तुम लोगों ने क्या विवाह का किसी तरह का मंत्र पढ़कर कोई पूजा-पाठ किया था ?'

'माँ, तुमने और भी एक बार मुझसे पूछा था, मैंने तो कहा है न तुमसे कि वह सब हमारे दिमाग़ में भी नहीं आया था।'

'तो फिर अस्पताल में जिस दिन तुम बेहोश गिर गयी थीं उस दिन वह मंत्र तुम कैसे बोली थीं ?'

'कौन-सा मंत्र ? मदग्रते ते हृदयम् दधामि ?'

'नहीं, नहीं, वह तो कोई अंग्रेज़ी-मंत्र था।'

'अंग्रेज़ी-मंत्र था ? उन लोगों का ब्याह क्या किसी दिन मैंने देखा है, जो वह मंत्र मैं जानूँगी ? क्यों मुझे झूठमूठ की बात कह रही हो !'

'झूठ नहीं कह रही हूँ, रू, अगर वैसा कोई मंत्र पढ़ा भी हो तो मुझे बता न !'

'वह कौन-सा मंत्र था ?'

'मुझे तो ठीक से समझ में आया नहीं कि वह कैसे कोई मंत्र हो सकता है—सुनने में तो किसी मंत्र की तरह नहीं लग रहा था, लेकिन तुम्हारे पिताजी ने बताया कि वह विवाह का मंत्र था—अवश्य वे जब कह रहे हैं तो...।'

'पर क्या बोली थी मैं ?'

'इन सिकनेस एंड इन हेल्थ।'[1]

'यह भला कैसा मंत्र है—यह तो मैंने किसी दिन सुना ही नहीं है।' माँ ने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ा। बहुत बाद में मुझे याद आया था कि उस मंत्र को मैंने एक सिनेमा में लिखा हुआ देखा था—तब मूक फ़िल्मों का युग था। उसका अर्थ था—सुख में, दुःख में, रोग में, स्वस्थ अवस्था में परस्पर

---

1. In sickness and in health. (बीमारी में और स्वास्थ्य में)

को छोड़ेंगे नहीं—टिल डेथ डू अस पार्ट[1]। यही शायद बेहोशी में मुँह से निकल गया होगा। होश-हवास में उस मंत्र को कभी मैंने सोचा तक नहीं था। इसीलिए वह मामला कोई खास महत्वपूर्ण नहीं था। किन्तु माँ उस बात का आश्रय चाह रही थीं—मुझे इतना कष्ट है, मिर्चा को इतना कष्ट है, उसकी तो उपेक्षा की जा सकती है, किन्तु यदि एक बार भी मंत्र-पाठ हो गया हो, तो वह अलंघ्य हो जाता है। इसका अर्थ हुआ कि मनुष्य कुछ भी नहीं है, विधि-विधान और पूजा-पाठ ही सब-कुछ है! ऐसा ही था हमारा देश! शायद अभी भी वैसा ही है।

किन्तु माँ, जो सचमुच ही विधि-विधान और पूजा-पाठ को इतना महत्व देती हैं, ये उनकी दक़ियानूसीपन-भरी बातें हैं—ऐसा सोचना उनके प्रति अविचार करना होगा। वैसा कुछ नहीं था, बात बस इतनी-सी थी कि वे इस मामले में पिताजी से लड़ाई करने का हथियार ढूंढ रही थीं।

जब मैं सात बरस की थी और सावी दो बरस की—तब हम लोग यानी दीदी, माँ, मेरी दो बहनें व चम्पा बुआ दो साल तक पुरी में थे, पिताजी तब विलायत में थे। एक दिन जगन्नाथ के मन्दिर में गर्भगृह के सामने हम लोग खड़े थे, उस दिन कोई पुण्य दिवस था, लोगों की भीड़ थी, चारों ओर धक्कमधुक्का हो रहा था—हठात् एक प्रौढ़ा विधवा के साथ एक पन्द्रह-सोलह बरस का लड़का हमारी ओर आगे बढ़ आया, सीधे हमारे पास आकर उसने सावी के हाथ में एक मिठाई दी, फिर मेरे गले में एक फूलों की माला पहना दी और बोला: 'जगन्नाथ साक्षी रहे, मैंने तुम्हें माला पहनायी।' उसके बाद वे दोनों माँ-बेटे जल्दी से भीड़ में जाकर खो गये। दादी चिल्ला उठीं: 'वह कौन था, वह कौन था?' फिर वे उसे भीड़ में खोजने गयीं। माँ ने मेरे गले से माला को खींचकर तोड़ डाला और उसे फेंक दिया, फिर बहुत शान्त भाव से हम लोगों को लेकर घर की ओर क़दम बढ़ा दिये। दादी कुछ क्षण बाद लौट आयीं, उद्भ्रांत-सी: 'ओ बहू, क्या सर्वनाश हुआ, जगन्नाथ को साक्षी बना गया।'

---

1. Till death do us part. (जब तक कि मृत्यु हमें पृथक न कर दे)

'चुप रहिए। किसी पागल के कुछ कहने से क्या आता-जाता है, जगन्नाथ किसी का प्रलाप नहीं सुनते।'

'मो बहू,' दादी अपना माथा ठोक रही हैं : 'पर आज अमुक तिथि है...।'

'आप बिलकुल चुप रहिए। और एक बार भी इस बारे में मत बोलिए। नहीं तो मैं कल ही कलकत्ता चली जाऊंगी।' बाद में माँ ने मुझसे कहा था, उन लोगों की शायद कोई मनौती थी कि जगन्नाथ के सामने अमुक तिथि को किसी कुमारी कन्या के गले में माला पहनायेंगे ! अद्भुत है यह देश ! विचित्र हैं इसके संस्कार जो बुद्धिमान मनुष्य को भी निर्बोध बना डालते हैं !

हृदय से माँ कितनी सत्याश्रयी व संस्कार-मुक्त थीं, इसके बहुत सारे उदाहरण हैं। उनके एक काम से ही यह समझ में आ जायेगा। वैसा काम आज भी इस देश में कम ही औरतें कर पायेंगी।

1924 या 1925 ई० की बात है। मैं तब दस साल की थी। तब हम लोग कालीघाट में एक बड़े-से मकान में रहते थे। उस मकान के गेट के दोनों बग़ल दरबानों के रहने के लिए दो कमरे थे। उनमें से एक कमरे में हमारा तेज़-तर्रार दरबान सूरजपाल रहता था। एक दिन देखती हूँ, वह विमर्ष भाव से अपनी चीज़-वस्त निकाल करके एक दूसरे कमरे में जहाँ दो नौकर रहते थे, रख रहा है। 'दरबान, यह कमरा खाली क्यों कर रहे हो ?'

'माँजी का हुक्म है।'

'पर क्यों ? किसके लिए ?'

'महारानी के वास्ते ?' बहुत पूछने पर मालूम पड़ा, पाँची है वह महारानी। पाँची है हमारी बर्तन माँजने वाली दाई। कुछेक दिन पहले देखा था—माँ उसे खूब डाँट-फटकार रही थी और वह उनके पैर पकड़-कर रो रही थी। सो उसी पाँची के लिए दरबान को अपना कमरा छोड़ना पड़ा। मैं सोच रही थी, उसने शायद रो-धोकर वह कमरा माँग लिया है। मैं सर्वदा ही अविचार के विरुद्ध लड़ने को तत्पर रहती हूँ, इसीलिए

मुझे गुस्सा आ रहा था, आश्चर्य भी हो रहा था, पर दरबान इसका रहस्य बताने को राजी नहीं था। इसीलिए मैं अपनी हर प्रकार के ज्ञान की स्वामिनी दादी के पास गयी, दादी भी अपनी तमाम शिकायतें सिर्फ़ मुझसे कहा करती थीं, मेरे सामने ही अपनी सारी भड़ास निकालकर वे अपना जी हलका किया करती थीं, उनकी धारणा थी, घर-भर में केवल मैं ही उन्हें प्यार करती हूं। 'दादी, तुम रो क्यों रही हो ?'

'इस घर में अब नहीं रहूँगी, मुन्नी—यह घर अपवित्र हो गया है।'

'पर क्या हुआ है दादी, क्या हुआ ?' मैं उनके गले से लिपट गयी, 'तुम चली गयीं, तो मैं भी चली जाऊँगी।'

'वह पाँची है—सात घर काम करती फिरती है, पता नहीं, कहाँ से पाप ले लायी है—वह पापी है। उसके साथ एक घर में रहने से चौदह पीढ़ी नरक में चली जायेंगी। लेकिन तेरी माँ दया से पसीज गयी है, उसे वह दरवान के कमरे में रहने देगी, उसकी सेवा करेगी। और तेरा बाप है जोरू का ग़ुलाम ! वहू जो कहेगी वही होगा—माँ कोई नहीं, बहू ही सब-कुछ है।'

पिताजी की हठात् ग़ुलाम के रूप में कल्पना करके मुझे बहुत हँसी आयी, लेकिन पाँची पापी क्यों है, क्या-क्या पाप किया है उसने, यह जानने के लिए मैंने दादी को तंग कर मारा। मगर दादी माँ के डर से कुछ बताने को राजी नहीं थीं, पर मैं भी छोड़ने वाली नहीं, फिर स्वयं उनकी भी बोलने की काफ़ी इच्छा थी : 'उसके बच्चा जो होने वाला है, विधवा के बच्चा हो, यह तो महापाप है, उसकी छाँह का स्पर्श भी पाप है।' मैंने माँ के पास जाकर कहा, 'माँ, पाँची के बच्चा क्यों होगा ? विधवा के बच्चा होना तो महापाप है, फिर उसे तुम इस घर में क्यों रखोगी ?'

माँ विस्फारित आँखों से मुझे निहार रही थीं। 'पर तुमसे यह सब किसने कहा ? ज़रूर दादी ने कहा है।' माँ कुछ क्षण चुप रहीं। फिर बोलीं : 'रू, बच्चा होना तो मनुष्य के हाथ में नहीं है, सच है न ? यह तो भगवान का काम है। मनुष्य क्या मनुष्य बना सकता है ? विधवा के बच्चा न होना ही उचित है, किन्तु भगवान भी बीच-बीच में भूल कर बैठते हैं, तब मनुष्य को बड़ा कष्ट होता है—मनुष्य कष्ट में हो, उस प

आफ़त आये तो उसकी सहायता करनी चाहिए कि नहीं ? ऐसा करना कभी अन्याय नहीं होता।'

सगे-सम्बन्धियों, लड़के-लड़कियों और नौकर-चाकरों का हमारा एक विराट दल काशी पहुँचा। तय हुआ कि वहाँ से पिताजी, माँ, मेरी सद्य-जात शिशु-बहन और मैं दिल्ली-आगरा होते हुए ऋषिकेश-लक्ष्मणझूला की ओर जायेंगे। ऋषिकेश जाने की बात सोचकर ही मेरा मन आनन्द से भर गया है। लग रहा है, जैसे वहाँ जाने से ही उससे भेंट होगी—हालाँकि मैं तो जानती हूँ कि वह अपने देश जा चुका है। तो फिर ऐसा क्यों लग रहा है ? तर्क की पहुँच के बाहर जो कुछ भाव हमारे साथ आँख-मिचौनी खेला करते हैं वह भी उनमें से एक है। हरिद्वार व ऋषि-केश को छोड़कर भ्रमण का अन्य कोई हिस्सा मुझे याद नहीं है। एक मोटर और एक गाइड की जुगाड़ करके हम लोग हरिद्वार से ऋषिकेश की ओर रवाना हुए। पहली बार हिमालय का यही आश्रय मिला है—देवता के आश्रय की भाँति उसकी निश्चिन्त शान्ति है। समुद्र की हवा का प्रभाव तो है मन पर, किन्तु पहाड़ की तरह नहीं। चारों ओर बड़े-बड़े सीधे तने हुए पेड़ हैं, मगर इनका नाम मुझे मालूम नहीं। न तो नदी की इतनी गति कभी देखी है; न हवा का ऐसा सुखद स्पर्श पहले कभी अनुभव किया है। मेरे हृदय के सारे स्फुलिंगों पर ठंडी हवा लग रही है—लग रहा है, आग बुझ जायेगी ! मिर्चा ने यहाँ आकर अच्छा ही किया था। हवा तो सिर्फ ठंडी ही नहीं है—हवा में और भी कुछ है। क्या है ? हिमालय नाम के इस नागाधिराज की क्या महिमा है, मुझे क्या पता ? मैं तो पहले कभी सोच नहीं सकी थी कि प्रकृति मनुष्य के मन को इस प्रकार शान्त कर सकती है। शकुन्तला पद्म-पत्र पर लेटी थी—मैं सोचा करती थी, कि कवित्व में भी एक स्वाभाविकता रहनी चाहिए—मुझे पद्म के फूल पर भी लिटाकर मरने दे, तो भी मुझे शान्ति नहीं मिलेगी !

हम लोग एक समतल भूमि से होकर चले जा रहे हैं। दोनों ओर बनसनई का जंगल है, ये बनसनई के पौधे गाड़ी से भी ज्यादा ऊँचे-ऊँचे

। वह ठीक कौन-सी जगह थी, वाद में फिर पहचान नहीं सकी। तभी सहसा ड़ी विगड़ गयी। माँ और मैं तो विलखते हुए शिशु को लेकर परेशान। ऐसे समय गाइड ने अचानक कहा : 'इस वनसनई के जंगल में शेर हते हैं।' मैं तो हिन्दी-भाषा में एकदम अज्ञ हूँ—सोच रही हूँ, 'सेर' तो एक वज़न होता है, पर यहाँ जो 'शेर' रहता है वह आखिर क्या चीज़ है ? पिताजी चौंक उठे : 'क्या सर्वनाश है। शेर रहता है ! तो फिर यहाँ लाया क्यों, कम्वख़्त !' पिताजी जितना गुस्सा कर रहे हैं, गाइड उतना ही निर्विकार वोले जा रहा है : 'मत घवराइये, आखिर शेर को भी तो मौत का डर रहता है, हम लोग हॉर्न वजायेंगे, तो वह भाग जायेगा।'

मैं मन-ही-मन सोच रही हूँ, देखो, हम लोग इतने आदमी हैं, फिर भी डर लग रहा है—फिर अकेले घूमने में कैसा लगेगा ? यह हँसी-मजाक की वात क़तई नहीं है। स्वर्ग-द्वार जाकर हम लोग नाव से उस पार गये—पहली वार मैंने किसी पहाड़ी नदी को देखा, इसके वाद तो इसी के तीर पर जीवन विताया है। ढलान पर से वहती आ रही है, इसलिए उसकी धारा प्रवल रूप से प्रवहमान है, पत्थरों से टकरा-टकरा-कर उसकी स्वच्छ जलराशि चक्कर खा रही है तो कभी ऊपर उठकर फुहारा वन जा रही है। आँख-मुँह पर पड़कर वह फुहार ठण्डी-सी लग रही है। पिताजी ने उसका पानी ओक भरकर पिया। हम लोगों ने भी पिया, क्या अपूर्व स्वाद है ! ऐसा मीठा और जी जुड़ा देने वाला पानी मैंने पहले कभी नहीं पिया था, यह अलकनन्दा जो ठहरी ! हम लोग तो स्वर्ग पहुँच गये हैं, स्वर्ग का दरवाज़ा पार किया, मैंने आँख-मुँह पर पानी डाला और नदी की वन्दना की, सुर-नर-निस्तारिणी पाप-ताप-निवारिणी पतित-पावनी सागरगामिनी गंगे—स्वाभाविक भाव से, स्वतः स्फूर्त आनन्द से कविता वोलने की वजह से पिताजी वहुत खुश हुए 'वोलो, वोलो, पूरा वोलो।' हम लोग उस पार आ पहुँचे हैं। पहाड़ प पगडंडी से होकर हम लोग आगे वढ़ते जा रहे हैं, छोटी वहन को ए वार माँ ले रही हैं, तो एक वार मैं। पहाड़ों में छोटी-छोटी गुफ़ाएँ-हैं, गाइड ने वताया : 'वहाँ वैठकर साधु लोग तपस्या किया करते हैं एक-एक गुफ़ा में एक-एक साधु वैठे हुए हैं—तरह-तरह के आसन में-

लेकिन अधिकतर साधु पद्मासन लगाकर ही बैठते हैं। कोई भस्म रमाये जटाधारी हैं, कोई सिर मुड़ाये हुए हैं।' दो-एक संन्यासी हाथ में कमंडलु या त्रिशूल लिये इधर-उधर की राह पकड़कर आ-जा रहे हैं। काली कमली-वाले की धर्मशाला की तरफ़ से इन्हें खाना पहुँचा दिया जाता है, मुफ्त। पुण्य-लोभी धनी व्यक्तियों ने बड़ी सुन्दर व्यवस्था की है। जो रमते रहते हैं वे जाकर वहीं खा आते हैं, और जो ध्यानासन में बैठे हुए हैं, उनका खाना लोग वहीं पहुँचा देते हैं। हम लोग आगे बढ़ते चले जा रहे हैं कि तभी गाइड ने एक गुफा दिखाकर कहा : 'वहाँ कुछ दिन पहले एक साहब रहता था, पर वह चला गया है। गुफा खाली पड़ी हुई है।' पिताजी रुक गये। एक दीर्घ नि:श्वास निकला : 'ज़रूर वही था। इसे ही कहते हैं कर्मफल। कहाँ तो आया था पढ़ने-लिखने, सो तो हुआ नहीं बल्कि जंगल-वन में भटककर अन्त में अपने देश को वापस लौटना पड़ा।' पिताजी थकते-थकते आगे बढ़ते जा रहे हैं, मेरी समझ में आ गया है कि उनका मन कैसा हो रहा है! वे उसे प्यार करते थे। उनके लिए जितना प्यार करना सम्भव था उतना वे करते थे। सिर्फ मेरे ही चलते ऐसा हुआ। वाह, मगर किसने पहले खेल शुरू किया था? मैं अपने पक्ष का समर्थन कर रही हूँ। किन्तु मुझे याद नहीं आ रहा है कि इसका आरम्भ कहाँ से हुआ था, और समाप्त कहाँ होगा, सो भी तो पता नहीं। पता है भी क्या?

बड़े-बड़े पेड़ों की छाया से ढका पथरीला ऊबड़-खाबड़ रास्ता, हम लोग क़तार बाँधकर आगे बढ़ते जा रहे हैं, इसके बाद वाली गुफा में एक साधु बैठे हुए हैं एक छोटी-सी लाठी पर ठुड्डी टिकाये। उनकी आँखें बड़ी-बड़ी हैं, और दृष्टि दूर पर कहीं टिकी हुई है। चेहरा देखने से ही समझ में आ जाता है कि अब तक जितने साधु नज़र आये हैं ये उनसे कुछ भिन्न हैं। गाइड ने बताया : 'ये एक बंगाली जज थे—ईश्वर का आह्वान सुना, तो सब-कुछ छोड़-छाड़कर, दो वर्ष हुए, यहाँ चले आये हैं। ये कहीं भी नहीं जाते हैं। हर दूसरे दिन एक बार खाते हैं। कुछ भी नहीं बोलते हैं। किसी ने इन्हें सोते भी नहीं देखा है, बस इसी तरह बैठे

हैं। वह ठीक कौन-सी जगह थी, बाद में फिर पहचान नहीं सकी। तभी सहसा गाड़ी बिगड़ गयी। माँ और मैं तो बिलखते हुए शिशु को लेकर परेशान हैं। ऐसे समय गाइड ने अचानक कहा : 'इस वनसनई के जंगल में शेर रहते हैं।' मैं तो हिन्दी-भाषा में एकदम अज्ञ हूँ—सोच रही हूँ, 'सेर' तो एक वजन होता है, पर यहाँ जो 'शेर' रहता है वह आखिर क्या चीज़ है ? पिताजी चौंक उठे : 'क्या सर्वनाश है। शेर रहता है ! तो फिर यहाँ लाया क्यों, कम्बख्त !' पिताजी जितना ग़ुस्सा कर रहे हैं, गाइड उतना ही निर्विकार बोले जा रहा है : 'मत घबराइये, आखिर शेर को भी तो मौत का डर रहता है, हम लोग हॉर्न बजायेंगे, तो वह भाग जायेगा।'

मैं मन-ही-मन सोच रही हूँ, देखो, हम लोग इतने आदमी हैं, फिर भी डर लग रहा है—फिर अकेले घूमने में कैसा लगेगा ? यह हँसी-मज़ाक की बात क़तई नहीं है। स्वर्ग-द्वार जाकर हम लोग नाव से उस पार गये—पहली बार मैंने किसी पहाड़ी नदी को देखा, इसके बाद तो इसी के तीर पर जीवन बिताया है। ढलान पर से बहती आ रही है, इसलिए उसकी धारा प्रबल रूप से प्रवहमान है, पत्थरों से टकरा-टकराकर उसकी स्वच्छ जलराशि चक्कर खा रही है तो कभी ऊपर उठकर फुहारा बन जा रही है। आँख-मुँह पर पड़कर वह फुहार ठण्डी-सी लग रही है। पिताजी ने उसका पानी ओक भरकर पिया। हम लोगों ने भी पिया, क्या अपूर्व स्वाद है ! ऐसा मीठा और जी जुड़ा देने वाला पानी मैंने पहले कभी नहीं पिया था, यह अलकनन्दा जो ठहरी ! हम लोग तो स्वर्ग पहुँच गये हैं, स्वर्ग का दरवाजा पार किया, मैंने आँख-मुँह पर पानी डाला और नदी की वन्दना की, सुर-नर-निस्तारिणी पाप-ताप-निवारिणी पतित-पावनी सागरगामिनी गंगे—स्वाभाविक भाव से, स्वतः स्फूर्त आनन्द से कविता बोलने की वजह से पिताजी बहुत खुश हुए : 'बोलो, बोलो, पूरा बोलो।' हम लोग उस पार आ पहुँचे हैं। पहाड़ पर पगडंडी से होकर हम लोग आगे बढ़ते जा रहे हैं, छोटी बहन को एक बार माँ ले रही हैं, तो एक बार मैं। पहाड़ों में छोटी-छोटी गुफ़ाएँ-सी हैं, गाइड ने बताया : 'वहाँ बैठकर साधु लोग तपस्या किया करते हैं। एक-एक गुफ़ा में एक-एक साधु बैठे हुए हैं—तरह-तरह के आसन में—

लेकिन अधिकतर साधु पद्मासन लगाकर ही बैठते हैं। कोई भस्म रमाये जटाधारी हैं, कोई सिर मुड़ाये हुए हैं।' दो-एक संन्यासी हाथ में कमंडलु या त्रिशूल लिये इधर-उधर की राह पकड़कर आ-जा रहे हैं। काली कमली-वाले की धर्मशाला की तरफ़ से इन्हें खाना पहुँचा दिया जाता है, मुफ्त। पुण्य-लोभी धनी व्यक्तियों ने बड़ी सुन्दर व्यवस्था की है। जो रमते रहते हैं वे जाकर वहीं खा आते हैं, और जो ध्यानासन में बैठे हुए हैं, उनका खाना लोग वहीं पहुँचा देते हैं। हम लोग आगे बढ़ते चले जा रहे हैं कि तभी गाइड ने एक गुफा दिखाकर कहा : 'वहाँ कुछ दिन पहले एक साहब रहता था, पर वह चला गया है। गुफा खाली पड़ी हुई है।' पिताजी रुक गये। एक दीर्घ नि:श्वास निकला : 'ज़रूर वही था। इसे ही कहते हैं कर्मफल। कहाँ तो आया था पढ़ने-लिखने, सो तो हुआ नहीं बल्कि जंगल-वन में भटककर अन्त में अपने देश को वापस लौटना पड़ा।' पिताजी थकते-थकते आगे बढ़ते जा रहे हैं, मेरी समझ में आ गया है कि उनका मन कैसा हो रहा है! वे उसे प्यार करते थे। उनके लिए जितना प्यार करना सम्भव था उतना वे करते थे। सिर्फ मेरे ही चलते ऐसा हुआ। वाह, मगर किसने पहले खेल शुरू किया था? मैं अपने पक्ष का समर्थन कर रही हूँ। किन्तु मुझे याद नहीं आ रहा है कि इसका आरम्भ कहाँ से हुआ था, और समाप्त कहाँ होगा, सो भी तो पता नहीं। पता है भी क्या?

बड़े-बड़े पेड़ों की छाया से ढका पथरीला ऊबड़-खाबड़ रास्ता, हम लोग क़तार बाँधकर आगे बढ़ते जा रहे हैं, इसके बाद वाली गुफा में एक साधु बैठे हुए हैं एक छोटी-सी लाठी पर ठुड्डी टिकाये। उनकी आँखें बड़ी-बड़ी हैं, और दृष्टि दूर पर कहीं टिकी हुई है। चेहरा देखने से ही समझ में आ जाता है कि अब तक जितने साधु नज़र आये हैं ये उनसे कुछ भिन्न हैं। गाइड ने बताया : 'ये एक बंगाली जज थे—ईश्वर का आह्वान सुना, तो सब-कुछ छोड़-छाड़कर, दो वर्ष हुए, यहाँ चले आये हैं। ये कहीं भी नहीं जाते हैं। हर दूसरे दिन एक बार खाते हैं। कुछ भी नहीं बोलते हैं। किसी ने इन्हें सोते भी नहीं देखा है, बस इसी तरह बैठे

ते हैं।' कृच्छ-साधन की बात सुनती हूँ तो मुझे बहुत भक्ति होती
—मैं जो तनिक भी कृच्छ-साधन नहीं कर सकती हूँ। मैं मन-ही-मन
सोच रही हूँ, बग़ल की गुफ़ा में जो साहब था वह मिर्चा था कि नहीं,
यह इनसे जानना होगा। स्वर्ग-द्वार के इस जंगल में तो साहब लोग
झुण्ड-के-झुण्ड घूमते-फिरते नहीं। मैंने उस जज संन्यासी की गुफ़ा के
सामने ठोकर खायी। मेरे पैर में चोट आयी। मैंने पिताजी से कहा :
'आप लोग आगे जाइयेगा, तो जाइये। मैं यहाँ प्रतीक्षा करती हूँ, मेरे पैर
में चोट लग गयी है।'

पिताजी और माँ आगे बढ़ गये, तो मैं उस जज साधु के पास गयी
और बोली : 'आप तो बात नहीं करते हैं, किन्तु आप लोग तो साधु
ठहरे—दुनिया का दुःख-कष्ट दूर करना भी तो आप लोगों का काम है।
उस गुफ़ा में जो साहब था, उसके बारे में ज़रा बतायेंगे ? उसका नाम
क्या मिर्चा था ?'

पर संन्यासी के चेहरे पर शिकन तक नहीं आयी। अनिमेष दूर पर
टिकी हुई दृष्टि भाव-शून्य थी। मैं रोने लगी : 'बोलिये न, बोलिये, यह
जानना मेरे लिए बड़ा ज़रूरी है। एक बात बोलने से ही क्या भला आपकी
साधना नष्ट हो जायेगी ?' पर कोई फल नहीं हुआ। और एक आगन्तुक
आकर खड़ा हो गया है—वह यह मामला देखकर स्तब्ध-सा रह गया है।
सहसा इस वन में एक जटाधारी गुहावासी के निकट बैठी एक सुन्दर
तरुणी के रोदन के दृश्य ने उसे बहुत ही अभिभूत किया है—मनुष्य पर
सम्पूर्ण निर्दय हो उठने योग्य सिद्धि-लाभ उसने तब तक नहीं किया था
वह बोला : 'मत रोओ, मत रोओ—तुम चाहे जितना ही क्यों न रोओ
लेकिन वे हरगिज बात नहीं करेंगे। मगर तुम क्या जानना चाहती हो
बेटी ?'

'उस गुफ़ा में जो साहब था उसका नाम क्या था ?'

'नाम तो नहीं पता। साधु-संन्यासियों का नाम कौन पूछता है ?'

'आपने उसे देखा था ?'

'हाँ।'

'वह देखने में कैसा था ?'

'साहब-जैसा था।'

'साहब-जैसा था का क्या मतलब ?'

'मतलब कि वह गोरा-सा था।'

'कितना लम्बा था वह, आँखों में चश्मा था ?'

लम्बाई उसकी कितनी थी, यह तो उसने हाथ के इशारे से दिखा दिया। पर आँखों में चश्मा था कि नहीं, यह वह नहीं बता सका। मैं लौटकर उस गुफा में जा घुसी। चारों ओर देख रही हूँ, कि कहीं कोई नाम लिखा हुआ है कि नहीं, कुछ लिखकर रख गया है या नहीं, छान-बीन कर देख रही हूँ। मेरा कलेजा धड़क रहा है कि दीवार पर उसका नाम देख लूँ, तो उससे भेंट हो जायेगी। मैं पागल की भाँति ढूँढ रही हूँ, अभी तुरन्त माँ और पिता आ धमकेंगे। मगर कहीं कुछ भी लिखा हुआ नहीं है। सिर्फ बंगला अक्षरों में कुछेक अंक बनाये हुए हैं। फिर मेरी बुद्धि और निर्बुद्धि में लड़ाई छिड़ गयी। निर्बुद्धि कह रही है, यह तो जान-बूझकर मुझे कष्ट देना है—यहाँ क्या नाम लिख करके नहीं जा सकता था ? *ऐसा करने पर तो भला पिताजी उसे नहीं डाँटते—इतना-सा करता तो* उसका क्या बिगड़ जाता ? फिर बुद्धि कह रही है, अरे वाह, आखिर वह कैसे पहले ही जानता, कि तुम एक दिन यहाँ आओगी ? तो इसके लिए इतनी उतावली होने का क्या कारण ? फिर इतना गुस्सा ही भला क्यों कर रही हो ? किन्तु मैं अपने अभिमान के समुद्र को काबू में नहीं रख पा रही हूँ। उसकी तरंगें उत्ताल हो उठी हैं, मेरी क्या शक्ति है, क्या साधना है जो उससे लड़ूँ ? यहाँ नाम तक लिखा हुआ नहीं है, ऐसा तो जान-बूझकर किया गया है, मुझसे सम्बन्ध-विच्छेद करने के लिए ही किया गया है...और कोई दूसरा कारण नहीं है। दूर पर गाइड के साथ पिताजी की बात करने की आवाज सुनायी पड़ी, तो मैं उस गुफा से बाहर निकली और उस जड़ साधु के पास जा बैठी। यह आदमी बात नहीं करता है, यह तो अच्छा ही है, नहीं तो पिता से सब-कुछ कह देता।

हम लोग रास्ते को पार कर घाट की ओर चले जा रहे हैं। नाव पर बहुत भीड़ है। रस्सी पकड़कर बैठना पड़ता है। कुछ दिन पहले पत्थर से

का खाकर नाव के उलट जाने से तीस आदमी मर गये थे—शायद
। नदी में गिरने से फिर बचने की कोई उम्मीद नहीं। इतना
ाव है कि अत्यन्त वेग के साथ पत्थरों से टकरा-टकराकर मनुष्य की
ड्डी-पसली चकना-चूर हो जायेगी। मैं नाव के किनारे पर बैठी हूँ।
ाहिना हाथ बढ़ाकर पानी छू रही हूँ। और लग रहा है, नाम लिखे बिना
ले जाने का उचित दण्ड देने का यही समय है। मैं अगर यहाँ गिर
पड़ूँ, तो क्षण-भर में ख़त्म हो जाऊँगी। मैं तो कृच्छ-साधन कर नहीं
सकती, तो इस बार चरम शारीरिक कष्ट पाकर ही क्यों नहीं देख लिया
जाय ! तब तो उचित दण्ड मिलेगा। आखिर कैसे उसे उचित दण्ड
मिलेगा ? उसे तो पता तक नहीं चलेगा—पता भला कैसे नहीं चलेगा !
पिताजी चिट्ठी लिखेंगे कि 1, मेलडी स्ट्रीट में बैठे वे महाशय उस चिट्ठी
को पढ़कर बेहोश हो जायेंगे। पिताजी लिखेंगे : 'तुम पर मैंने विश्वास
किया था, तुम्हें आश्रय दिया था, अन्न दिया था, शिक्षा दी थी। बदले
में तुमने मुझे मृत्यु दी है। तुम्हारे प्रति मेरा स्नेह ही वह रंध्र था जिस
रास्ते से शनि बनकर तुम घुस आये थे, और आखिरकार तुमने मेरा घर-
संसार बर्बाद कर दिया है।' और तभी माँ और पिताजी दोनों को ही सही
सबक़ मिलेगा। प्रतिहिंसा का उल्लास मेरे दिमाग़ में चक्कर खा रहा है।
तभी अचानक माँ बोलीं : 'रू, ज़रा हटकर बैठ, यह क्या, इतनी झुक क्यों
रही है ?' मैं कल्पना कर रही हूँ मीलू की, वह सिर पीट-पीटकर
रोयेगी। नानी, शान्ति, मुन्ना—सभी याद आ रहे हैं। दादी कहा करती
थीं, ठीक मृत्यु के समय सभी का चेहरा याद आने लगता है, निश्चय ही
मेरा भी वैसा ही समय आ गया है, तभी तो सभी याद आ रहे हैं। सभी
याद आ रहे हैं ? सहसा मैंने उस तसवीर को देखा, जो भवानीपुर के मेरे
कमरे की दीवार पर टँगी हुई है—मखमल की टोपी पहने—और जिसकी
दृष्टि, चाहे जिधर भी जाओ, तुम्हारा ही अनुसरण करती फिरेगी। वह
अन्तर्भेदी दृष्टि मेरी ओर निहार रही है। और मुझसे कह रही है : 'छि
तुम ऐसी हो ? इतनी आसानी से पराजित हो गयीं ? तब तो मेरे गी
तुम्हारे लिए नहीं हैं।' मैं जैसे मोहाच्छन्न अवस्था से जाग उठी औ
अँधेरे में भी सुबह का उजाला देख पायी। पिताजी ने हाथ बढ़ाकर मु

खींच लिया . 'खिसक आ, थोड़ा-सा इधर, उतने किनारे पर क्यों बैठी है ?' मैं जिन पिताजी को सबक़ सिखाने के ख़याल से कूद जाना चाहती थी आख़िर उन्हीं के गले से लिपट गयी और उन्हीं की छाती में सिर टिकाकर रोने लगी।

माँ बहुत व्यग्र हो उठीं और कहने लगीं : 'क्यों रोती है, रू ?'

पिताजी बोले : 'चारों ओर सुन्दर दृश्य और सुन्दर जगह देखने पर बराबर ही इनकी आँखों में आँसू बहने लगते हैं।' पिताजी सब-कुछ हलका बना दे रहे हैं—अब उनसे भी कुछ करते नहीं बन रहा है—यह शोक-भार उनसे भी सहन नहीं हो पा रहा है।

हम लोग हरिद्वार लौट आये। बंगले के बरामदे में बैठी हुई हूँ—नदी की कल-कल ध्वनि सुनायी पड़ रही है—कल्लोलिनी नदी, इस देश की प्राणवती, पुण्य-सलिला गंगा की धारा मुझे धोती जा रही है ! मैं आँखें मूँदकर सोच रही हूँ, इतने दिन पर उस गीत का अर्थ समझ में आया :

कभी विषय में यदि भटकना चाहे यह मन
तो उस मुख को निहार,
लाज से यह ठीक पथ पर आ जायेगा।

न हन्यते : द्वितीय पर्व

जब हम लोग छोटे थे अर्थात् मैं जिस समय की बात लिख रही हूँ, तब से रवीन्द्रनाथ की मृत्यु के ठीक पूर्व-क्षण तक उन्हें सभी अर्थात् सभी छोटे-बड़े बंगाली 'रवि बाबू' कहा करते थे। विदेश में लोग उन्हें कहते तागोर, तागोरे या टेगोर। आजकल देखती हूँ, सब बंगाली भी 'ट' में 'ऐ'-कार लगाकर कहते हैं टैगोर, इससे अधिक श्रुतिकटु उच्चारण और दूसरा हो ही नहीं सकता है। 'रवि बाबू' भी उचित सम्बोधन नहीं था, फिर भी वह सम्बोधन प्रचलित था। कोई-कोई उन्हें रवि-ठाकुर भी कहते थे, पर रवीन्द्रनाथ कहना बहुत बाद में चालू हुआ है। रामानन्द बाबू उन्हें 'कवि' कहा करते थे; मैंने उन्हीं से यह सीखा था। मैंने जीवन में कभी भी उन्हें गुरुदेव नहीं कहा। उन्हें जो गुरुदेव कहा जाता है वह धर्मगुरु के रूप में नहीं...। उन्हें उनके विद्यालय के छात्रों ने गुरु कहा था, परन्तु शिक्षक को जिस तरह से गुरु कहा जाता था उसी अर्थ में। वे तो धर्मगुरु नहीं थे, शिक्षक थे। उस अर्थ में इस देश के सभी उन्हें गुरु कहते हैं, किन्तु अपने-आपको वे कवि ही मानते थे, धर्मगुरु नहीं, और अपना यही परिचय सही मानते थे। उन्नीस सौ तीस ईस्वी में पूरे तौर पर वे प्रायः विदेश में ही थे। इसी प्रवास के अन्त में वे रूस गये थे। रूसी पंडित बोग्दानोव एक बार हमारे घर आये थे। लगता है, उन्होंने पिताजी से कवि की रूस-यात्रा के सम्बन्ध में अपनी नाराजगी की बात कही थी और उसकी आलोचना भी की थी। पिताजी को भी रूस से निमंत्रण मिला था, किन्तु

सरकारी अनुमति नहीं मिली थी। एक कहानी वे प्रायः सुनाया करते थे—वह यह कि जब वे इंग्लैंड में थे तब एक रूसी उच्च पदाधिकारी उन्हें निमंत्रित करके भोज खिलाया करता था। पिताजी भी भाँप गये थे कि इसमें उसकी कोई चाल है। अन्त में एक दिन उस रूसी अधिकारी ने पिताजी से अनुरोध किया कि पिताजी उनसे भारतीय क्रान्तिकारियों का सम्पर्क करा दें—क्योंकि स्वाधीनता-संग्राम में भारत की सहायता करने की इच्छा उन लोगों की है। प्रत्युत्तर में पिताजी ने उनसे कहा कि सम्पर्क तो वे करा ही देंगे, लेकिन यदि वे यह बता सकें कि उन लोगों की सहायता से अंग्रेजों को खदेड़ने के बाद फिर किसकी सहायता से हम लोग उन लोगों को खदेड़ सकेंगे ? कहने की जरूरत नहीं कि वे रूसी अधिकारी इसका ठीक जवाब नहीं दे सके। पिताजी यह कहानी बड़े गर्व से सुनाया करते थे, किन्तु किसी तरह की राजनीतिक गतिविधि से उनका कोई सम्पर्क नहीं था। विशुद्ध ज्ञान-चर्चा ही उनके जीवन का उद्देश्य था।

लगभग 8-9 महीने हुए, रवीन्द्रनाथ स्वदेश लौट आये हैं। इस बीच उनसे दो-एक बार मुलाकात तो हुई है, मगर कोई बात करने मौका नहीं मिला है। जब भी गयी हूँ, पिताजी के साथ गयी हूँ, नहीं तो वहाँ कोई-न-कोई उपस्थित मिला है। 'नवीन' नाम का नृत्योत्सव कलकत्ता में जब मंचस्थ हुआ, उस समय मैं दो दिन के लिए जोड़ासाँको गयी थी। किन्तु उनसे कुछ कह नहीं पायी। ऋषिकेश से लौटी, तो मैंने उन्हें एक चिट्ठी लिखी। मगर चिट्ठी में क्या लिखा था वह मुझे बिलकुल याद नहीं है। अपनी मानसिक अवस्था का एक आभास-भर उन्हें दिया था। खुल्लम-खुल्ला कुछ लिखने का साहस मुझे नहीं हुआ, फिर लाज भी आयी थी। साहस नहीं हुआ था—इस कारण कि पिताजी यदि उत्तर देखना चाहें तब तो सब-कुछ उन्हें मालूम हो जायेगा।

यहाँ, कवि और पिताजी के आपसी सम्बन्ध के बारे में ज़रा बता दूँ। पिताजी ने रवीन्द्र-काव्य को अच्छी तरह पढ़ा है। रवीन्द्र-काव्य की व्याख्या करने में भी वे पारंगत हैं। कवि के प्रति उनका गहरा और प्रबल

आकर्षण है, इसके बावजूद वे दोनों संपूर्ण विपरीत चरित्र के हैं। इसलिए पिताजी को कवि के प्रति काफ़ी नाराजगी है—दूसरी ओर कवि भी पिताजी से बहुत खुश हों, ऐसी बात नहीं। ऐसी अवस्था में मेरी दशा कैसी है, यह सहज ही अनुमेय है। पिताजी को पता है कि मैं कवि के पास सहज ही पहुँच सकती हूँ। और वे मुझ पर प्रसन्न हैं। अतः मैं जब कोई चिट्ठी उन्हें लिखती हूं तो पिताजी भी उसमें अपनी कुछ बातें लिखवा देना चाहते हैं, ऐसी हालत में मेरी चिट्ठी फिर मेरी चिट्ठी नहीं रहती है। यह मेरे लिए एक बहुत बड़ी समस्या बन गयी है और इस बात को लेकर मैं भारी मुश्किल में पड़ गयी हूँ। बचपन से ही मैं इस कष्ट को भोग रही हूँ। पिताजी बता देंगे, तो मैं चिट्ठी लिखूंगी, फिर पिताजी हिज्जे की ग़लतियों को सुधारेंगे, उसकी भाषा को शुद्ध करेंगे, अपना भाव उसमें घुसेड़ेंगे, तब कहीं जाकर वह चिट्ठी जायेगी और जब जवाब आयेगा, तो पिताजी उसकी समालोचना करेंगे। ऐसी बन्दी-सी दशा भला कहीं सहन हो सकती है ? कवि ने एक बार मुझसे हँसकर कहा था, 'तुम जब चिट्ठी लिखो तब दर्शन-शास्त्र न लिखकर मन में सहज भाव से जो कुछ आता है यदि उसे लिखो तो अच्छा हो।' मुझे पता है, दो-चार हिज्जों की ग़लतियाँ रहने पर भी उन्हें बुरा नहीं लगेगा। परन्तु उनके अन्य प्रशंसक जिस प्रकार स्वाधीन हैं, मैं वैसे नहीं हूँ। मैं चाहूँ तो भी उनके पास नहीं जा सकती हूं।

अब की बार मैंने किसी को दिखाये बिना उन्हें एक चिट्ठी लिखी। यथासमय अर्थात् चिट्ठी लिखने के दो दिन बाद ही उनसे जो उत्तर मुझे मिला था, उसे मैं यहाँ लिख दे रही हूँ।

प्रिय अमृता,

तुम्हारी चिट्ठी में जो वेदना प्रकट हुई है, उससे मुझे गहरी पीड़ा का बोध हुआ। जीवन के साथ परिवार का यदि द्वन्द्व होता है तो जिस ढंग से उसे सहज ही सहन करके धीरे-धीरे सुर में बांध लिया जाता है वैसा कर पाना तुम्हारी इस उम्र और अभिज्ञता में संभव नहीं है। इसलिए तुम्हें क्या परामर्श दूं, कुछ सोच नहीं पाता। जब मैं छोटा था, तब की बात मुझे याद आती है—दुःख के अतिरेक से जब दिन कंटकित-से हो उठे थे तब उन्हें किसी तरह भी बिताने का

रास्ता नही सूझता था। सोचता था, अन्तहीन हैं राह की ये बाधाएँ ! किन्तु जीवन की परिणति विस्मृति-मात्र मे नही है, बल्कि दिन-पर-दिन वेदना को समझ मे बदलना और कठोरता को ललित मे तथा अम्लता को माधुर्य में परिपक्व कर लेना ही है परिणति। तुमसे ऐसा कर पाना संभव नही है, यह मैं नही सोचता, क्योंकि तुममें कल्पना-शक्ति है, और यही शक्ति है सर्जन की मूल शक्ति। परिस्थिति के हाथ मे निष्क्रिय भाव से अपने-आपको सौंपकर तुम रह नही पाओगी, बल्कि अपने-आपको पूरे तौर पर नये सिरे से तुम गढ सकोगी। मैं जानता हूँ, हमारे देश मे स्त्रियों के लिए स्वतन्त्र रूप से आत्म-विकास कर पाना सहज नही है, बाहरी दुनिया में उनके प्रसार के समस्त क्षेत्र अवरुद्ध-से रहते है; अपने मानसिक विकास के लिए भी वे अनुकूल परिस्थिति नही पाती हैं। लेकिन तुम हताश मत होओ—अपने-आप पर आस्था रखो और चारो ओर से अपने-आपको काट करके अपने में इतना आत्मबल अर्जित करो कि जिससे तुम्हारी महिमा तुम्हारे भाग्य का भी अतिक्रमण कर जाये। तुम्हारे पीडित चित्त को सान्त्वना देने की शक्ति यदि मुझमें होती, तो कोशिश करता। किन्तु सच्चे हृदय से तुम्हारी मंगला-कामना करने के अतिरिक्त मुझे और कुछ करने को नही है। यदि कोई बाह्य क्षुद्रता तुम पर हावी होना चाहे, तो उससे पराभव स्वीकार करने मे लज्जा-बोध करना।

14 श्रावण 1338 साल

इस चिट्ठी के मिलने के ठीक एक साल पहले अर्थात् 1337 साल के भाद्र के आखिर मे मिर्चा चला गया था। हिन्दू रीति-रिवाज के अनुसार भाद्र महीने मे मनुष्य को घर से बाहर जाने देना तो दूर की बात है, पशु को भी नही खदेडा जाता है, किन्तु हम आधुनिक परिवार के लोग इन कु-संस्कारो पर विश्वास नही करते।

इस चिट्ठी को अनेक बार पढा। अच्छा तो लग रहा है, फिर भी विषाद मन पर छाया हुआ है; मेरे मन की जो अवस्था है, यह चिट्ठी उसके अनुकूल नही है। कलकत्ता वापस आकर बहुत स्वाभाविक भाव से दिन

गुज़ार रही हूँ। पिताजी समझते हैं, मेरे मन में अब कोई बोझ नहीं है, परन्तु माँ चौकन्नी रहती हैं। घर अब सूना-सूना-सा लगता है। शान्ति और मुन्ना जा चुके हैं, काका-काकी भी। मिर्चा का कमरा सांय-सांय कर रहा है। छोटी बहन के लिए एक दक्ष परिचारिका रखी गयी है, इसलिए अब मुझे कोई विशेष काम नहीं करना पड़ता है। उस दिन वह चिट्ठी हाथ में लिये बैठी हुई थी कि तभी माँ आकर कमरे में घुसीं। मैंने माँ को वह चिट्ठी दी। माँ ने पढ़ा और फिर मेरे हाथ में उसे लौटा दिया।

हम माँ-बेटी बैठी हुई हैं—अँधेरा गहराता जा रहा है। मैं बोली: 'माँ, मैं एक बार शान्ति-निकेतन जाना चाहती हूँ, मुझे भेज दोगी?' माँ बोलीं: 'मैं भी स्वयं कई दिनों से तुमसे वहाँ जाने को कहने के लिए सोच रही थी।' मेरी माँ किसी भी बात को बहुत अच्छी तरह से कह सकती हैं। मैंने बहुत-से पंडितों को देखा है, पी-एच०-डीयों को भी कम नहीं देखा, लेकिन माँ की तरह हार्दिकतापूर्वक किसी बात को समझने और कहने वाले बहुत कम लोग मिले हैं।

उस दिन शाम के अँधेरे में माँ ने मुझे अपनी गोद में खींच लिया और कहने लगीं: 'रू, तुमने अपने जीवन में एक अनूठी चीज़ पायी है। ऐसा सौभाग्य भला कितने लोगों को मिलता है? जिस श्रद्धा, भक्ति और प्यार का इस परिवार से कोई लगाव नहीं है, जो स्वार्थ-शून्य है, जो दुनियादारी की ज़रूरतों से सम्बन्ध-रहित है, उस प्यार का नैसर्गिक रूप भला कितने लोगों को देखने को मिलता है? कितने लोगों के जीवन में ऐसा मौक़ा आता है? अपने होश संभालने के पहले से ही मानो तुम तैयार हो चुकी थीं—जैसे फूल उजाले की खातिर जागकर अनजाने रात बिताता है। उसके बाद प्रतिदिन उनकी कविता, गायन, चिन्तन और मनन से तुम्हारा मन ऊर्ध्वमुखी हो उठा है। यह तो एक तपस्या का फल है; अपने-आप को चकनाचूर करके, मिट्टी में मिलाकर इस दुर्लभ सौभाग्य को विफल मत करो। तुम उनके पास जाओ और मन में कोई दुविधा-संकोच रखे बिना सब-कुछ उनसे खुलासा कह दो। जो कुछ मेरी समझ में आ रहा है, उससे लग रहा है कि अपनी चिट्ठी में तुमने झिझकते हुए अपनी बात लिखी है। मगर ऐसा करना तो ठीक नहीं है। जब ऐसा स्थान

तुम्हारे पास है जहाँ तुम सम्पूर्ण आत्म-निवेदन कर सकती हो तो वहाँ जाकर तुम अपना सुख-दुःख, पाप-पुण्य सब-कुछ निष्कपट कह डालो और शुद्ध, पवित्र हो जाओ, बेटी ! वे तुम्हें रास्ता दिखायेंगे।'

'माँ, पर मैं अकेली जाना चाहती हूँ।'

'जरूर।'

लेकिन, मैं माँ की बात रख नहीं सकी। किस तारीख को, किसके साथ मैं शान्ति-निकेतन पहुँची थी, वह समय दोपहर था, या तीसरा पहर—सो भी ठीक से याद नहीं आता है।

उनके पास जब भी मैं जाती हूँ हर समय मुझे एक दुर्गम पथ पार करना पड़ता है। बैंटिक स्ट्रीट के मोड़ से ही मेरा कलेजा धड़कने लगता है। और, जब द्वारकानाथ ठाकुर की गली के मोड़ पर पहुँचती हूँ तो कलेजे की धड़कन और बढ़ जाती है। जब तक मैं उनके पास पहुँचकर बातचीत शुरू करती हूँ तब तक बाकायदा दिल का दौरा-सा पड़ गया लगता है, पहाड़ पर चढ़ते समय की-सी हालत हो जाती है। उस दिन तो शान्ति-निकेतन का पथ अधिक दुर्गम हो गया था—लग रहा था, हवा की सारी ऑक्सीजन चुक-सी गयी थी।

मैं जब उनके कमरे में घुसी तब वे आराम-कुर्सी पर बैठे हुए थे, चारों ओर चित्र फैले हुए थे—उन दिनों उनके चित्र आँकने का युग था। उन्होंने मुझे अचानक आया देखा, तो उन्हें कोई अचरज नहीं हुआ। मैं तो यों ही बिना खबर दिये ही अचानक आती रहती हूँ। बोले : 'वह वग़ैरह तो कोई है नहीं। अभी आवभगत के लिए गणपति का ही भरोसा है।'

मैं उनके पैरों के पास बैठ गयी।

'तुम अतीत-सम्बन्धी रचनाएँ पढ़ोगी—अर्थात् प्लान्चेट सम्बन्धी कोई कृतियाँ ?' पर मेरा तो मन तब अतीत की ओर उन्मुख नहीं था, वर्तमान के उत्पीड़न से ही मैं अभिभूत थी।

'आपसे एक बात कहने आयी हूँ।'

'हां, मुझे तुम्हारी दोनों चिट्ठियाँ मिली हैं। पर हुआ क्या है अमृता,
ओ तो?'

मैं चुपचाप बैठी हुई हूँ, मेरा सिर झुका हुआ है, मैं उनकी आराम-
ों का एक हिस्सा पकड़े हुए हूँ। कैसे कहूँ—कहूँ भी तो भला क्या
हूँ! और कहकर भी भला क्या होगा? मैं हरगिज़ नहीं चाहती कि
ताजी से इनका किसी भी प्रकार का मनमुटाव हो जाये—तब तो पूरे
ौर पर मेरा सर्वनाश हो जायेगा।

उन्होंने मेरा हाथ उठा लिया और मुझे सहारा देने के लिए कहने
लगे, 'बताओ, अमृता, बताओ, आखिर क्या हुआ है?'

'हमारे घर में वह जो एक लड़का रहता था न...!'

'कौन लड़का?'

'आपने तो उसे देखा था।'

'कौन था वह? मैंने उसे कहाँ देखा था?'

'यहाँ हम लोग आये तो थे...।'

'यहाँ तुम लोग आये थे? कब? तुम अपने काका के बारे में कह
रही हो क्या?'

'नहीं, नहीं, पिताजी के छात्र...।'

'कौन छात्र? रवीन्द्र समिति का छात्र?'

'नहीं, नहीं। बता रही हूँ, वह जो हम लोग टेनिस-कोर्ट के पास टहल
रहे थे...आपको कुछ याद नहीं है?'

'ओ हाँ, याद आया, तो उस साहब के बारे में कह रही हो? हाँ,
तो क्या हुआ?'

मैंने उस बात का उत्तर दिये बिना कहा: 'आप इतने दिन के लिए
क्यों चले गये?'

वे ज़रा मुसकरा रहे हैं; इन सब बातों का वे बहुत अच्छा उत्तर दे
सकते हैं। महज़ मामूली-सी बातों से वे सुधा-सिन्धु बहा दे सकते हैं। ह
सम्पर्क के माधुर्य को विकसित करके, उसे तनिक भी क्षति पहुँचाये विन
उसे यथास्थान रख सकते हैं और उससे जितना-सा लेने को होता है उ
लेकर उसका पूरा मूल्य चुका दे सकते हैं। एक ही साथ निर्मम दूरी

बनाये रखकर हृदय की गहराई तक पहुँचने का एक अजीब-सा कौशल उन्हें मालूम है—'रहे, रहे वह अपने मन से दूर; मैं तो सिर्फ़ बाँसुरी के सुर से छुऊँगा उसका मन-प्राण।' यह एक ऐसी कला है जिससे किसी की क्षति नहीं होती है—कोई मिटता नहीं, बल्कि सिर्फ़ उसके जीवन का दीप और चमकीला हो उठता है!

'क्यों चला गया था? चित्र प्रदर्शित करने! चित्र दिखाने! इस देश में तो कोई चित्र देखना नहीं चाहता, नहीं जानता, और फिर तुमने मना भी तो नहीं किया। मना करती, तो हो सकता था, मैं नहीं जाता।' उन्होंने मेरा माथा ज़रा झकझोर दिया। पता है, यह उनका एक परिहास है, पर कितना मधुर है!

'हाँ तो बताओ, उस साहब का क्या हुआ? वह अभी कहाँ है?'

'वह तो चला गया...।'

...मैं और कुछ नहीं कह पायी। मैं उनके पास से उठी और जाकर पश्चिम की ओर वाले दरवाज़े के नज़दीक औंधी पड़कर रोने लगी।

'इधर आओ अमृता, इधर आओ। मैं भी तो सुनूँ सब-कुछ।'

अब मेरी क्षमता नहीं है उठकर जाने, या कुछ कहने की। मैं भयंकर अन्धड़ में घिर गयी हूँ। रुलाई को रोककर, तीन-चार गज़ की दूरी को पार करके उनके समीप जाऊँ भी तो कैसे? असम्भव है! मैं माँ की बात नहीं मान रही हूँ। ये सब बातें बताने में मेरा कलेजा फट जायेगा—मैं कैसे कहूँ? कहाँ से शुरू करूँ? आख़िर किसका दोष है? उसका या मेरा? मुझे लग रहा है: मैं बेअदबी कर रही हूँ। यदि सम्भव होता, तो मैं इसी दम इस दरवाज़े से निकलकर, उड़कर माँ के पास लौट जाती। मैं यह परीक्षा पास नहीं कर सकूँगी। हठात् समझ में आया, वे कुर्सी छोड़कर उठ आये हैं, और मेरी बग़ल में एक मूढ़े पर आ बैठे हैं: 'अमृता, उठो, स्थिर होओ...।'

मैं उठी। उन्होंने मुझे उठकर बैठने को सहारा दिया. 'तुम्हें क्या मुझसे यह सब कहने में तकलीफ़ हो रही है?'

'हाँ।'

'तो फिर कुछ नहीं कहना होगा। कुछ कहने की ज़रूरत नहीं। शान्त

हो जाओ, शान्त।'

मैं शान्त होने की कोशिश कर रही हूँ।

उन्होंने फिर कहा : 'तुम्हें अब कुछ नहीं कहना होगा, अमृता, सिर्फ़ यह बताओ कि मैं तुम्हारे लिए क्या करूँ? किसी प्रकार की मदद चाहिए?'

वे साधारणतः जब किसी से बात करते थे तो उसकी ओर ताककर नहीं बोलते थे। चाहे नीचे की ओर, चाहे दूर की ओर—अधिकतर समय निहारते रहते थे। वे मनुष्य को सम्बोधित किया करते थे—सामने वाले व्यक्ति-विशेष को नहीं—उनकी नजर में उस व्यक्ति-विशेष की समस्या मनुष्य-मात्र की समस्या होती थी। यह बात बाद में समझ में आयी है, मगर तब समझ में नहीं आता था। तब तो मैं रुष्ट हुआ करती थी। अब समझ में आता है—मनुष्य अपने प्रेम व आनन्द को लेकर, सुख-दुःख और कातरता को लेकर, अपने भरे मन की जिज्ञासाओं को लेकर उनके पास आया करता था; कोई व्यक्ति-विशेष नहीं। अब समझ में आता है, ऐसी निर्ममता नहीं रहती, तो उनका संवेदनशील मन न तो इस दुरूह, क्रूर कर्म-सागर को पार कर पाता, और न ज्ञान के उस शिखर पर पहुँच पाता, बल्कि आघात-प्रत्याघात से क्षत-विक्षत हो जाता। वे किसी दिन किसी से नहीं कहते थे—आज मत जाओ, दो दिन ठहर जाओ। बीमारी से जब वे कमजोर हो गये थे, तब की बात मैं नहीं कह रही हूँ। तब तो हम लोगों के लिए उनकी आंखों से आंसू बहते हुए भी मैंने देखे हैं।

किन्तु उस दिन दोपहर के समय वे मेरे ही साथ बात कर रहे थे : 'बोलो, अमृता, बोलो, मेरी ओर देखो...,' उन्होंने मेरी आंखों में ताककर कहा। 'तुम जो कहोगी मैं वही करूँगा।'

—'तुम जो कहोगी, मैं वही करूँगा...।' यह बात मानो नाच उठी, 'अपने सप्तसिन्धु दशदिगन्त को नचाते हो जिस झंकार से।' उस क्षण मेरे मन का भाव ठीक कैसा हो गया था, मुझ में उसका वर्णन करने की सामर्थ्य नहीं—किन्तु उसका रहस्य मेरे लिए बाद में खुला था, तब, जब मैं 'चंडालिका' देखने गयी थी। चंडालिनी कह रही थी, 'मेरा कूप

जो हुआ मकून समुद्र'—कुआँ कैसे भला तटहीन समुद्र हो सकता है, यह उन सैकड़ों दर्शकों को, जिन्होंने 'चंडालिका' को देखा है, पता है क्या ? वह जो एक सत्य है, यह उन्हें मालूम है क्या ? चुल्लू-भर पानी की तरह एक ही बात में जीवन की सीमा-रेखा में असीम उतर आ सकता है ।

उन्होंने फिर उस बात को दोहराया : 'बोलो, बोलो, तुम क्या चाहती हो ? तुम जो कहोगी मैं वही करूँगा ।'

मेरा तन-मन जुड़ाता जा रहा है : मैं चन्दन की सुवास अनुभव कर रही हूँ; *अब माँगने को रहा क्या ? मैं बोली : 'मुझे अपने पास रहने दीजिए ।'*

'भला इसमें कौन-सी मुश्किल है ? तो यहीं भर्ती हो जाओ न ! भोर में जब मैं बरामदे में बैठूँगा तब तुम गन्धराज के फूल लेकर आना और मेरे साथ बैठा करना । शाम को कविता पढ़ना । किन्तु मेरे लिखने के समय कोई गोलमाल मत करना ।' शान्ति से मेरा मन भर गया है । मैं सोच रही हूँ, यह तो स्वर्ग का वर्णन है, मेरे जीवन में ऐसा कभी संभव नहीं होगा, पिताजी मुझे हरगिज यहाँ भर्ती नहीं करेंगे ।

बाद में उस दिन मुझसे उन्होंने कहा : 'पर आज तो मैं तुम्हें नहीं *छोड़ सक रहा हूँ, तुम आज रात को भली-भाँति सोचकर देखो, और कल* मुझे बताओ कि मैं कुछ कर सकता हूँ कि नहीं । इन सब बातों का फैसला तो दो मिनटों में नहीं होता है । तुम्हारे पहुँचाने वाले को अगर जल्दी हो, तो उसे जाने दो...नेपाल बाबू कल तुम्हें पहुँचा देंगे ।'

उस दिन रात को निचले कमरे में अकेली सोयी, तो नींद ही नहीं आती थी । चारों ओर सन्नाटा था । जब तक नौकर-चाकर जगे थे तब तक ज़रा-ज़रा आवाज आ रही थी, शक्ति-पद या गणपति का गला सुनायी पड़ रहा था । फिर धीरे-धीरे सब शान्त हो गया । मैं सोच रही थी, *'आखिर उनसे क्या कहूँ ! वे क्या कुछ कर सकेंगे ? क्यों नहीं कुछ कर* सकेंगे ? वे तो एंड्रूयूज साहब से कह सकते हैं । इस लड़की को आप यूरोप पहुँचा दें, तो मुझ पर यह उपकार करने के समान होगा ।' तब तो एंड्रूयूज साहब निश्चय ही ऐसा करेंगे । वे चाहे साधु-सन्यासी ही क्यों

न हों, पर क्या मनुष्य का दुःख नहीं समझते ? किन्तु ऐसा क्या ये लोग कर सकते हैं ? खासकर पिताजी को बिना बतलाये ? ये और रामानन्द बाबू दोनों, यदि पिताजी को बुलाकर कहें, 'देखिये नरेन बाबू, ऐसा जो आप कर रहे हैं, यह ठीक नहीं है—' तो ? तो फिर पिताजी की रग-रग में ज्वाला बह उठेगी। वे कहेंगे, 'देखिये रवि बाबू, आपने जब बेटी का ब्याह किया था तब क्या मुझसे परामर्श किया था ? आप बहुत अच्छी कविता लिखते हैं, यह तो ठीक ही है, लेकिन मेरी गृहस्थी सिर्फ़ मेरी ही है।' तब ? तब कैसा लगेगा उन्हें ? मेरे कारण वे क्यों अपमानित होंगे ? इसके अलावा मैं जाऊँगी भी तो भला कहाँ ? किसके पास ? एक बरस गुज़र चुका है, उसने तो खबर तक नहीं दी—जो इस घर से निकलकर गया, तो फिर उसका कोई पता तक नहीं चला। मुन्ने को तो एक चिट्ठी दे सकता था ? सो भी नहीं दी। तो फिर ? तो क्या मैं प्रार्थी-रूप धारूंगी ? सब संस्कृत शब्द मुझे याद आ रहे हैं—स्वैरिणी, उपयाचिका ! धिक्कार से मेरा मन बोझिल होता जा रहा है। काफ़ी हो चुका है। यूरोप के मृगयापटु नागरिक, तुम्हारा वह विषाक्त शर मैं निकाल फेंकूंगी। तुम्हें भूलूंगी, भूलूंगी, भूलूंगी। मैं कल सवेरे उनसे कहूंगी, मेरे लिए कुछ भी करने की जरूरत नहीं है। मेरा मन शान्त हो गया है। मुझे कवि ने सिखा दिया था, जब मन उद्विग्न हो, तो कहना—'आनन्दम् परमानन्दम् परम सुखम् परमा तृप्ति'—मैं बार-बार वही दुहराने लगी। चन्दन की सुगन्ध से फिर वह अँधेरी रात भर गयी। मेरे कलेजे का जो जख्म इस एक बरस में जरा सूखा तक नहीं था, उस पर चन्दन का प्रलेप चढ़ गया। खुली खिड़की से बाहर का आकाश नजर आ रहा था—मैं सोच रही थी, कमाल है, कितनी आसानी से मैं सब-कुछ भूल गयी ! एक दिन अर्द्धचैतन्य में प्रतिज्ञा की थी कि नहीं भूलूंगी, मगर आज सजग अवस्था में दृढ़-प्रतिज्ञ होकर तय किया—भूलूंगी, ज़रूर भूलूंगी। आकाश में चमकीला तारा टकटकी लगाये हुए था—उस तारे की आँखें थीं—वह हँस रहा था, हँस रहा था—मेरे उस विचलित, अव्यवस्थित मन पर कृपा की दृष्टि डालकर हँस रहा था...।

भवानीपुर वाले मकान को छोड़कर हम लोग 1931 ई० में ही दूसरे मकान में आये हैं। इस समय से ही मेरी माँ का सुन्दर और सजा-धजा घर-संसार टूटने लगा है। पुराने सब लोग चले जा चुके हैं—अब एक नयी लड़की आयी है जो धीरे-धीरे इस घर-संसार के स्नेह और प्यार के सारे बन्धनों को खोल डालने में समर्थ हो रही है। उस लड़की का नाम है रमा। वह बहुत रूपवती नहीं है, गोल-मटोल-सी है, आँखें बाहर निकली हुई-सी हैं, नाक तनिक गोल है और चेहरे की तुलना में छोटी है। वह बहुत नाटे कद की है, लेकिन उसके गले का स्वर मीठा है। वह बहुत धीरे-से बोलती है—नम्र है और भद्र भी। वह शान्त स्वभाव की है, हमारी तरह शोर-शराबा करने वाली नहीं है। मैं उसे बहुत प्यार करती हूँ। उसकी बात-चीत बड़ी प्यारी होती है, वह विदुषी है। वह विदुषी तो है ही—अर्थात् परीक्षाओं में उसे अच्छे नम्बर मिले हैं। कविता किन्तु उसने बिलकुल नहीं पढ़ी है। उसमें कला के प्रति क़तई रुचि नहीं है। न तो एक पंक्ति लिख सकती है और न सुन्दर ढंग से बात कर सकती है, लेकिन उसमें धैर्य है—वह एक विषय को लेकर पड़ी रह सकती है, जिसे 'परसिवीयरेंस' कहते हैं वह उसमें है। इसे उसने अपनी डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त करने के सिलसिले में साबित कर दिखाया है—डॉक्टरेट प्राप्त करने में उसे दस साल लगे हैं। यह काम मुझसे नहीं होता। मुझमें धैर्य नहीं है। वह हमारे परिवार का एक अंग बन चुकी है। हम लोगों ने उसे बिलकुल अपना लिया है। माँ जिस तरह हमारी सेवा कर रही हैं हर समय, उसी तरह उसकी भी कर रही हैं। वह पिताजी की खूब मदद किया करती है। हर समय उनके साथ रहती है, यहाँ तक कि जब वे काम पर जाते हैं तब भी। उसका यह आग्रह मुझे बुरा नहीं लगता है। परन्तु घर-संसार में माँ का आसन क्रमशः डोलता जा रहा है, इसी से मैं उद्वेलित हूँ। माँ को पिताजी हर समय खरी-खोटी सुनाने लगे हैं। माँ की ग़लतियाँ मानो बढ़ती ही चली जा रही हैं। पहले माँ घर की सर्वेसर्वा थी, मगर अब जैसे दिन गुजरते जा रहे हैं, हर दिन ही जैसे माँ ज़रा-ज़रा करके अपने स्थान से हटती जा रही हैं। कातर होकर माँ पिताजी की खूब खुशामद किया करती हैं। इससे मुझे अनवरत लज्जा अनुभव

विरोध।

होती है।

अगर दुनिया में एक आदमी भी ऐसा है जो जानता है कि प्यार के लिए किसी नाते-रिश्ते की जरूरत नहीं होती है, तो वह मैं हूँ। किन्तु मैं यह जानती हूँ कि प्यार प्रकाश की भाँति है—वह हर किसी को प्रकाशित करता है! वह तो कोई पदार्थ नहीं है कि एक से छीनकर ही दूसरे को दिया जा सकता है। मैं यह भी जानती हूँ कि किसी को प्यार करने से उसके सम्पर्क की हर चीज, चाहे वह कहीं भी रहे, प्यारी हो उठती है—यहाँ तक कि उसका नौकर भी अपना-सा लगने लगता है। पर यहाँ मैं क्या देख रही हूँ? देख रही हूँ कि यहाँ केवल परिवार में अपना अधिकार बढ़ाने और माँ को नीचा दिखाने की कोशिश हो रही है। और मुझे जो सबसे अधिक असह्य हो उठा है वह है उन दोनों का झूठ का सहारा लेना। आख़िर सच्चाई को स्वीकार करने की हिम्मत क्यों नहीं है उनमें? चाहे जितनी तकलीफ़ हो, मैं सच्चाई की आँखों में आँखें डालकर खड़ी हो सकती हूँ, लेकिन माँ की तरह आँखें मूँदकर नहीं रह सकती। अतः, हर दिन मेरे लिए असह्य हो उठा है। दूसरी ओर, हम लोगों के प्रति भी पिताजी का आकर्षण कम होता जा रहा है। सुनने में तो यह भी आ रहा है कि चूँकि मुझे छोड़कर वे नहीं रह सकते, इसलिए मुझे विदेश में ब्याहने को वे राजी नहीं हुए। किन्तु अब मेरी पढ़ाई-लिखाई के प्रति भी उनका आकर्षण कम हो गया है। मेरे प्रति भी। मैं कॉलेज में भर्ती हुई हूँ। हमारे घर-संसार के भीतर जो एक भिन्न स्रोत बहने लगा है, इसे बाहर से कोई भाँप नहीं सकता। माँ सब-कुछ छिपाकर रख रही हैं, किन्तु वे अपनी सुरक्षा की भावना तक खो चुकी हैं। माँ को लग रहा है, बहुत जल्दी मेरा ब्याह रचा देना जरूरी हो गया है, मेरी भी यही राय है। इस परिवार में अब अधिक देर रहने की मेरी इच्छा नहीं है—मैं यहाँ से भाग जाना चाहती हूँ। मैं स्वयं ही समझ पा रही हूँ कि झूठ से समझौता करना पड़ रहा है, इसलिए क्रोध और दुःख से मेरा कलेजा भभकता रहता है। अच्छी तरह से मेरी समझ में आ रहा है कि सब-कुछ जानते हुए भी मैं अनजान बनने का स्वांग रच रही हूँ—इसलिए मेरा कलेजा भभक रहा है।

मास पर मास गुजरते जा रहे हैं। और माँ के लिए प्रतिदिन ही कुछ-न-कुछ अपमानजनक व अप्रीतिकर घटता है। बाहर के लोगों ने भी अब कीचड़ उछालना शुरू कर दिया है। अखबारों में भी हमारे घर के बारे में खबरें छप रही हैं! पिताजी की निन्दा माँ को सुननी-पढ़नी पड़ती है, सहन करनी पड़ती है। मेरी समझ में आ रहा है कि रमा के प्यार में स्वार्थ की पुट बहुत ज्यादा है। कहीं श्रद्धा व प्यार के पात्र को कोई निन्दित और अपमानित कर सकता है? उसके परिवार में अव्यवस्था, अशान्ति ला सकता है? हमारे देश में निन्दा तो एक 'प्रतिष्ठान' है, और इस प्रतिष्ठान का काम बहुत बढ़ गया है—माँ चाहे जितना पर्दा डालने की कोशिश करें—'यह भी एक मेरी लड़की है'—कहकर चाहे जितना परिचय दें, पर लोगों की जबान को लगाम नहीं लगायी जा सकती। जो हो, यह कहानी माँ की जीवनी नहीं है, अतएव इस बात के अधिक विवरण की उतनी जरूरत नहीं है। सिर्फ इतना-सा मेरी समझ में आया है कि इस प्यार के ही दो रूप अगल-बगल बदन-से-बदन सटाये निवास करते हैं—एक प्यार मनुष्य को ऊपर उठा सकता है, जहाँ से स्वार्थ, क्षुद्रता कहीं दूर, परे रह जाती है; जो चारों ओर प्रकाश भर देता है, जिस प्रकाश के पड़ने से सामान्य चीज असामान्य हो उठती है, प्रिय प्रियतर बनता है—यहाँ तक कि अप्रिय भी प्रिय बन जाता है, और किसी को हटाने-अलग करने की जरूरत नहीं पड़ती। और दूसरा प्यार—वह भी तो वह एक समान ही नाम धरकर आता है—किन्तु वह गले में फन्दा डालकर खींचता है, जंजीरों में जकड़ देता है, कहता है, कहाँ हैं प्रोविडेंट फण्ड के रुपये, निकालो। इन्स्योरेंस मेरे नाम लिख दो। मकान भी मिल जाता, तो अच्छा होता। किताबों का कॉपीराइट मेरे नाम लिख दो, तुम्हारा नाम-यश हो भला बाद क्यों पड़े? कम-से-कम मैं तो उसे भी लूँगा!

मनुष्य जैसे सर्कस के कलाबाज की तरह रस्सी पर से होकर चला जा रहा हो—चलना आता हो, तो दूसरी ओर ठीक जगह पर पहुँच जायेगा, वरना मुँह के बल गिर जायेगा!

माँ की तो आँखों की नींद हराम हो गयी है, मेरी भी। सोचती हूँ,

कैसे इस घर को छोड़कर चली जाऊँ। फिर सोचती हूँ, आखिर माँ को किसके पास रख जाऊँ ? आजकल पिताजी मुझे भी बहुत डाँटा करते हैं, कारण—मेरी आँखों में वे निश्चय ही नीरव भर्त्सना देख पाते हैं। जब मैं बी० ए० में पढ़ती थी, तब एक बार सहेलियों के साथ चिड़ियाघर गयी थी। यह कोई ऐसी बुरी बात नहीं थी, फिर भी उसी कारण पिताजी ने मुझे इतना डाँटा था कि मैं तो धक्-सी रह गयी थी। फिर उस दिन को भी नहीं भूल सकती जिस दिन यतीन दास की शव-यात्रा जा रही थी—रसा रोड होकर। मैं अपनी कुछेक हमजोलियों के साथ बरामदे में खड़ी होकर देख रही थी—क्या उत्साह था, क्या उमंग थी ! सुभाष बोस चले जा रहे थे आगे-आगे। पीछे कितने ही लोग चले जा रहे थे नंगे पाँव। विविध ध्वनि उठ रही थी हवा को चीरती हुई, वह जय-जयकार हमारे कानों में पहुँचकर मन्त्र की भाँति हम लोगों को अभिभूत किये दे रही थी, हमारे तमाम मन को भींच रही थी और कह रही थी उतर जाने को, उस जुलूस में शामिल होने को। प्लेकार्डों पर तरह-तरह की उक्तियाँ लिखी हुई थीं—उनमें से एक पर ये पंक्तियाँ थीं—'सूर्योदय के समय सुनता हूँ यह किसका सन्देश ? कि डरो नहीं। निःशेष प्राण जो करेगा दान—होगा उसका क्षय नहीं क्षय नहीं।' कविता तो मेरे रक्त में समा जाती है, मुझे व्याकुल कर देती है। मैं बरामदे से आवृत्ति कर रही थी बाद की उन पंक्तियों की जो वहाँ नहीं लिखी हुई थीं—'हे रुद्र, तब मैं कैसे गाऊँगा संगीत, बता दो स्वामी, मरण-नृत्य से छन्द मिला-कर हृदय-डमरु बजाऊँगा—भीषण दुःख से डलिया भरकर तुम्हारा अर्घ्य सजाऊँगा...' कविता कहते-कहते मेरा मन जैसे मन्त्र-मुग्ध-सा हो गया था—उस पुष्पाच्छादित अर्थी की ओर निहारकर मैं तो जैसे परा-धरा-सी हो गयी थी। 'छुटकी, चल तो भई, हम लोग भी जुलूस में शामिल हो जायें।'

'चल,' उसने कहा, उसके बाद जरा सोचा, फिर बोली—'तेरे पिताजी लेकिन तुझे डाँटेंगे।'

'डाँटें। चल, चलें।'

हम लोग उस जन-समुद्र में उतर गयीं। ऐसी भीड़ मैंने इसके पहले

कभी नहीं देखी थी। जगन्नाथ की रथ-यात्रा में रस्सी पकड़ी थी, परन्तु वहाँ की भीड़ से भी यहाँ की भीड़ कुछ अधिक थी। अचानक एक घुड़-सवार गोरा सार्जेंट भीड़ में घोड़ा दौड़ाता हुआ आ घुसा। उस नृशंस आक्रमण से भीड़ में भगदड़ मच गयी। जनता कुचली जाने लगी। हम लोग भी कुछ आहत हुए। हमारे कपड़े-लत्ते फट गये थे; समूचा बदन धूल-धूसरित हो गया था। सोचा था, झूठ बोलूँगी—पर बोली नहीं। मन उस समय इतने ऊँचे तार से बँधा हुआ था कि लगा, यदि झूठ बोलूँगी तो यतीन दास के इस महान् बलिदान का अपमान करूँगी। आखिर सच ही बोली। उस दिन पिताजी ने मुझे इतना डाँटा था कि मेरा दिमाग भी फटने लगा था।

मैं कैसे स्वाधीन होऊँ, यह चिन्ता मुझे हरदम खाये जा रही है। माँ तो पहले भी स्वाधीन नहीं थीं। इच्छानुसार किसी को खुलेआम महज बीसेक रुपये भी नहीं दे सकती थीं—देती भी थीं तो छिपाकर ही। फिर भी तब पिताजी पर उनका काफी प्रभाव था, समझा-बुझाकर बहुत कुछ कर-करवा सकती थीं, मगर अब वैसा कोई प्रभाव शेष नहीं बच रहा था। पिताजी माँ को हर छोटी-मोटी बात पर हर दम डाँटते-फटकारते रहते हैं। मैं बीच-बीच में सोचा करती थी, जो अपनी स्वाधीनता को प्यार करते हैं वे दूसरों को पराधीन बनाकर किस युक्ति से रखते हैं? यही युक्तिहीनता तो संघातक रूप से व्यापक होती जा रही है—क्या परिवार में और क्या राष्ट्र में। 'रूल ब्रिटानिया, रूल द वेव्ज़, ब्रिटन्स विल नेवर नेवर बी स्लेव्ज़।'[1] हालांकि उसी बर्तानिया ने तो न केवल हम लोगों को, बल्कि और भी कितनी जातियों को पराधीन बनाकर रखा है। और फिर इसी पर वे गर्व करते हैं—'सन नेवर सेट्स इन द ब्रिटिश एम्पायर': मनुष्य तर्क-संगत युक्ति का प्रयोग प्राय कम ही किया करता है।

---

1. 'Rule Britannia, rule the waves; Britons will never, never be slaves.'

माँ मेरे लिए एक वर ढूंढ खोजने की जी-तोड़ कोशिश कर रही हैं। बाक़ायदा उन्होंने एक कापी बना डाली है, और उसमें योग्य वरों के नाम, गुणावली, उनके अभिभावकों का अता-पता सब-कुछ लिख रखा है। अच्छे वरों अर्थात् बड़ी सरकारी नौकरी करने वाले, विपद् सम्पत्ति वाले, साथ ही ऊँची उपाधि वाले वरों की तो कमी ही रहती है हर समय। तब तो और भी ज्यादा कमी थी। कहीं एक योग्य वर का अता-पता मिलता, तो तमाम अविवाहित कन्याओं की माँएँ उस पर जाल फेंक देतीं। उस समय निन्दा के प्रतिष्ठान की तोड़-फोड़ करने वाली एक और उप-शाखा सक्रिय हो उठती। माँ को यही डर बना हुआ है। एक तो मिर्चा के बारे में बहुत-से सगे-सम्बन्धी जान चुके हैं; दूसरे, पिताजी ने यह नया काण्ड शुरू किया है। इन बातों को सोच-विचारकर माँ डरी-डरी-सी रहती है—वरना इतनी चिन्ता क्यों होती—बेटी तो आखिर रूप, गुण, शिक्षा में ऐसी गयी-बीती नहीं है!

इस समय से मैं सोच रही हूँ, इस देश का जो सबसे बड़ा अन्याय—जाति-भेद है, उसके खिलाफ़ मैं कुछ करूँगी। पर कैसे और क्या करूँ? मेरी बात भला कौन सुनेगा मेरे अलावा? इसीलिए मैंने पिताजी से एक दिन कहा, "आप लोग तो मेरा ब्याह करायेंगे ही, सो दूसरी जात में क्यों नहीं करा देते? ऐसा हो, तो बहुत अच्छा हो?"

"दूसरी जात में?" पिताजी विस्मित हुए। "क्यों, अपनी जात ने क्या दोष किया है?"

"ऐसा हो, तो ब्याह भी हो और समाज एक पग आगे भी बढ़े।"

पिताजी का विस्मय उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है, "क्या! ब्याह भी हो और देश-समाज भी आगे बढ़े? परन्तु मैं ऐसे सुधारवादी विवाह का पक्षपाती नहीं हूँ।"

एक वर आया—डॉक्टर, बड़ी सरकारी नौकरी करने वाला, लेकिन धन-सम्पत्ति के नाम पर शायद ठेंगा है। धन-सम्पत्ति नहीं तो कोई बात नहीं, मगर असली ऐब है कि उसका रंग, जो घोर काला है। आख़िर हम लोग

भी तो रंग को लेकर कम नाक-भौंह सिकोडने वाले नहीं हैं। माँ बहुत कातर होकर कह रही हैं, "बड़ा ही काला है रे, क्या करूँ ?"

मुझे बड़ा मजा आ रहा है, सोचा, कहूँ—गोरा तो भला तुम लोगों को पसन्द ही नहीं आया। खैर, गड़े मुर्दे को न उखाड़ना ही अच्छा है। पर उस डॉक्टर के वृद्ध पिता हैं कि मुझे छोड़ने का नाम ही नहीं लेते हैं। लेकिन उस डॉक्टर को मैं पसन्द नहीं आयी। उनकी अपनी एक राय थी। वे बंगाली जाति की उन्नति के लिए चिंतित हैं। मैं दोष नहीं दे सकती! जिस तरह मैं जाति-भेद को दूर करके बंगाली-जाति की अपनी उन्नति के लिए सोचा करती हूँ, उसी तरह वे भी बंगाली जाति की दैहिक उन्नति की कोशिश कर रहे हैं। खुद उनकी लम्बाई पाँच फुट तीन या चार इंच होगी, इसीलिए वे कम-से-कम पाँच फुट आठ इंच लम्बी लड़की ढूँढ रहे हैं। और मैं तो ठहरी पाँच फुट दो या तीन इंच लम्बी। उनकी धारणा है कि लड़का यदि नाटा हो, तो उसके लिए लम्बी लड़की जरूरी है। नहीं तो, नाटे के साथ नाटी का ब्याह होने पर बंगाली जाति की भावी पीढ़ी और नाटी होती जायेगी। वे बड़े ऊँचे पद पर हैं, इसीलिए अपनी जाति-बिरादरी के घर में जितनी अविवाहित कन्याएँ हैं सबको मापते फिर रहे हैं। अन्त में एक घर में आकर उन्होंने देखा कि वधू की नानी बहुत लम्बी हैं, दुबला-पतला, लम्बी छड़ी-सा छरहरा बदन है उस वृद्धा का। उस पर वे रसिक भी कुछ कम नहीं हैं। उन्हें देखकर उस डॉक्टर को अच्छा लगा, कहा—"आप तो बहुत लम्बी हैं।"

उस वृद्धा ने अपना दुबला-पतला हाथ मटकाते हुए उत्तर दिया, "मेरे लम्बी होने से क्या होता है, आखिर मेरे साथ तो तुम्हारा ब्याह नहीं हो सकता है, बेटा!"

सुना है, उस वर का फिर कभी ब्याह ही नहीं हुआ, मन-मुताबिक लम्बी वधू ही नहीं मिली उन्हें। लेकिन उस वर के वृद्ध पिता ने मुझे बहुत स्नेह दिया था, उन्होंने अपनी मृत्यु-शैया से मेरे पिताजी को लिखा था, 'मेरा मूर्ख बेटा ऐसी लक्ष्मी को मेरे घर नहीं ले आया, किन्तु मैं आशीर्वाद देकर जा रहा हूँ कि मेरे बेटे से सौ-गुने अच्छे लड़के के साथ उसका ब्याह हो।' उस स्नेहपरायण वृद्ध को मैं अब एक बार फिर प्रणाम

करती हूँ।

आखिरकार एक वर मिला। मैं तो जी उठी। माँ ने तय किया था कि उस तोड़-फोड़ करने वाले प्रतिष्ठान में इस खबर के पहुँचने के पहले ही काम निपटा लेना अच्छा है। अतः ठीक पाँच दिन के भीतर ही व्याह की सारी व्यवस्था हुई। वर विद्वान व्यक्ति हैं। पिताजी कह रहे हैं, 'पाँच वरस में डॉक्टरेट की है, यह कोई मामूली वात नहीं है।"

माँ कह रही हैं, "और आपके छात्र-छात्राएँ तो रेंग रहे हैं, पता नहीं कितने दिनों में करेंगे ?"

पिताजी को वहुत गुस्सा आया, "साइंस और आर्ट्स क्या एक-से हैं ? साइंस में डॉक्टरेट वहुत जल्दी किया जा सकता है !"

मेरे पिताजी वर को निमंत्रित कर आये। लेकिन वे नहीं आये। वाद में मालूम हुआ कि उनके न आने का कारण उनका यह सुन रखना था कि वधू सुन्दरी है। उन्होंने सोचा था कि कहीं ऐसा न हो कि देखने आकर वे प्रेम में पड़ जायें। दूसरी ओर, उससे भी अधिक सम्भावना इस वात की थी कि उन्हें देखकर कहीं लड़की ही विमुख न हो जाये। कहीं ऐसा हो जाये, तो फिर ? अतः गड़वड़ी करने की जरूरत ही क्या है ! सो, भेंट-मुलाक़ात की कोशिश न करना ही अच्छा है। जीवन में शायद पहली और आखिरी वार उन्होंने इस चतुराई का सहारा लिया था।

व्याह का आयोजन आगे वढ़ता जा रहा है। सगे-सम्बन्धी कोई आ नहीं सकेंगे। आखिर इतनी जल्दी कौन आयेगा ? फिर, माँ भी तो स्वस्थ नहीं है। मन भारी होने पर जो वीमारी हुआ करती है, उसी की शुरुआत हो गयी है—माँ को गैस्ट्रिक अलसर की तरह का कुछ हो गया है। माँ उद्विग्न हैं—कुछ भी हो, आखिर उनकी वेटी तो पूर्वी वंगाल के किसी गाँव से नहीं आयी है ! इतनी पढ़ी-लिखी है, कविता रचती है, इतना कुछ करके नाम कमाने के वाद एकदम भेंट-मुलाक़ात किये विना

वह गाँवों में होने वाले ब्याह जैसा ब्याह कैसे करेगी ? माँ नाराजगी प्रकट कर रही हैं। अन्त में उन्होंने एक दिन कहा, "मैं जाती हूँ और उसे बुला लाती हूँ। तू एक बार उसे देखेगी नहीं ? आखिर बिना देखे तुम उससे ब्याह कैसे करोगी ?"

"कभी नहीं—कोई जरूरत नहीं है।"

"कोई जरूरत नहीं है ? तो तू देखना नहीं चाहती है ?"

"माँ, तुम्हें लाज नहीं आती यह बात मुझसे कहने में ? किसलिए देखूँ ? मान लो, मैं अगर देखकर कहूँ, मुझे पसन्द नहीं आया, मैं अमुक से ब्याह करूँगी। भले ही वह दूसरी जात का है, पर मुझे वही पसन्द है, तो तुम लोग क्या मेरी सुनोगे ? तब तो तुम लोग तर्क-कुतर्क बघारने लगोगे, तो फिर देखने से फ़ायदा ?

"वाह, भला नापसन्द हो क्यों होगा ! मर्द का चेहरा-मोहरा ही तो सब-कुछ नहीं होता। वैसे तो कितने ही सेमल के पेड़ पड़े हुए हैं ?"

"माँ, व्यर्थ की बातें मत करो। तुम सब एक-से हो—तुम लोगों में सच्चाई को स्वीकारने का साहस नहीं है। और तुम, तुम्हीं तो सबसे अधिक दोषी हो। तुम अपनी आँखें बन्द किये रहती हो।"

माँ ने रोना शुरू किया—"तुम लोगों की खातिर जितना करती हूँ, सब मिलकर तुम लोग मुझे उतनी ही खरी-खोटी सुनाते हो।"

बात बिलकुल सही है। माँ पर बाक़ायदा जुल्म ढाती हूँ मैं। बात-बात पर मुझे गुस्सा आ जाता है। मावी गयी वर के घर उसे देखने। लौटकर आयी तो मेरे गले से लिपटकर रोना शुरू किया है, "ओ दीदी, तुम वहाँ ब्याह मत करो, मत करो, वर मुझे जरा भी पसन्द नहीं आया।" मैं बहुत हँस रही हूँ। मन-ही-मन कह रही हूँ, मैं जिसे पसन्द करती हूँ, तुम तो उसे भगा देती हो। पर मुँह से कुछ नहीं कह रही हूँ। वह निश्चय ही उन सारी बातों को भूल चुकी है। आखिर है तो बच्ची ही। भूल जाना ही तो अच्छा है। क्यों ऐसी बुरी घटना घटी मेरे जीवन में ! जीवन भर तो रबड़ चलाकर उसे मिटाया नहीं जा सकता। जो चित्र एक बार आँका जा चुका है उसे अब मिटाने की मजाल नहीं है। साहित्य में तो ऐसा किया जा सकता है। देखती तो हूँ कि कवि काट-काटकर पंक्तियाँ

निकाल देते हैं, पन्ने पर पन्ना बरबाद हो जाता है—किन्तु जीवन के पन्ने पर जो कुछ लिखा जा चुका है उसे अब काटा-भुलाया नहीं जा सकता। यदि भुलाया जा सकता तो इसी क्षण मैं अपनी समस्त शक्ति से सौ बार उन्नीस सौ तीस के वर्ष को ही मिटा डालती! मेरे जीवन के धरातल से वह वर्ष सूखे पन्ने की तरह उड़कर चला जाय, जिस तरह मिर्चा के प्रति मेरा प्रेम ग़ायब हो गया है। उसका चेहरा भी अब मुझे याद नहीं आता है—याद आता भी है, तो न हर्ष होता है, न विषाद। चार वर्ष तो हो गये, और कितने दिन याद रहेगा!

आशीर्वाद के दिन से मैंने रोना शुरू किया है। अविराम रो रही हूँ, किसी भी तरह अपने-आप को रोक नहीं पा रही हूँ। मगर क्यों रो रही हूँ, खुद मुझे ही पता नहीं है। अगर कोई कहता, 'रहने दो, तो फिर व्याह करने की तुम्हें जरूरत नहीं है,' तो क्या मैं राजी होती? कभी नहीं। कितनी मुश्किल से इस घर से निकलने का दरवाजा मिला है। अब मैं स्वाधीन हो सकूँगी। और कुछ न हो, शान्ति-निकेतन तो इच्छानुसार जा सकूँगी। लेकिन फिर भी मैं रो रही हूँ—क्यों, कौन जाने! लोग सोच रहे हैं, मातृ-पितृ-भक्त कन्या ठहरी, उन्हें छोड़कर जाना होगा, इसीलिए रो रही है। पर बात ठीक इसकी उल्टी है। मुझे यह सब-कुछ अच्छा नहीं लग रहा है।

व्याह का दिन आया। तड़के से शहनाई बज रही थी। दधि-मंगल हो गया। मेरे ब्रह्म-समाजी ताऊजी बहुत अच्छा गाना गाया करते थे। सुन्दर, सुखद-सा अन्तर्जीवन था उनका। उनका मैं आदर करती थी। उन्होंने कुछेक गाने गाये। मैंने उनसे कहा, "ताऊजी, आज रात को आप मुझे एक गाना सुना जाइयेगा।"

व्याह हो गया।

उस समय कवि सीलोन में थे। पिताजी ने तार से आशीर्वाद माँगा था, तार से ही उत्तर आया है। व्याह की घड़ी से ही मेरी समझ में आया है कि मेरा जीवन बिखर गया—मैं इसे सहेजकर भली-भाँति अपने

गन्तव्य स्थल तक पहुँच सकूँगी क्या ? रात को 'वासर-घर' में कौड़ी का खेल खेला जा रहा है, तभी मैंने देखा—ताऊजी कमरे के सामने से होकर जा रहे हैं। मैंने कौड़ी का खेल खेलना छोड़ दिया और उठकर आयी—'आपसे एक गाना सुनना मेरे लिए बहुत जरूरी है, कौड़ी का खेल खेलना नहीं।' ताऊजी तो विश्वास ही नहीं कर सके कि मैं उठकर आ सकती हूँ। वे विस्मित भी हुए और उन्हें हर्ष भी हुआ। बरामदे में बैठ गये और गीत गाने लगे :

हमारा कौन है अपना, कौन पराया ?
कहाँ है बाहर और कहाँ है भीतर ?
हे कर्णधार, तुम्हारा मुख निहार
मन के सुख से सह लूँगा सारा भार
हमारी यात्रा शुरू हुई, हे कर्णधार
तुम्हें करते हैं हम नमस्कार...!

फिर उन्होंने आशीर्वाद दिया और कहा, "जाओ बेटी, अपने कमरे में जाओ, निर्विघ्न हो तुम्हारी जीवन-यात्रा !"

मेरे पति को शुभेच्छा जताकर और मुझे आशीर्वाद देकर मेरे माँ-बाप चले गये और 'वासर-घर' का दरवाजा बन्द कर दिया। मेरे पति की उम्र चौंतीस साल की है, वे मुझसे चौदह साल बड़े हैं। हम दोनों एक-दूसरे को देख रहे हैं। ये देखने में अच्छे नहीं हैं; स्पष्ट ही और भी बहुत-सी कमियाँ हैं इनमें, परन्तु मेरे मन की आवाज है कि ये बहुत ही अच्छे आदमी हैं। न तो मुझे डर लग रहा है और न विरक्ति हो रही है। मैंने हरी धारीदार सूती साड़ी पहन रखी है, मेरे कपाल में तो दुलहिन की तरह चन्दन लेपा हुआ है, लेकिन माँग में सिंदूर नहीं है—क्योंकि कुश-कंडिका नहीं हुई है। कुशकंडिका न होने पर विवाह सम्पूर्ण नहीं होता है। ऐसी स्थिति में हिन्दू-समाज के सामान्य नियम के अनुसार दूल्हा-दुलहिन एक कमरे में नहीं रहते हैं, बल्कि कमरे में कुछेक बालक-बालिकाएँ, पहरेदार की तरह बने रहते हैं। किन्तु हम लोग ऐसे कु-संस्कार को नहीं मानते; हम लोग तो ठहरे आधुनिक विचार वाले !

मैं सोच रही हूँ, जिससे बिलकुल जान-पहचान नहीं है, जिसे यही

हली बार देखा, उसके साथ एक बिस्तर पर भला कै
कोई डर नहीं लग रहा है, सिर्फ़ परेशानी-सी हो रही है। मैं बोली, 'मैं फ़र्श पर, क़ालीन पर सोऊँगी।'

वे बोले, 'ऐसा नहीं हो सकता। तब तो मैं ही वहाँ सोऊँगा।'

भला ऐसा कैसे हो सकता है? कुछ भी हो, आखिर यह तो मेरा घर है, और ये हैं अतिथि। कुछ देर विचार करने के बाद मैं बोली, 'अच्छा, तो ठीक है, मैं यहीं सोऊँगी।' पहले ही दिन बे-अदब होना अच्छा नहीं है। मगर कुछ बोल नहीं पायी, बोलने को कुछ सोच-कर भी नहीं मिला। ये भी कुछ नहीं बोले। इन्हें तो बोलने को किसी दिन ढूंढने-कुरेदने पर भी कुछ नहीं मिला है, उस दिन भी नहीं मिला। मगर मैंने इसे लक्ष्य नहीं किया। एक चादर ओढ़ ली और उनकी ओर पीठ किये सोते-सोते बोली, 'मैं सुबह पाँच बजे उठना चाहती हूँ, तब ताऊजी आयेंगे। आप अगर मुझसे पहले उठें, तो मुझे ज़रा जगा देंगे?'

बत्ती बुझाकर हम लोग लेट गये हैं, उसके बाद एक कांड हुआ। जिस मिर्चा को मैंने, गत चार वर्षों से नहीं देखा है उसे देखा। एक महादेश और हिन्द महासागर को पार करके वह हठात् इस बन्द दरवाज़े के अन्दर से होकर आ घुसा। जब वह हमारे घर में था तब भूचाल के दिन के सिवा और किसी दिन मैंने उसे इतनी रात को न देखा था, न उसके साथ एक शैया पर बैठी थी, मगर आज? आज तो वह मेरी बासर-शैया पर आ बैठा। मैं तो अचम्भे में पड़ गयी—

'मिर्चा, इतने दिन मैं तुम्हारी बात भूल गयी थी...।'

'अच्छा!'

'हाँ, लेकिन आज सवेरे से सोच रही हूँ।'

'क्या सोच रही हो?'

'सोच रही हूँ कि तुम आखिर आ क्यों नहीं रहे हो? तुमने हिमालय में तपस्या-वपस्या की है, इसीलिए मैंने सोचा था कि ऐसा तो हो सकता है कि तुम कोई शक्ति प्राप्त कर सके हो। तुम यहाँ आओगे और पिताजी को समझा सकोगे, पर तुम कहाँ आये?'

'लो, अब तो आ गया हूँ।'

'मगर अब तो बहुत देरी हो चुकी है...।'

'कैसी देरी ? समय का भी भला कहीं ओर-छोर होता है ? यह देरी और जल्दी भला किस चिड़िया का नाम है ?' यह कहकर उसने मेरे हृत्पिंड पर अपना मुख रखा—और वहाँ की रक्तवाही शिरा-उपशिराओं को अपने चुम्बन से बिलकुल रौंद दिया। फिर उन मसली-कुचली शिरा-उपशिराओं से बूँद-बूँद करके रक्त चूने लगा। रक्त की वह धारा खाट और बरामदे से होकर बहती हुई नीचे प्रतापादित्य रोड पर जा गिरी और फिर वहाँ से गंगा की खोज में चल पड़ी। 'पतितपावनी गंगे, तुम इस पावन रक्त-धारा को समुद्र तक पहुँचा दो, मेरे शरीर से तमाम रक्त निकल जाये, फिर नया रक्त हो, नया जीवन हो, और मैं कल सवेरे नये जीवन में जाग उठूँ।'

जब नींद टूटी, तो देखा मेरे पति ही मुझे जगा दे रहे हैं—वे बोले, 'तुमने कहा था, पाँच बजे उठोगी—सो अभी पाँच बजा है।'

मैं अवाक् होकर देख रही हूँ। मैंने सोचा, यह व्यक्ति जागता रहा। मैंने पूछा, 'तो आप क्या सारी रात सोये नहीं ?'

वे मन्द-मन्द हँसे, 'हाँ, तुमने कहा था, पाँच बजे उठा देने को, कहीं सो न जाऊँ इसीलिए जगा रहा।'

यह हैं मेरे पति। उसके बाद हम लोग बहुत दिन तक एक साथ रहे, वे हमेशा मेरे प्रति इसी तरह अनलस हैं।

सवेरे पिताजी ने मुझे एक चिट्ठी दी। यह चिट्ठी मेरे पति ने मुझे लिखी है, किन्तु अतिरिक्त भद्रता हेतु सीधे मुझे न भेजकर मेरे पिताजी के नाम वाले लिफ़ाफ़े के अन्दर, मेरे नाम के लिफ़ाफ़े को डालकर, भेजी है। चिट्ठी अंग्रेजी में लिखी हुई है। हू-ब-हू उसे यहाँ लिख दे रही हूँ। यह चिट्ठी दो दिन पहले आयी थी, पर मुझे आज मिली। चूँकि हमारी भेंट-मुलाक़ात नहीं हुई थी, इसलिए पत्र-लेखक का उद्देश्य चिट्ठी की मार्फ़त अपने व्यक्तित्व

ा कुछ परिचय देना था।

यह रही चिट्ठी :

महोदया,

यह जानकर कि आप एक जीवन-संगी की तलाश में हैं, इस रिक्त-स्थान की पूर्ति के लिए मैं प्रार्थी के रूप में अपने को प्रस्तुत करता हूँ। अपनी योग्यताओं के बारे में मैं यही कह सकता हूँ कि न तो मैं विवाहित हूँ और न ही विधुर; वास्तव में 'खरा' माल हूँ—कुंआरा, और इससे भी अधिक कहूँ तो मैं प्रौढ़ कुंआरा हूँ—क्योंकि मेरी आयु की इतनी लम्बी अवधि इसी अवस्था में बीती है।

आपको अपने बारे में पूरी जानकारी देने के लिए मुझे अपने कई अन्य गुणों की तरफ़ इशारा करना चाहिए। मुझे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि रिक्त पद की जो आवश्यकताएँ हैं, मैं उनसे नितान्त अपरिचित हूँ। और इस दिशा में मुझे किसी प्रकार का पूर्व-अनुभव नहीं है—किसी से भी ऐसी साझेदारी में सम्मिलित होने का मुझे कभी अवसर ही नहीं मिला। इस प्रकार की अनुभवहीनता के कारण, मुझे भय है कि मैं रिक्तपद के लिए अयोग्य माना जाऊं और इसे मेरे विरुद्ध एक दलील के रूप में लिया जाय। लेकिन यहाँ मैं यह कहना अपना कर्तव्य समझता हूँ कि इस प्रकार की अनुभवहीनता कि जो कार्य के किसी भी अन्य क्षेत्र में अयोग्यता मानी जा सकती है, इस विशेष क्षेत्र में ही वह हर रूप से वांछनीय समझी जाती है। इससे अधिक मेरे विपक्ष की यह दलील जोरदार सिद्ध हो सकती है कि मैं अधिक आयु का कुंआरा व्यक्ति हूँ—ऐसा कि जिसकी कुंवारेपन की आदतों की जड़ें मजबूत हो चुकी हैं। इससे पहले कि नयी परिस्थियों में अपने को उनके अनुकूल ढालने की मेरी सामर्थ्य पर किसी प्रकार की आशंक बना ली जाय, मैं आपका ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहता ; कि मैं सर प्रफुल्लचन्द राय के व्यक्तित्व के समान महा-निराशाजन नमूना नहीं हूँ !

मेरी अन्य विशिष्टताओं के विषय में मेरी विनती है कि आ अपनी माताजी से बातचीत कर लें जिन्होंने कि कल मेरा पर्यवेक्ष

किसी ऐसे गम्भीर अन्वेषक और अनुसंधानकर्त्ता की तरह किया जो कि मानो ईजिप्ट में किसी नयी-नयी खोजी गयी कब्र और mummy की जाँच-पड़ताल कर रहा हो !

अन्त में मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि आपको हर रूप से सन्तुष्ट रखने का मेरा सतत प्रयास रहेगा।[1]

17 जून 1934

मैं हूँ, महोदया
आपका आज्ञाकारी सेवक

---

1. Mademoiselle,

Understanding that you are going to choose a partner in life, I beg to offer myself as a candidate for the vacancy. As regards my qualifications I am neither married nor am I a widower; I am in fact the genuine article—a bachelor; what is more I am a real ripe bachelor, being one of long standing.

I should in fairness refer also to my qualifications. I frankly confess that I am quite new to the job and I cannot boast of my previous experience in this line—never having had occasion before to enter into such partnership with anyone This my want of experience is likely, I am afraid, to be regarded as a handicap and disqualification. May I point out, however, that though want of experience is likely, I am afraid, to be regarded as a handicap and a disqualification in other avenues of life, this particular line is the only one where it is desirable in every way. A more likely handicap is the fact that I am an old bachelor with confirmed bachelor habits. Lest fears be entertained about my ability to adapt myself to the new conditions, may I draw your attention to the fact that I am not such a hopeless case as Sir P. C. Ray.

इस चिट्ठी को पढ़कर मैं तो धक्-सी रह गयी हूँ—लगा, जैसे दुःख की वदली में कहीं से धूप की धारा उतर आयी हो। हास्य जैसी भी कोई और चीज है क्या ? मैंने हँसते-हँसते माँ को चिट्ठी दी, 'यह चिट्ठी तुम लोगों ने पढ़ी है ?'

'हाँ, तेरे पिताजी ने जरा-जरा...।'

'तो कल मुझे क्यों नहीं दी ?'

'हम लोगों ने सोचा क्या पता, किसने क्या लिखा...।'

'क्या वोलीं, क्या पता, किसने क्या लिखा ? नीचे तो नाम दिया ही हुआ है।'

मैं सोच रही हूं, कल यह चिट्ठी मिलती, तो दो-एक वातें करने का विषय तो मिल जाता, कम-से-कम इतना तो कह पाती, 'आप तो खूब हँसा सकते हैं !'—पर ऐसा नहीं हो सका। क्या करते हैं ये लोग !

इस घर से मैं ससुराल जाऊँगी, इसके वाद चली जाऊँगी दूर हिमालय की तलहटी में वसे किसी एक ऐसे निर्जन स्थान में जिसका नाम भी किसी ने नहीं सुना है। दीवार पर जो एक वड़ा-सा नक्शा टँगा हुआ है, वहाँ मैंने खोजकर देखा है—उस दुर्गम प्रदेश का नाम कहीं नहीं है। घर छोड़कर जाते समय पिताजी वच्चों की तरह रोने लगे। मैं तो अविराम रो ही

For further particulars I beg you to approach your mother who studied me the other day with an amount of curiosity and interest that would have done credit even to an eminent Egyptologist examining a rare mummy.

In fine permit me to assure you that it will be my constant endeavour to give you every satisfaction.

I have the honour to be
Mademoiselle
Your most obedient servant.

17th June 1934

रही थी। पिताजी पर जो मेरा क्रोध था, लुप्त हो गया है; मैंने ही उन्हें गलत समझा था। जो कुछ उन्होने किया है मेरे भले के लिए ही किया है। रमा के लिए भी मेरा मन कैसा-कैसा कर रहा है, मेरे ब्याह में वह कुछ कम नही खटी है।

मेरे ब्याह के तीन-चार दिन बाद कवि सीलोन से लौटे। उनसे हम लोग मिलने जायेंगे, लेकिन मैं पिताजी के साथ जाने को राजी नही हूँ। साहस करके कहा, 'आप लोग पहले जाइये, मैं बाद में अकेली जाऊँगी।'

पिताजी ने बहुत गम्भीर भाव से कहा, 'अच्छी बात है, मैं अपने दामाद को लेकर सवेरे जाऊँगा, तुम दोपहर मे जाना।'

दोपहर में मैंने गाडी मे अकेली जाने को सोचा था, मगर रमा मेरे साथ हो ली। वह क्यों आयी, पता नही; उससे बात करने को भी मेरा जी नही चाह रहा है। मेरा कलेजा एक अननुभूत आवेग से काँप रहा है। किस कारण मैं इतनी अस्थिर व उद्भ्रान्त हूँ, इसका मुझे ज्ञान नही है। घुमावदार सीढियाँ चढकर मैं जल्दी-जल्दी ऊपर जा रही हूँ। मैंने बनारसी साड़ी पहन रखी है, उसका आँचल बार-बार गिरा जा रहा है, और रमा उसे बार-बार उठा दे रही है। मेरे हाथों, गले और कानों मे गहने हैं, माथे पर माँग का टीका है और पैरों में पायल, और नये सिन्दूर से मेरा वधू-वेश पूरा हो उठा है। वे प्रतीक्षा कर रहे थे—मुझे देखा, तो अपने दोनों हाथ बढ़ा दिये : 'आओ, अमृता—!'

मैं उनकी गोद मे गिरकर रोने लगी। मैं सुन पायी, वे कह रहे थे : 'रमा, तुम बगल वाले कमरे में जाकर जरा बैठो, मैं उससे कुछ बातें करूँगा।'

रमा चली गयी। उन्होने मुझे जरा समय दिया, उसके बाद बोले, 'उठकर बैठो।'

मैं उठ बैठी। वे कहने लगे : 'मैं उपदेश देना पसन्द नही करता। बड़ी-बडी बातों को पत्थरो से दबाकर मैं आर्तमन को और क्लान्त नही कर देना चाहता। फिर भी आज मुझे तुमसे कुछेक बातें कहनी ही पड़ेंगी।' वे कुछ देर चुप रहे, फिर बोले, 'तुम्हारे पिताजी आज सवेरे तुम्हारे पति को लेकर आये थे। उनसे भला मैं क्या कहता? केवल पडित लोग ही

ऐसी निष्ठुरता कर सकत हैं। किन्तु तुम्हारे ऊपर किसी ने निष्ठुरता की है, इसलिए तुम भी अपने ऊपर निष्ठुरता करो, यह कोई वात नहीं हुई। और कोई हमारे हाथ में नहीं है अमृता, हम लोग केवल स्वयं अपने हाथ में हैं। मुझे नहीं पता कि जिनके साथ तुम्हारा व्याह हुआ है वे कैसे हैं, उनका रहन-सहन, तौर-तरीक़ा—तुम्हारे अनुकूल है कि नहीं। किन्तु चाहे जैसी भी अवस्था या भाग्य का सामना हो, तुम उससे हारोगी नहीं। मैं आशा करता हूँ, तुम अपने इर्द-गिर्द के हर आदमी को सुखी करोगी; सवसे वड़ी वात है कि तुम स्वयं सुखी होओगी। यदि तुम सुखी नहीं हुई अमृता, यदि तुम हिम्मत हार वैठीं, और प्रतिकूल परिस्थिति के हाथों पराजित हुई तो मैं उसे अपनी ही पराजय मानूंगा। किन्तु मैं जानता हूँ, ऐसा नहीं होगा। तुम निश्चय ही अपनी परिस्थिति पर विजय पा सकोगी। यदि तुम एक सुन्दर-सा नीड़ तैयार कर सको, जहाँ तुम्हारे आनन्द-भरे घर-संसार में सभी आनन्दित हो रहें, तो मैं वचन देता हूँ, मैं तुम्हारे उस घर में जाऊँगा।'

फिर परम स्नेहपूर्वक उन्होने मेरे माथे पर हाथ फेरा, मैंने झुककर उनके पैरों पर अपना माथा रखा—और नरम, चिकने-से तलवे को चूमा। फिर वोली—'ऐसा ही होगा, ऐसा ही होगा, ऐसा ही होगा।'

घर लौटकर रमा ने छिपाकर सब-कुछ पिताजी को वता दिया। क्या कहा, पता नहीं। चोरी से सुने विना उसे कुछ भी मालूम होने की गुंजाइश नहीं थी। और चोरी से सुना भी हो, तो न तो ऐसी कोई वात हुई जो निन्द्य हो, न मैंने कोई शिकायत की थी। रही वात आँसुओं की—अगर उन्हें शिकायत माना जाये तव तो लाचारी है। लेकिन उस दिन पिताजी ने मुझे ऐसी डाँट पिलायी कि छठी का दूध याद आ गया, वैसी भयानव डाँट मैंने पहले और कभी नहीं खायी थी। उनकी उस डाँट-फटकार क सिलसिला रुकने का नाम ही नहीं ले रहा था। हम लोगों का वह ज़मान कुछ अजीव-सा था, वड़े-वूढ़े सोचते थे कि धमकी से ही वे रोना रोक सक हैं, हँसा सकते हैं और प्यार करा सकते हैं। जो हो, मैंने उस दिन सो

था, यह जो मैं चली जा रही हूँ, तो फिर किसी दिन नहीं आऊँगी, लेकिन वह एक झूठे अभिमान की बात थी। क्योंकि बाद में अपने निर्जन गिरि-वास से मैं हर दूसरे महीने एक बार, सामर्थ्य के बाहर खर्च करके, आती थी—पिताजी को ही देखने के खयाल से।

धमकी का असर कहाँ तक होता है, इस पर इस युग के लोग विश्वास नहीं करेंगे। कुछ दिनों तक माँ खबर लिया करती थी कि हम पति-पत्नी का हेल-मेल कहाँ तक बढ़ा है, जब पता चलता कि खास कुछ आगे नहीं बढ़ रहा है, तो वे बहुत गुस्सा करती।

किन्तु घबराने का कोई कारण नहीं था, हेल-मेल हम लोगों में हो गया।

मैं जब उस निर्जन गिरि-वास में आयी तब वर्षा-काल था—घने आदिम अरण्य को पार करके जब मैं घर आ पहुँची, तो वह बाग-बगीचों से घिरा हुआ मकान जैसे मेरी ओर निहारकर हँस उठा। शान्त निर्जन वन-भूमि, दूर पर नीलाभ दिगन्त में बर्फ की सफेद रेखाएँ देखते ही बनती थी। सुसज्जित घर, सफेदपोश नौकर-चाकर! मुझे 'बेचलर' के अस्त-व्यस्त घर में नहीं आना पड़ा है। हम लोग यद्यपि इन लोगों से (अपने पति के परिवार वालों से) अधिक सम्पन्न हैं, तो भी सच तो यह है कि इतने आराम से मैं पहले कभी नहीं रही। किन्तु हमारे सगे-सम्बन्धी निन्दा करते ही रहे—उन्होंने कहा, यह अनमेल विवाह हुआ है, जोड़ी ठीक बैठी ही नहीं, आदि, आदि—विशेषत. मेरी समवयस्काएँ तो मेरे दुःख से पिघलने लगी—हाय, बेचारी के भाग में यही बदा था! मुझे बहुत गुस्सा आता। गोपाल से तो इसी बात को लेकर मैं झगड़ पड़ी और सदा-सदा के लिए नाता तोड़ लिया। मेरी एक सहेली ने कहा, 'पति-निन्दा सुन सती हुई थी सती...;' दूसरी ने कहा, 'जब तुझे पसन्द आया है, तो [illegible] हम लोगों को कहने को क्या है, बलि जाऊँ तेरी पसन्द पर...।'

मैं जब उन लोगों से तर्क करती, तो न तो लोगों को दिखाने [illegible] खातिर और न अपना मान बचाने की खातिर। मैं तो इस घर के [illegible] देखकर आश्चर्य में पड़ गयी थी। वे हुक्म नहीं चलाते थे। [illegible] पर छोड़ दिया है। इस घर की स्त्रियाँ पूरी स्वाधीन हैं। [illegible]

में देखती हूँ कि पुरुषों के लिए अच्छी-अच्छी चीज़ रख दी जाती हैं; यहाँ तो वैसा हो ही नहीं सकता—ऐसा हुआ तो पुरुष ही सब तहलका मचा देंगे। बल्कि पत्नी पकाने बैठती है, तो पति पंखा डुलाने की कोशिश करता है! सच तो यह है, एक घर में इतने सारे कर्तव्य-परायण, उदार व अच्छे लोग पहले मुझे नजर नहीं आये।

यहाँ मैं अपनी जीवन-यात्रा का पूरा चित्र आँकने नहीं बैठी हूँ। फिर यह तो मेरी जीवनी भी नहीं है; यह तो मेरे जीवन का एक अंश मात्र है और वहाँ नायक है मिर्चा, लेकिन इस कहानी को भी पूरा करने के लिए मुझे अपने पति के बारे में कुछ बताना होगा, क्योंकि उन्हें अलग रखकर तो मैं कुछ नहीं हूँ। अड़तीस वर्षों से हम लोगों ने एक साथ जिस गृहस्थी की रचना की है उसमें कोई खामी नहीं थी, कहने के लिए भी कभी हम लोगों में आपस में विरोध नहीं हुआ है। हर फ़र्नीचर के बनवाने से लेकर सन्तान के पालन-पोषण तक के काम को हम लोगों ने एक साथ, एक मत होकर किया है और यह सब काम मोटे-तौर पर सुसम्पन्नता से हुआ है। हमारी सन्तानें विराट प्रतिभावान तो नहीं हुईं, तो भी मनुष्य के रूप में वे श्रेष्ठ मनुष्य की कोटि में पहुँच सकी हैं। जिस शून्यता को लेकर मैंने जीवन शुरू किया था, मेरी गृहस्थी में उसने कोई खलल नहीं डाला। विवाह के पूर्व, स्वाधीनता प्राप्त करने की जो मेरी प्रमुख अकांक्षा थी, वह पूरी हो चुकी है और स्वाधीनता मुझे पूरे रूप में मिली है। अपने घर में क़दम रखते ही मेरी समझ में आ गया है कि मेरी जंजीरें टूट चुकी हैं और अब मैं जो ठीक समझूँगी, कर सकूँगी। स्वाधीनता का अर्थ स्वेच्छा-चारिता नहीं है। अपनी अपार स्वाधीनता को मैंने किसी ऐसे काम में नहीं लगाया है, जो मेरे योग्य नहीं हैं।

ब्याह के कुछ दिन बाद मुझे लगा कि मर्चा के बारे में अपने पति को सब-कुछ बताना ज़रूरी है। अतः मैंने एक दिन शुरू किया—'हमारे घर में एक विदेशी छात्र रहता था, उसने मुझसे ब्याह करना चाहा था, पर पिताजी ने नहीं होने दिया, तब वह हिमालय की ओर चला गया!'

एक ही वाक्य में मैंने संक्षेप में कहानी शुरू की। मेरे पति ने कहा, 'अच्छा, तो ऐसी बात है!'

बस, बात खत्म हो गयी। उन्हें कोई कुतूहल नहीं हुआ। स्वभावतः वे कम बोलना पसन्द करते हैं। वे सोचते हैं, जितना कम बोला जाये, उतना ही अच्छा है। कभी-कभार किसी मुश्किल में पड़कर कुछ अधिक बोलना पड़ता है, तो सिर पर आसमान टूट पड़ता है। बहुत संक्षेप में एक चुटकुला-सा छोड़कर बातों का सिलसिला खत्म करने की कोशिश करके वे राहत की साँस लेते हैं। हिमालय चला गया, तो गया—बस, बात आयी-गयी हुई। उसके बाद और क्या? अतः उस दिन मैं और कुछ कह नहीं पायी। लेकिन कुछ दिन बाद मैंने फिर एक दिन ठान लिया और तैयारी करके शुरू किया—आज तो कहकर ही दम लूँगी। न कहना बड़ा भारी अन्याय है, 'अच्छा, बासर-घर में जब मैं चादर ओढ़कर लेट गयी, तो आपको कैसा लगा था?'

नीरवता, अभेद्य नीरवता छायी हुई है। उनके होंठ तक नहीं हिले।

'बताइये न, बताना ही होगा, आपको बुरा लगा था कि नहीं?'

वे वैसे ही चुप्पी साधे हुए हैं। वैसा ही अभंग, अबाध मौन छाया हुआ है। पर मैं भी दृढ़-संकल्प हूँ कि आज कहकर ही दम लूँगी...।

'ज़रूर कुछ लगा था; मेरा हाव-भाव, रंग-ढंग तो ठीक, स्वाभाविक नहीं था' ढेर-सारे प्रश्नों के बाद उनके होंठ हिले, और उत्तर मिला, 'सो, एक बिलकुल अपरिचित आदमी के साथ, हठात् रात को एक कमरे में रहने में असुविधा तो हो ही सकती है। बुरा भी लग सकता है।'

'मगर आपको कोई असुविधा नहीं हुई थी? बुरा नहीं लगा था?'

'ज़रा भी नहीं।'

'मतलब कि अच्छा लगा था?'

'हाँ, बहुत ही। अवाक् हो गया था तुम्हें देखकर।'

'लेकिन मुझे ही बुरा क्यों लग रहा था, यह भी आपके दिमाग में नहीं आया?' इस प्रकार के अक्षेप प्रश्न-बाणों से बिंध जाने के बाद वे बोले, 'अपने मित्र भूपेश की बात दिमाग में आयी थी, कहीं उनकी तरह तो नहीं हुआ?' वह कहानी ऐसी है : जैसे [illegible]

व्याह हुआ करता है, उसी तरह भूपेश का व्याह हुआ। भूपेश ने भी उस लड़की को पहले नहीं देखा था। वासर-घर में उस लड़की ने भूपेश से कहा, 'सुनिये, मैं आपकी पत्नी नहीं हूँ, हो ही नहीं सकती। मैं एक आदमी को पति के रूप में वरण कर चुकी हूँ। वह भी मुझे प्यार करता है। लेकिन उसके साथ व्याहने को मेरे पिताजी हरगिज राजी नहीं हुए। बल्कि उसे दुत्कारकर भगा दिया। बताइये, अब मैं क्या करूँ? आपको भी मुझसे व्याह करना उचित नहीं था।' भूपेश स्तम्भित हो गया था। उस लड़की की बात तो बिलकुल ही तर्क-संगत थी। आखिर भूपेश ने उस लड़के का अता-पता लिया और उसी वेश में वहाँ से उस प्रेमी की खोज में रात के अँधेरे में निकल पड़ा। तब तक उन लोगों की कुशकंडिका नहीं हुई थी—सिर्फ़ कन्यादान कर दिया गया था, अर्थात् विवाह का असली हिस्सा बाक़ी था, जो अभी पूरा नहीं हुआ था। फलतः वह कन्या भूपेश की धर्मपत्नी नहीं थी; उन्होंने एक साथ धर्मानुष्ठान नहीं किया था; सप्तपदी नहीं की थी; सिर्फ़ कन्या के पिता ने बर्तन-भांडे के साथ अलंकार-भूषिता कन्या को भूपेश के हाथ दान कर दिया था—तुभ्यम् अहम् सम्प्रददे—एक सम्पत्ति एक हाथ से दूसरे हाथ में पहुँची थी, बस इतना-सा ही हुआ था। अब वह कन्या भूपेश की सम्पत्ति थी। पता लेकर भूपेश उस आदमी के घर जा पहुँचा, 'अजीब आदमी हैं आप तो, पड़े-पड़े शोक मना रहे हैं। आपका कुछ भी कर्तव्य नहीं है?

उस लड़के को लेकर भूपेश विवाह के घर लौट आया। उसने अपना कर्तव्य तय कर लिया था। लड़की के बाप को जगाया और कहा, 'आपने बड़ा अनुचित काम किया है। जो हो, आपने तो अपनी कन्या को मेरे हाथ दान कर दिया है, अब उस पर आपका कोई अधिकार नहीं रहा—अब मैं उसका उसके मनपसन्द वर के हाथ दान कर दे रहा हूँ। उनका व्याह होगा, आपको बाधा देने का कोई अधिकार नहीं है।

'उसके बाद?' मैंने इनसे पूछा।

'उसके बाद उनका व्याह हो गया।'

मैं मन-ही-मन सोच रही हूँ, इस लड़की में तो मन का जोर है। 'तो इसके बाद भी जानने को कुछ है क्या?'

'हाँ, है। उस लड़के ने उसी रात को उस लड़की को मन में बसा लिया था, वह न जाने कैसा हो गया—कुछ पागल-सा हो गया—बीच-बीच में उसके घर जाया करता था। उसके बाद एक दिन वह मर गया। उसके कमरे में स्टोव जल रहा था, वह खाट से लुढ़ककर गिरा, तो उसके कपड़ों में आग लग गयी और वह बेचारा जलकर भस्म हो गया। कोई-कोई यह भी कहते हैं कि उसने आत्महत्या की थी।'

'निश्चय ही आत्महत्या की होगी।'

क्या अजीब बात है! वंचित प्रेम के इस परिणाम में कोई सौन्दर्य नहीं है। सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् में से इसमें न शिवम् है, न सुन्दर। सौन्दर्य के बिना सत्य का रूप भयंकर हो उठता है—प्रेम में से यदि सौन्दर्य समाप्त हो जाय, तो फिर उसमें शेष रहता ही क्या है? मैं मन की आँखों से एक जला हुआ आदमी देखने लगी हूँ—उसके बदन का मांस कच्चा और अध-जला है, उसके बाल जल गये हैं और उसका मुँह झुलस गया है—कितना भयानक दृश्य है! वह कराह रहा है। पर मुझे प्यार करके यदि किसी को यह परिणाम भोगना पड़े, तो मैं भी नहीं जी सकूँगी। मुझे डर लगने लगा, इनके मित्र यदि ऐसे हैं, तो ये भी जरूर ऐसे ही होंगे। अब कुछ बताने की जरूरत नहीं, इनके मन को तनिक भी दुःख नहीं दे सकूँगी। अगर मिर्चा इसी दम आये और कहे, 'चलो', तो क्या मैं जा सकती हूँ? कभी नहीं, अब ऐसा नहीं हो सकता। इस भले आदमी के मन को कष्ट देकर किसी स्वर्ग का सुख भी मैं तोड़कर नहीं ला सकूँगी। अब मेरी काफी उम्र हो चुकी है; मुझे पता है, सुख किसी बाहरी अवस्था या वस्तु में मौजूद नहीं रहता है, वह तो हृदय में रहता है, अतः हृदय में उसका आयोजन पूरे तौर पर हो जाने पर ही बाहरी स्पर्श से वह उच्छ्वसित हो सकता है। विवेक के दहन से हृदय यदि क्षत-विक्षत होता रहे, नीच लोगों की जीभ निन्दा और दुर्वचन से यदि उसे चाटती रहे, तो सिर्फ मिर्चा से लिपट जाने से ही क्या मैं सुख पा जाऊँगी? नहीं, कदापि नहीं। क्योंकि शरीर सुख दे नहीं सकता, सुख देता है मन। और मेरा मन दूसरे को दुःखी देकर सुखी नहीं हो सकेगा, इतना मुझे जरूर पता है।

दूसरे को दुःख देकर और वंचित कर कोई सुखी नहीं हो सकता—यह सीधी-सी बात मैंने बार-बार सुनी है। इस बात को मैं अपनी ओर से बनाकर नहीं कह रही हूँ, इसे सभी जानते हैं। पर सचमुच क्या जानते हैं सभी? तो फिर रमा अभी मेरी माँ को घुला-घुलाकर क्यों मार रही है? खैर, जिसकी जो इच्छा हो, करे, मगर मैं इस जरा भी प्रतिरोध न करने वाले भले आदमी को कभी दुःख नहीं दूँगी। तो क्या यह सिर्फ़ कर्तव्य है? नहीं, कभी नहीं, मैं इन्हें प्यार करती हूँ, बहुत ही प्यार करती हूँ। उस दिन यह समझ में आया जिस दिन रात के क़रीब आठ बजे बेयरा ने आकर कहा, 'साहब जहाँ गये हैं वहाँ से आने में वे राह भी भूल जा सकते हैं। वे अगर घोड़े पर जाते, तो राह नहीं भूलते, घोड़ा ठीक उन्हें घर पहुँचा देता। लेकिन...।' अविराम वर्षा हो रही थी—अथाह अँधेरी रात, कहीं आदमियों का निशान तक नहीं था—वे लोग आपस में कह-सुन रहे थे कि उस रास्ते में प्रायः भालू विचरते हैं। मैं तो इतनी अस्थिर हो उठी थी कि अगर वे लोग नहीं जाते, तो मैं ही खुद मैकिन्टोश और गमबूट पहनकर, लालटेन लेकर निकल पड़ती—भले ही रास्ते में बाघ-भालू मिलते या न मिलते। यह क्या प्यार नहीं है? तो फिर? तो फिर भला क्या है? इसमें भी कोई सन्देह है क्या? हाँ है, है, है—इस सजी-धजी गृहस्थी में बैठकर और अपने पति के स्नेह और प्यार के आश्रय में रहकर भी मेरा मन आख़िर क्यों इतनी शून्यता से भरा रहता है, यह कौन बता सकता है? 'हे नाथ, खाली हाथ भटक रही हूँ दर-दर...!'

हमारा विवाहित जीवन सुख से कट रहा है, सगे-सम्बन्धी चाहे कुछ भी कहें, सहेलियाँ भले ही उँगलियाँ उठायें, पर हम लोग खुश हैं। मेरे पति के साथ सबसे ज्यादा जिस विषय में मेरा मेल है वह यह है कि मेरी तरह वे भी रूढ़िवादी नहीं हैं। वे किसी खास सोच-विचार से संबद्ध नहीं हैं, न मेरी तरह वे जात-पाँत के भेद-भाव को ही मानते हैं; सामाजिक रीति-रिवाजों को वे तर्क से ही स्वीकार करते हैं। जिस दिन सुना कि पहली बार उन्होंने मांस खाया था, तो मैं अचरज में पड़ गयी—वह

था गोमांस। मैं चौंक उठी थी। वे मांस नहीं खाते थे; पहली बार जिस दिन वे पहाड़ पर आये थे, उस दिन एक अंग्रेज के घर खाने की व्यवस्था की गयी थी। उसकी मेम बड़ी ही कंजूस थी। अतिथि को निमन्त्रित करके वह मछली का एक ही टुकड़ा तल कर रखती थी और कहा करती थी, मछली का एक टुकड़ा तो खाना ही होगा। मगर उस दिन उसने तली हुई मछली नहीं रखी थी, रखा था बीफ़स्टीक।

'तो आपने खाया क्यों?'

'और तो कुछ था नहीं, नहीं खाता तो वे लोग परेशान होते, मुश्किल में पड़ जाते। फिर अगर मांस खाना ही हो, तो वह चाहे बकरी का हो या गाय का, बात तो एक ही है। बल्कि मेरे विचार से गाय का मांस खाना ही अच्छा है, क्योंकि वैसी हालत में एक ही जानवर को मारने से ढेर सारा मांस मिल जाता है। मैं तो कहूँगा कि हाथी का मांस खाना और भी अच्छा है।'

कैसी मूक की युक्ति है! उस ज़माने में एक मध्यवित्त परिवार के हिन्दू के लड़के के लिए ऐसा कर पाना बड़ा कठिन काम था। लेकिन उन्होंने कोई कठिन काम कर दिखाने के उद्देश्य से ऐसा नहीं किया था; वे कोई विप्लवी नहीं हैं। मैं जिस तरह जात-पांत के भेद-भाव को तोड़ने के लिए उद्यत हूँ, वे वैसे भी नहीं हैं। उनका वैसा करना बड़े सहज और स्वाभाविक ढंग से सत्य की खोज करने के समान था।

बाद में जब रवीन्द्रनाथ ने इन्हें अच्छी तरह पहचाना, तो कहा था, 'गप-शप की 'भले आदमी' नामक कविता में इन्हीं को मैंने पंक्तिबद्ध किया है'—

मनोराम सचमुच ही सयाना है
वह बाहरी चोट की परवाह नहीं करता।
अपने-आपको दिखाना
चाहता है—किसी तरह अपने-आपको बचाने के लिए।
योग्यता है तो रहे,
उसे ढाँपकर वह बन्द रखता है।

अपने को कोने में ठेल कर
मन में आराम पाता है।
उसे ले जाना चाहते हैं आगे कर,
वह सभा से दूर रहता है।
कभी नहीं कहता : और दो, या खूब दो।
सुविधा पर भी धक्का नहीं देता किसी को।
यदि देखता है कि खाने की कमी है,
तो कहता है, बाप रे! मेरा पेट भारी हो रहा है!
व्यंजनों में नमक न हो,
तो चेहरे पर शिकन तक नहीं आने देता।
अगर सुनता है कि लोग इधर-उधर की कहते हैं
कहता है, वे हैं बच्चे-छोकरे।
पाँचू बिना बताये किताब ले जाये
उसे इसके लिए टोकता नहीं।
दोस्त ठगता है, तो सह जाता है,
हिसाब की भूल है—कहकर मान लेता है।
क़र्ज़दार क़र्ज़ न चुकाये, तो कहता है—
मुझे कोई जल्दी नहीं।
जितनी ही चोट कोई क्यों न करे,
कहता, दोष शायद मेरा ही था!

इस कविता का सार गीता का ही वचन है—दुःखेषु अनुद्विग्न मनाः सुखेषु विगतस्पृहः—ये सारे गुण मेरे पति में हैं। वे भी सुख-दुःख में अविचलित, अनासक्त और निरहंकार रहते हैं, परन्तु इन गुणों को प्राप्त करने के लिए उन्हें कोई साधना नहीं करनी पड़ी है। ये उनके स्वाभाविक ईश्वर-प्रदत्त गुण हैं। मैं तो इन गुणों को प्राप्त करने की चेष्टा करती हूँ, पर कहाँ कर पाती हूँ? मैं तो उद्विग्न, असहिष्णु और तरह-तरह के दोषों की खान हूँ। जल जैसे मछलियों की खान है, मैं भी उसी तरह दोषों की खान हूँ। मुझमें दोष कुलबुला रहे हैं। सम्भवतः इसीलिए प्रायः सर्वदा

ही मेरे मन में आग धधकती रहती है। एक दिन शाम को मैं बैठे बैठे यही सोच रही थी, अर्थात् गिन रही थी कि दिन-भर में मैंने कितनी बातें की हैं—गिनने पर मालूम हुआ कि सात-आठ वाक्यों से ज्यादा बात मैंने नहीं की है—सो भी वे कुछ इस तरह की बातें : आज आधा घंटा देर क्यों हुई ? शाम को क्या टेनिस खेलने जाना है ? परसों क्या घासवर्न्स वग़ैरह खाने पर आयेंगे ? समशेर बेयरा क्या अकेले सब-कुछ संभाल लेगा ? बस। और क्या बातें होंगी ? हम दोनों जो दो अलग-अलग दुनिया के लोग ठहरे। उन्होंने जो पढ़ा है, उसे मैंने नहीं पढ़ा है। पर इसमें कुछ आता-जाता नहीं है, मैं तो केमिस्ट्री भी पढ़ती, यदि वे मुझे पढ़ाते। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं होती—कोई भी विषय हो मैं उससे आनन्द पा सकती हूँ, किन्तु उनसे ऐसा करते नहीं बनेगा। इतना बोलना उनका स्वभाव नहीं है। मैंने जो पढ़ा है उसे उन्होंने नहीं पढ़ा है। पाठ्य-पुस्तक के सिवा और किसी भाषा की कविता की एक पंक्ति तक उन्होंने नहीं पढ़ी है। पर मैं तो उन्हें कविता सुना सकती हूँ, नहीं सुना सकती क्या ? नहीं, ऐसा कहीं होता है ? जो समझता नहीं उसे कविता नहीं सुनायी जा सकती ! यद्यपि मैं सुनाने बैठूँ, तो वे बड़े धैर्यपूर्वक सुनेंगे, कदापि उन सज्जन की तरह नहीं करेंगे जिनके बारे में मैंने अपनी एक रिश्तेदार से सुना था। मेरी वह कविता-रसिक रिश्तेदार विवाह के बाद अपने पति को 'महुआ' की एक कविता सुनाने के ख़याल से बड़ी संभलकर बैठी थी। उसके पति भी बहुत उत्साह दिखा रहे थे। पर मेरी वह रिश्तेदार कविता पढ़ना शुरू करती, इसके पहले ही उन्होंने हाथ बढ़ा दिया, 'जरा देखूं तो', किताब हाथ में ली, जरा देखा और लौटा दिया।

वह लड़की तो सकते में आ गयी थी—'क्या देखा ?'

'देखा कि कविता कितनी बड़ी है।'

मगर मेरे पति ऐसा कभी नहीं करेंगे। अगर मैं टॉली एडिशन की समग्र रचनावली उन्हें सुनाऊँ, तो वे परम धैर्य से सुनते जायेंगे और कहेंगे, 'वाह, बहुत ही अच्छा है।'

किसी-किसी दिन नहीं, प्रायः रोज ही एकांतिकता मुझे घर दबोचती है।

दोपहरी में मैं सोती नहीं। पढ़ना चाहूँ भी तो क्या पढ़ूँ ? इस अंचल में तो किताब ही कहीं नहीं है। गिनती की जो हैं उन्हें अनेक बार पढ़ चुकी हूँ। इतनी किताबें भला खरीदूँ भी तो कैसे ? कोई मुझे किताब भेजने वाला भी तो नहीं है। कौन मुझे किताब भेजेगा ? फिर भी जब कभी कलकत्ता जाती हूँ, तो कुछ किताबें खरीद लाती हूँ। मेरे पति, जो बात करना बिलकुल ही पसन्द नहीं करते, उनको भी यह सूनापन कष्टकर प्रतीत होता है। एक बार उन्होंने मुझे लिखा था, 'पन्द्रह-एक दिनों से आईना छोड़कर, किसी शिक्षित व्यक्ति को नहीं देखा है।'

संध्या के समय तो अकेलेपन की यह भावना जैसे और भी बढ़ जाती है। बरामदे में मैं और मेरे पति बैठे रहते हैं—मैं दो-चार बातें करने की कोशिश करती हूँ। किन्तु बात करूँ भी तो किस भाषा में ? हमारी भाषाएँ ही अलग-अलग हैं। इसीलिए थोड़ी देर में ही, हम दोनों चुप हो जाते हैं। इस मानवहीन प्रदेश में आवाजें ही मानो निस्तब्धता को और ठोस कर देती हैं—अँधेरे वन में एक 'रात का पंछी' चहक उठता है, एक चमगादड़ धड़ाम से गिर पड़ता है। झींगुर अविराम झीं-झीं-झीं करता रहता है—बग़ल का झरना है भी तो रुकने का नाम ही नहीं लेता, झर-झराता हुआ चलता ही जा रहा है, पर ये सारी आवाजें मनुष्य की साथी नहीं हैं—ये केवल कहती रहती हैं, तुम अकेली हो, तुम अकेली हो। मैं समझ सकती हूँ, हर दिन समझ सकती हूँ कि मेरी दुनिया तो खो गयी। मुझे लिखना भी अब अच्छा नहीं लगता है—और लिखूँ भी तो क्या लिखूँ ? लिखना मेरा इस जन-हीन दुनिया में दिग्भ्रान्त हो गया है। बहुत-से लोग सोचते हैं कि प्राकृतिक सौन्दर्य शायद लेखक को प्रेरित करता है—फुलवारी में बैठकर कविता लिखने से उसका गुण बढ़ जाता है। तभी तो सुनती हूँ, कि शान्ति-निकेतन में आजकल गाइड लोग दिखाते हैं, उस पेड़ के नीचे बैठकर कवि ने 'रक्तकरबी' को लिखा था, और उस कुंज की बग़ल में बैठकर 'महुआ', आदि, आदि। मूढ़ता का मानो अन्त नहीं है। शान्ति-निकेतन के इस निर्जन प्रान्तर में कवि विश्व के लोगों को लिखने की ही आवश्यकता से बुलाकर लाये।

मनुष्य की संगति तथा संस्पर्श से, सुख-दुःख के घात-प्रतिघात से

और अच्छे-बुरे के द्वन्द्व से नित्य मथित होना ही लेखक को प्रेरणा का उत्स है। निस्तरंग शान्त अवस्था, जनविरल अरण्य साधु-संन्यासियों के लिए ज़रूरी हो सकता है, मेरे लिए नहीं। यह प्रकृति तो मुझे जीवन नहीं दे रही है, बल्कि हरण करके ले जा रही है। मनुष्य के लिए मनुष्य ही ज़रूरी है। कम-से-कम मेरे लिए तो है। मिर्चा के बदले एक पुष्पित-पल्लवित तरु होता, तो क्या अच्छा होता ? हो, हो, हो, एक बात याद आ गयी : 'पहले पहल किसे प्यार किया था, बताओ, बताओ'...'एक पेड़ को जी, एक पेड़ को'—तो अब पेड़ पर ही लटकी रहो !

मेरे अरण्य-वास के बाईस वर्षों में से तीन वर्ष विशेष रूप से स्मरणीय हैं—इन तीन वर्ष हम दोनों ज़िन्दा थे—बाक़ी दिन तो सिर्फ़ पुनरावृत्ति मात्र थे। उन तीन वर्षों की बात मैंने अन्यत्र लिखी है, इसलिए उसे यहाँ फिर से लिखने की ज़रूरत नहीं है। जब मेरे जीवन का वह सुन्दरतम पर्व शुरू होने जा रहा था, जहाँ तक मुझे याद आता है, उस समय—अर्थात् 1938 ई० में—थोड़े दिनों के लिए मैं कलकत्ता आयी थी। पिताजी ने मुझसे कहा : 'यूक्लिड ने तुम्हें एक किताब समर्पित की है, समर्पण-पत्र में तुमसे क्षमा माँगी है।' इस बात को सुनने के लिए मैं बिलकुल ही तैयार नहीं थी—मेरा कलेजा उछलने लगा, मानो क़ाबू के बाहर हो गया हो—मैं बुत की तरह खड़ी रही, कुछ बोली नहीं। कुछेक मिनट बाद उन्होंने फिर कहा : 'पोर्नोग्राफ़ी लिखने के अपराध में उसे जेल की सज़ा मिली है।' पोर्नोग्राफ़ी[1] शब्द का अर्थ मुझे मालूम नहीं था। पिताजी से पूछने की भी इच्छा नहीं थी। जो लिखने से जेल की सज़ा मिलती है वह निश्चय ही कोई सत्-साहित्य नहीं है ! बिना कोई उत्तर दिये और प्रश्न किये मैं चली गयी। कोश में उस शब्द को देखा, तो मैं ठगी-सी रह गयी। यह कैसी बुरी बात है ! मुझे जो किताब उसने समर्पित की है, वह वही तो ऐसी नहीं है ! मेरी समझ में कुछ भी नहीं आता, कि

---

1. महाअश्लील।

आखिर मुझे किताब समर्पित करने और मुझसे क्षमा माँगने की ही क्या ज़रूरत थी ? उस किताब के सम्बन्ध में मुझे कोई कुतूहल नहीं हुआ। सिर्फ़ घृणा से मेरा मन संकुचित हो गया; अपने-आप को अपवित्र-सी महसूस करने लगी और यह सोचते ही मैं सिहर उठी कि ऐसे व्यक्ति के साथ एक दिन मेरी घनिष्ठता हुई थी और इसके लिए मैं इतनी आग्रही थी। मुझे इतना, इतना बुरा लगा था कि मैं उस समर्पित किताब की बात ही भूल गयी, अर्थात् उसे मन में ही नहीं लाना चाहा। फिर तो उसके बाद से पन्द्रह वर्षों तक उसका नाम भी मुझे याद नहीं आया। घृणा के एक बहुत-बड़े पत्थर से स्मृति की उस आलोकित गुफ़ा के मुँह को मैंने पूरी तरह बन्द कर दिया—'कर दिया' कहना ग़लत है, बल्कि यह कहना ठीक होगा कि ऐसा हो गया।

दिन गुजरते जाते हैं, एक ही नियम से सुबह आती है, शाम आती है—हरेक दिन मैं अचानक सोचा करती हूँ, मेरे माँ-बाप ने मेरा ब्याह इस तरह रचाकर हम दोनों के प्रति ही अन्याय किया है। ऐसी बात जब मेरे दिमाग़ में आती है, तो मैं लज्जित हो उठती हूँ; प्रश्न करती हूँ, अपने पति के प्रति मैं कहीं विश्वासघातिनी तो नहीं हो रही हूँ ? किन्तु ऐसी बात नहीं है, उनके महत्व के बावजूद इसमें कोई सन्देह नहीं कि हम दोनों ही पूरे तौर से दो विभिन्न नस्लों के आदमी हैं। यह जाति-भेद मेरे पति को कोई पीड़ा देता है कि नहीं, मुझे नहीं पता; क्योंकि उनके तो किसी भाव की ही अभिव्यक्ति नहीं होती। यदि ऐसा होता, तो फिर जाति-भेद का प्रश्न ही कहाँ उठता ? वे जो मुझे इतना प्यार करते हैं, इसका परिचय मुझे मिलता है; सिर्फ़ मैं ही क्यों, जो जहाँ हैं, सभी जानते हैं कि वे मुझे कितना प्यार करते हैं—मैं यदि पन्द्रह दिन कलकत्ता में रहती हूँ, तो उन्हें ज्वर आ जाता है। फिर मैं भी तो ज़्यादा दिन कलकत्ता में नहीं रहती हूँ। मेरा मन कैसा करने लगता है, उनके लिए चिन्ता होने लगती है। 'तो भी' ! तो भी उस पहाड़ पर बिताये दिनों की शून्यता मुझे धर दबोचती है। मैं बात नहीं कर सकती। मेरा बात करना बहुत जरूरी है।

मैं बीच-बीच में अपने-आप से प्रश्न करती हूँ—मैं जिस जाति-भेद के बारे में सोच रही हूँ, उसका क्या कुछ दूसरी तरह का कोई उपाय था ? यदि आज से चार दिनों के अन्दर इनके साथ मेरा ब्याह न होकर उस बंगाली-जाति के हितोद्धारक डॉक्टर के साथ होता, तो क्या होता ? तो क्या उसके साथ मेरी जाति मिल जाती ? पर वह तो [illegible] व्यक्ति था—जो मनुष्य को नहीं देखता था, मनुष्य का मुँह नहीं देखता था, मन नहीं देखता था, देखता था सिर्फ देह की क़द-काठी ! ठीक जोड़ी शायद कभी नहीं मिलती है। सो, इसको लेकर अन्देशा-अनुमान लगाने में कोई मानी नहीं है। 'तो भी' ! यह 'तो भी' मुझे छोड़ना नहीं चाहता है। यदि कोई मुझसे पूछे कि तुम्हें क्या नहीं मिला ? पति का प्यार—अनुराग में सम्मान, स्वाधीनता ! क्या नहीं मिला ? मुझे मानना होगा कि शिकायत करने लायक कुछ भी नहीं है। यदि मैं कहूँ, और कुछ भी नहीं, गत महीने के 'प्रवासी' में रवीन्द्रनाथ की जो कविता छपी है उसको, एक महीने के अन्दर, किसी से चर्चा भी नहीं कर पायी, न उसे पढ़ पायी, तो क्या मेरे लिए कोई दुःख करने बैठेगा ? नहीं, ऐसा कहीं हो सकता है ? यह सुनकर लोग हँसेंगे, लेकिन बहुतेरे लोगों के लिए जो जरूरी नहीं है, वह मेरे लिए है। कुछ ऐसे मनुष्य हैं जिनकी अंजलि किसी पार्थिव वस्तु से नहीं भरती, जिनकी आकांक्षाएँ खत्म होने का नाम नहीं लेतीं, जो इस दुनिया में किसी ऐसी सूक्ष्म, अनिर्दिष्ट चीज की खोज में भटक रहे हैं जिसका वास्तव में कोई मूल्य नहीं है।

पर हमारे मन को इस तरह से तैयार किया किसने ? कुछ लोगों का जो बहुतों के साथ जाति-भेद हो गया, इसके लिए जिम्मेदार कौन है ? रवीन्द्रनाथ ठाकुर, और कौन ? जो लोग उनकी आँखों के भीतर से होकर दुनिया देख रहे हैं और जिन्होंने ऐसा नहीं देखा है, उनके संसार अलग-अलग हो गये हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। इन दोनों दुनिया के [illegible] का मेल नहीं है।

मैं यद्यपि पहाड़ पर रह रही हूँ, पर मेरे [illegible] तरह वेगवान नहीं है—चट्टानों से [illegible]

वह तो निस्तरंग तालाव के जल की तरह होती जा रही है। वहिर्जगत् के साथ मेरा कोई सम्वन्ध नहीं है, घर-संसार की नाव को वहाकर वैठी हुई हूँ—अकेली, घोर अकेली। वीच-वीच में मुझे लगता है, उन्होंने जो आने का वचन दिया था उसे रखेंगे न ?

इस गृहस्थी को मैंने वहुत प्यार किया है। घर-वार को सजाना मैं वहुत पसन्द करती हूं—मायके के अस्त-व्यस्त मकान को कभी ठीक नहीं कर पाती थी—इसी को लेकर आठों पहर वकझक हुआ करती थी—कोई पर्दे से हाथ पोंछ देता, कोई दीवार पर आड़ी-तिरछी रेखाएँ खींच देता—कोई ऊपर से आँगन में कागज़ के टुकड़े फेंक देता। सोफ़े पर फैलायी धोती पर पिताजी के प्रशंसक, पाठशाला के कोई पंडितजी आकर पालथी मारकर वैठ जाते और उस पर गन्दे पैरों के निशान लगा देते, और दूसरे ही दिन यूरोप के कोई नामी व्यक्ति आने वाले होते, तो फिर उसकी धुलाई करनी पड़ती ! इन्हीं सव कामों को लेकर मैं खटते-खटते परेशान हो जाती। पर यहां मैं अवाध सुयोग पा रही हूँ। मेरा घर एक आईने की तरह चमकता है। लकड़ी के फ़र्श को सप्ताह में एक दिन घिस-घिस-कर सुगन्धित मोम से पॉलिश करती हूँ। इतनी पॉलिश करती हूँ कि फ़र्श में चेहरा नजर आता है ! खिड़कियों के कांच को मेथिलेटिड स्पिरिट से पोंछकर चमकीला वना देती हूँ। फूलदानी और क्युरियो की पुरानी चीज़ों के साथ-साथ, दरवाजों के क़ब्ज़ों और मूठों को भी व्रश करके चमकीला वना देती हूँ। महीने में एक वार फूलों के गमलों को रंग किया करती हूँ। मेरे रसोई-घर में सव वर्तन करीने से रखे हुए हैं, सव-के-सव वेदाग़। सव आलमारियों के अन्दर हर खाने में चीज़ें ठीक अपनी-अपनी जगह पर रखी रहती हैं। मेरे वीस वीघे के वग़ीचे के सव पेड़-पौधे वड़े जतन से काटे-छांटे हुए हैं। खाने की मेज़ पर कांटे-चमचे चमकते रहते हैं, नैपकिन हर दिन अलग-अलग ढंग से तह किये हुए रहते हैं, मक्खनदानी में मक्खन पर फूल के नक्शे वने होते हैं। दोपहर में हम लोग पत्थर की थाली में खाते हैं, और रात को डिनर-सेट का इस्तेमाल करते हैं।

तड़के वेयरा आकर दरवाजे पर दस्तक दिया करता है—उसके माथे

की सफेद पगड़ी और बदन की चपकन झकझक करती रहती है। वह ट्रे में चाय का साज-सामान लेकर आया करता है—बेड-टी लेकर। सवेरे ही वह कॉफी परकोलेटर में कॉफी डाल देता है, फिर तो उसकी सुगन्ध सारे घर में फैल जाती है। माली ढेर-सारे फूल लेकर पहुँचा दिया करता है, किसी दिन तो मैं ही माली के साथ कैंची लेकर निकल पड़ती हूँ। मैं उसे दिखा दिया करती हूँ और वह फूलों की टहनियों को काट देता है। फूलों के जापानी सजावट का ढंग आजकल खूब नजर आने लगा है। पर मुझे वह उतना अच्छा नहीं लगता, वह एक कृत्रिम खिलौना-सा लगता है! फिर, बंगाली तो फूलों को सजाना जानते ही नहीं। बहू-बाजार में जो गुलदस्ते बिकते हैं उन्हें देखने में ही यह बात समझ में आ जाती है। फूलों को देवदारु के सुई-से बारीक पत्तों में चारों ओर से दबाकर और तार से बाँधकर ये बंगाली महाशय गुलदस्ते बनाते हैं। आखिर फूलों के प्राण ऐसे अत्याचार से कितनी देर तक बच सकते हैं? और नहीं तो एक पतली-सी फूलदानी में दो-चार फूल ठूँस दिया करते हैं। मैं तो वहाँ एक अंग्रेज महिला की फूलों की सजावट देखकर दंग रह गयी हूँ। उसने कमरे के एक कोने में फूल-सहित एक डाल ही रख दी है। फूल रखने के पात्र भी कुछ ऐसे होने चाहिए जिसमें फूल और पत्ते फैल सकें। मैं देख-देखकर सीखा करती हूँ—मैंने जो कुछ देखा है, ठाकुर-घराने में देखा है। ठाकुर-घराने के सामान में ही देखा है स्वदेशी नक्शा। यहाँ तो तरह-तरह की लकड़ियाँ मिलती हैं, हम लोग उन्हीं से तरह-तरह के स्वदेशी नक्शों के सामान बनवाते हैं। हमारे पर्दे, कुशन, आदि कोई भी विलायती छींट के नहीं हैं—बल्कि हम लोगों ने, उड़ीसा के पुरोहित लोग जो धोती पहनते हैं उसके आँचल का ही पूरा थान उड़ीसा के गाँव में बुनवाया है। उस समय देशी नक्शे वाली कोई चीज़ ही बाजार में सुलभ नहीं थी। नाना प्रदेश के गाँवों के लोगों से कुटीर-शिल्प के नमूने मैं मंगवाया करती। जुलाहे से जब कहा मैंने, इसी आँचल के दो थान बुनकर ला दो, तो वह चौंक गया। वह हरगिज राजी नहीं होता था। 'तो तुम्हारा क्या नुकसान होगा? तुम्हें तो रुपया मिलेगा।' 'पर ऐसा तो मैंने कभी किया नहीं, माँजी।' इस देश के लोगों की अजीब हालत है,

जो कभी नहीं किया है उन्होंने, उसे करने में हिचकिचाते हैं—सो वह चाहे जुलाहा हो या पंडित। दक़ियानूस बने, पैर-पर-पैर धरे बैठे रहते हैं !

हमारे घर में हमारे व्यक्तित्व की छाप है; लोग खूब समझ सकते हैं कि यह घर हमारा ही है। मैं काम सीखती हूँ अँग्रेज महिलाओं से भी—मैंने 'महिलाओं' कहा, पर काम सीख रही हूँ वस्तुतः एक ही महिला से; महिलाओं से नहीं। वैसे तो यहाँ चार घरों में अँग्रेज हैं, मगर उनमें से केवल एक महिला ने ही ठीक से घर-संसार बसाया है। और बाक़ी ? उनके बारे में कुछ कहने की जरूरत नहीं। वे टेनिस और ब्रिज खेला करती हैं, मद्यपान और बॉल-डांस से फ़ुरसत नहीं पाती हैं, और बीच-बीच में पर-पुरुषों से चोंचले—इसके सिवा उन्हें कुछ और नहीं आता है। पुरुष सब मूर्ख और निपट शराबी हैं। हो सकता है, उनके भीतर भी मनुष्यता कहीं छिपी हुई हो, किन्तु उसे देखने के लिए न तो मेरे आँख है, न मन। मेरा मन बहुत ही सूक्ष्म हो गया है—इनके संग-मात्र से वह संकुचित हो जाता है। मुझे पता है, मुझमें यह एक कमी है।

मेरी कमी को वे लोग कुछ और ही नज़र से देखते हैं—वे ठहरे अँग्रेज और हम लोग तुच्छ 'नेटिव'। वे दया करके हमारे साथ मिलते-जुलते हैं, हमें बॉल-डांस के अवसर पर बुलाते हैं। वे हमारे घर क़दम रखते हैं, इतने-भर से हमें कृतार्थ होना उचित है—सो तो नहीं, हर बात में आपत्ति होती है मेरी ओर से ! मैं तो ताश तक नहीं खेलती। ताश खेलने से क्या चरित्र नष्ट हो जायेगा ? नहीं, ताश खेलने से चरित्र नष्ट नहीं होता है, यह सही बात है, किन्तु समय तो नष्ट होता ही है। एक तो मन के मुताबिक़ कोई मिलता नहीं, न किसी से विचारों का आदान-प्रदान होता है। मन के जिस स्तर पर मुझे साथी की जरूरत है वह दिगन्तहीन सहारा हो गया है, इस पर यदि मैं उनसे ज़्यादा मिलूँ-जुलूँ, तो मेरा व्यक्तित्व बदल जायेगा—उस छोटी-सी उम्र में ही मुझे ऐसा लगता था। उनकी उमंग और जीवन के प्रति आसक्ति देखने से प्रेय का मोह आकर्षित करता था, वह मन को बिलकुल ही आकृष्ट न करती हो, ऐसी बात नहीं। किन्तु उस लोभ का संवरण करना होगा। मुझे पता है, सब तरफ़ से एक असीम शून्यता मुझे घेरे हुए है, इसीलिए मैं यदि खूब मजबूत हाथों

दिया। मुझे नहीं पता था कि समय आने पर वे लोग इसका प्रतिशोध लेंगे। इस युग की क्या अवस्था है, पता नहीं, पर तब देखती थी, जो शराब पिया करते थे वे न पीने वालों पर आग-बबूला हो जाते थे—क्योंकि उन्हें लगता था कि ऐसा करना शायद उनके चरित्र की खिल्ली उड़ाना है! ऐसा मनोभाव तो स्वाभाविक नहीं है। चाहे कोई कुछ करे-कहे, पर दूसरे के समर्थन का लोभ वह कभी नहीं छोड़ सकता।

मैंने बेयरा से कहा, 'सारी बोतलें ले जाकर झरने के पानी में फेंक दो!'

विस्फारित आँखों से वह निहार रहा है—झरने के पानी में फेंकी जायेगी इन चमकीली बोतलों की विलायती शराब! क्या मजाल कि गुरखे स्त्री-पुरुषों की शराब की असीम प्यास कोई मिटा दे! दूसरे दिन मजदूर-मजदूरनी घास काटने आये, तो उन्हें वे बोतलें मिलीं—सारी-की-सारी, टूटी नहीं थीं, कुछ-कुछ मिट्टी में धँस गयी थीं—उन दिनों गोरखों की ईमानदारी इतनी थी कि पड़ी हुई चीजों को भी वे बिना पूछे हाथ नहीं लगाते थे। महीनों घर बिना ताले के रहता था, पर वे उसके भिड़े दरवाजे को ठेलकर उसमें घुसते नहीं थे, न घड़ी आदि उठाकर ले जाते थे। मुझे इस बात का दुःख है कि मेरी आँखों को इन लोगों को देखने लायक़ बनने में देर हुई। मेरी आँखें अन्तर्मुखी थीं। उस गीत के प्रतिकूल बन गयी थीं वे—'हृदय की ओर निगाह डाली है, बाहर की ओर निहारा नहीं, मैंने निहारा नहीं।' हालाँकि बाहर ही तो बहुत-कुछ देखने योग्य था।

बेयरा बोला, 'उन बोतलों को तो आपने फेंक ही दिया है, सो वे लोग उन्हें ले सकते हैं?' आखिर उन लोगों ने लिया। उसके बाद वह विशुद्ध स्कॉच ह्विस्की बिना पानी मिलाये, बोतल-पर-बोतल पेट में पहुँची, तो उसका जो फल हुआ, यह समझना कठिन नहीं है—स्ट्रेचर पर लिटाकर उन्हें अस्पताल पहुँचाना पड़ा—और मेरी इस करतूत की बात भी फैल गयी अँग्रेजों के समाज में। आज के जमाने में ऐसा मनोभाव दुर्बोध्य प्रतीत होगा, खासकर जब शराब से कहीं अधिक नशीली चीजों का आयात हो रहा है और गुणी-सभ्य समाज में उनकी पूछ बढ़ने लगी है!

इन लोगों की डिनर-पार्टी में दूर-दराज के पहाड़ों से प्लांटर साहब आया करते। देखती, धीरे-धीरे रात जितनी गहराती जाती, गिलास-पर-गिलास शराब गटककर वे उतने ही धुत्त होते जाते—जो गा नहीं सकता वह भर्राये गले से गाना शुरू कर देता, कोई ऊँघने लगता, कोई पास बैठी हुई किसी स्त्री के कंधे के ऊपर जा गिरता, कोई झट-से मेरे पैरों के पास बैठ जाता और कहता, 'आई शैल बी युअर डीयर, डीयर...।'[1] यह पिछला शब्द द्वि-अर्थक होता, क्योंकि मैंने एक हिरन भी पाल रखा था। मेरी समझ में हरगिज नहीं आता कि मनुष्य कैसे स्वेच्छा से अपनी बुद्धि खो देता है। सुसज्जित कमरे में बैठ, चर्व्य-चोष्य-लेह्य-पेय को आकण्ठ खा-पीकर वयस्क लोगों को जान-बूझकर पागल होता देख-देखकर मेरे मन की अवस्था वैसी ही होती जैसी दुष्यन्त की राजपुरी में सुखी लोगों को देख कर शारद्वत की हुई थी। स्नात व्यक्ति को तैलाक्त को देखने पर, शुचि व्यक्ति को अशुचि के देखने पर, जाग्रत व्यक्ति को प्रसुप्त को देखने पर और मुक्त व्यक्ति को बद्ध व्यक्ति को देखने पर जैसा लगता है—वैसी ही हुई थी शारद्वत की अवस्था।

गहरी रात में मेरे पति और मैं निर्जन वन के भीतर से होकर घर लौटते हैं। सामने बेयरा लालटेन और लाठी लिये चला जा रहा है। हमारे कदमों की आहट के सिवा और कोई आवाज नहीं सुनायी पड़ती है—निःशब्द वनस्थली में दोनों किनारे के पहाड़ों से टकराकर वह आवाज मच-मच-मच करके निःशब्दता की ही संवृद्धि कर रही है। ऊपर पेड़ों के चँदोवे से छनकर आती हुई चाँदनी ने पत्थरों पर प्रकाश और छाया के विभिन्न चित्र बना डाले हैं। मुझे पता है, ठीक किस मोड़ पर क्या है—कहाँ जुगनुओं का बोलबाला है, कहाँ फूलों की गन्ध मिलती है। एक फूल है जिसकी गन्ध ठीक अरवा चावल की-सी है। कोई-कोई कहता है, किसी साँप के बदन में भी अरवा चावल की-सी गन्ध होती है। यहाँ तो इतने सारे साँप हैं कि हम लोगों को अब साँप का डर ही नहीं रहा। सौ,

---

1. 'I shall be your dear, deer.'

भी आदमी को देखने से या उसकी आहट पाकर भाग जाते हैं। कोबरा भी भाग जाता है, मगर अजगर नहीं भागता, आखिर भागेगा कैसे, उसके तो हिलने-डुलने में ही साल लग जायेगा ! अवश्य अजगर पर पैर पड़ने से किसी को कोई नुक़सान होने का डर नहीं रहता है—वह तो हाथ बढ़ाकर किसी को नहीं पकड़ता। हालांकि अजगर को देखकर ही एक आदमी मर गया; पेड़ के नीचे कुंडली मारकर बैठे अजगर ने ज्यों ही अपना मुंह उठाकर देखा त्यों ही उस आदमी ने उसकी आँखें देखते ही भागना शुरू कर दिया था, अवश्य विपरीत दिशा की ओर, नहीं तो, सम्मोहित होकर उसकी पहुँच के भीतर आ जाता ! अजगर तो हाथ नहीं बढ़ाता, यह सही बात है, किन्तु आँखें उठाता है, और आँखों के सम्मोहन से ही खींच लेता है। वह आदमी चढ़ान की ओर भागते-भागते बिलकुल दो मील दौड़कर हमारे घर के पास आकर गिर पड़ा और गिरते ही मर गया—सिर्फ़ डर के मारे मर गया। हम लोग हमेशा जिस रास्ते से होकर आते-जाते हैं, वहां भालू नहीं निकलते हैं, आखिर उन्हें भी तो जान का डर है, लेकिन जंगल के रास्ते पैदल चलकर अठारह मील दूर से जो लोग शहर से सौदा-सुलुफ़ लाने जाया करते हैं उनसे भालुओं की प्रायः ही मुलाक़ात हो जाती है। हर दिन अलग-अलग ढंग से कौशल करके सभी बचते हैं—एक दिन तो रोटी वाले ने खाने की चीज़ों से भरी अपनी पीठ पर की टोकरी को फेंक दिया, वह टोकरी छिटककर गिरी और पहाड़ पर से होकर लुढ़कती हुई नीचे की ओर जाने लगी, भालू ने उस रोटी वाले को छोड़ दिया और उस लुढ़कती हुई टोकरी के पीछे-पीछे भागा। इस तरह रोटी वाला बच गया। उसे हम लोग 'रोटी वाला' कहा करते हैं। लेकिन वह सिर्फ़ रोटी ही नहीं, बल्कि हर जरूरी चीज को अठारह मील दूर से लाया करता है। मछली, मांस, दवा, सब्ज़ी आदि कुछ भी यहां नहीं मिलता है। एक चीज मँगवाना भूल जाने पर उसके लिए तीन दिन इन्तज़ार करना पड़ता है। चीता, भालू और अजगर के हाल मिलकर यहां की घटनाएँ बच्चों की कहानियों की किताब की कहानी-जैसी हैं। मैं इनके साथ घुलती-मिलती जा रही हूँ—आदिम प्रकृति, आदिम मानव मेरे हृदय में प्रवेश कर रहा है धीरे से, बहुत धीरे से। क्योंकि साहब लोग जिस तरह से

आनन्द मना सकते है हम लोग तो उनसे परिचित भी नही है। वे लोग छुट्टी के दिन पीठ पर बन्दूक लटकाये, हाथ में बंसी लिये, मजदूरों के कन्धो पर खाने-पीने के सामान और शराब का बोझ रखकर शिकार को जाते हैं; वहां वे शराब पीते हैं, शिकार करते है और एक-दूसरे की पत्नी के साथ अथवा किसी अतिथि बालिका के साथ मजे लूटते है। उन्हें कोई कमी महसूस नहीं होती है; जंगल में भी वे बडे मजे से हैं। हम लोग ठहरे अध्येता लोग, भला हम लोग ऐसा कर सकते हैं ! हम लोगों को निरीह हिरनों को मारना अच्छा नही लगता। आहत हिरन का चीत्कार या उसकी करुण दृष्टि हम लोगो को रुलाकर छोडती है। फिर भी क्रमशः उनसे हम लोग कुछ-कुछ सीखने लगे हैं। उनके पास भी सिखाने लायक कुछ है। चाहे वे किसी भी अवस्था मे पड़ जायें, उसके अनुकूल वे अपने-आपको ढाल ले सकते हैं, बहुत कुछ मारवाड़ियों की तरह। मारवाडी भी प्रतिकूल अवस्था में अपने-आपको खपा लेते है। हिमालय की तलहटी में छोटे-छोटे ऐसे गांव हैं जहां पहुंचने के लिए पच्चीस-तीस मील या तो पैदल चलना पडता है या घोडे पर सवार होकर जाना पड़ता है, इसके सिवा जहां पहुंचने का दूसरा कोई रास्ता नही है, वहां भी मारवाड़ी लोग दुकान-वुकान खोलकर चावल, दाल वगैरह बेचते हैं—उन्ही के चलते यहां हम लोग चावल, दाल, तेल, मसाला आदि पाते हैं।

शराब पीना और हिरन का शिकार करना—इन दो चीजों को छोड़-कर मैंने भी अरण्य-जीवन के आनन्द मे प्रवेश करने की कोशिश की। हर छुट्टी के दिन मैं कुछ साथियो को जुगाड कर सदल-बल निकल पड़ती हूं वन-भोज के लिए। पगडंडी से होकर चली जाती हूं बहुत दूर, या तो किसी निर्जनतर झरने के किनारे या किसी पार्वत्य नदी के तीर—इस वन के पेड बिलकुल सीधे तने हुए-से हैं, ये सब प्रकाश के प्रत्याशी हैं, इसीलिए मानो लम्बी गर्दन उठाये पहाड़ की ऊंचाई को बेधकर आकाश मे मुंह रखना चाहते हैं। उन पेड़ों की छाया से ढकी मिट्टी सेवार की भीगी गंध से चारो दिशाओ को भर देती है—घोडे की टाप के नीचे घास-पात और जंगली फ़र्न कुचल जाते है, मैं अन्यमनस्क होकर लगाम पकडे रहती हूं, और वन मे चलते-चलते मन सहसा उदास हो जाता है—उस गृहत्यागी राजकुमार

की बात याद हो आती है जिसने कहा था : 'एकाकी हयमारुह्य जगाम गहनम् वनम् ।' कहाँ, किसके साथ चली जा रही हूँ मैं ? ये सब तो छाया-मूर्ति हैं, तो क्या मैंने ऐसा ही जीवन चाहा था ? हा ईश्वर, कीड़े-मकोड़े भी साथ पाते हैं, पर मुझे तूने एक साथी भी नहीं दिया ? अवसाद दूर हो जाता है जब वन के भीतर से निकलकर हठात् उपलशयना, कल-निनादिनी जलधारा वाली पार्वत्य नदी देख पाती हूँ। स्रोत के बीच-बीच में पत्थरों से अटक जाने से जहाँ कुंड-सा बन जाता है, उसमें कूदकर हम लोग नहाते हैं। 'तीता पत्ता' नाम का एक तरह का सुगन्धित पत्ता होता है—हम लोग उसे पत्थर से कुचल कर पानी में फेंक देते हैं, उस पानी को पीकर मछलियाँ मतवाली हो उठती हैं और तब हम लोग उन मछलियों को पकड़ लेते हैं। पत्थरों का चूल्हा बनाते हैं, फिर उसमें लकड़ी-तिनके डालकर आग जलाते हैं और मछलियाँ भूनते हैं। नदी के बीचोंबीच बड़ी-बड़ी चट्टानें हैं, उन चट्टानों की बग़ल से होकर बहुता जल चक्कर खा-खाकर फेनिल हो उठता है, उन चट्टानों पर बैठ, मेरा 'सागरिका' नाम की कविता पढ़ने को जी चाहता है : 'बैठे थे उपल उपकूल पर ।'

'मैकडोनाल्ड, जावा नाम का एक द्वीप है, जानते हो ?'

'हाँ, खूब जानता हूँ, वहाँ तो चाय की खेती होती है।'

'ओ, तो बस, इतना भर ही जानते हो, वहाँ बहुत पहले भारतीय सभ्यता पहुँची थी, और पहुँची थी स्याम में भी, यह जानते हो ?'

'नेवर हर्ड ऑफ़ सच ए थिंग[1]—अँग्रेज़ों के आने के पहले भारतीय सभ्यता नाम की कोई चीज़ थी भी क्या ?'

यही तो बड़ा मुश्किल है ! इन लोगों के साथ बात की भी जाये तो कैसे ? वैसे ही मेरे पति तो आसानी से कुछ बोलना ही नहीं चाहते हैं, फिर तर्क-वितर्क में क़तई नहीं पड़ना चाहते हैं, लेकिन बाध्य होकर उन्हें भी कभी-कभी दो-एक बात कहनी ही पड़ती हैं।

---

1. 'Never heard of such a thing.'

मैकडोनाल्ड कहता है, 'तुम लोग तो पढ़े-लिखे हो, काफी बुद्धिमान भी हो, फिर ईसाई क्यों नहीं बन जाते? ईसाई बने बिना तुम लोग जीवन-यात्रा में सुरक्षित कैसे रहोगे?'

उन्होंने कहा, 'हम लोग अल्पसंख्यकों के दल में शामिल होना नहीं चाहते।'

'मतलब?'

'मतलब कि दुनिया की जनसंख्या कितनी है, पता है?'

'नहीं। कितनी है?'

'दो अरब—पर इनमें से ईसाई कितने हैं, बताओ तो?'

'पता नहीं। कितने हैं?'

'शायद साठ करोड़ होंगे। तो अब बताओ कि मेजॉरिटी के साथ रहना अच्छा नहीं है क्या?'

धीरे-धीरे दो-चार लोगों ने हमारे यहाँ आना शुरू किया है। सगे-सम्बन्धियों को लगातार बुलाया करती हूँ, छुट्टी मिलते ही कोई-न-कोई आते हैं। इस इलाके में कोई आते हैं, तो मेरा अनुरोध मानकर उन्हें हमारे घर आना ही पड़ता है। काम से भी बहुत-से लोग आते हैं। अतिथि मेरे घर आते हैं, तो खुश होते हैं। यद्यपि चीजें अठारह मील दूर से मँगानी पड़ती हैं, फिर भी खाने की चीजों की कमी नहीं रहती मेरे यहाँ। हर समय भरपूर खाने की चीजें मैं रखा करती हूँ। सुसज्जित घर में अतिथियों के लिए अच्छा भोजन बनाकर मैं तृप्ति पाती हूँ। उनके बिस्तर को चीनांशुक से ढककर रखती हूँ और तकिये पर लैवेंडर छिड़क देती हूँ। ऐसी कोशिश करती हूँ कि एक बार जो मेरे घर में ठहरे, वे हमें कभी भुला न पायें। नींद टूटते ही वे देखते हैं कि उनके बिस्तर की बगल में भड़कीले पात्रों में चाय मौजूद है, दरवाजे के पास पॉलिश किये जूते उन्हें मौजूद मिलते हैं, नहाते समय गुसलखाने में इस्त्री किये कपड़े मौजूद पाते हैं। पहले दो-तीन दिन तक तो सभी बहुत ही खुश नज़र आते हैं, कहते हैं: 'बड़े आनन्द में हो तुम लोग! ऐसा लगता है, जैसे किसी फर्स्ट क्लास

होटल में ठहरे हुए हो।' लेकिन उसके बाद सप्ताह बीतते-न-बीतते ही सभी यहाँ की निर्जनता का अवसाद समझने लगते हैं और तब भागने के लिए उतावले हो उठते हैं।

एक बार सर बी० एल० मित्र पधारे थे, मुझे देखकर तो वे सकते में आ गये थे, 'तुम यहाँ रहती हो! यह मैं क्या देख रहा हूँ, अशोक-वन में सीता!' किन्तु यह उपमा ठीक नहीं है—मुझे किसी ने बन्दी नहीं बनाया है। यहाँ कोई रावण नहीं है।

घर-संसार के कामों में मेरी कर्म-शक्ति खत्म नहीं होती है, मैं उसे और अनेक कामों में लगती हूँ। साहबों से मैंने सीखा है मुर्ग़ी-पालन; उस समय मुर्ग़ी-पालन की विशेष विलायती पद्धति शुरू हुई थी। सीखा है मधुमक्खियों को पालना। मधुमक्खियों के जीवन के बारे में मैंने इतना पढ़ा है कि उनका जीवन-वृत्तान्त मुझे कंठस्थ हो गया है।

यहाँ कितने प्रकार के विचित्र-विचित्र पतिंगे हैं। भले ही वे मनुष्य के काम न आते हों, लेकिन उनका भी निजी जीवन मूल्यवान है—आश्चर्यजनक है एक-एक का रूप, विचित्र है उनका व्यवहार।

पहाड़ पर जहाँ घना जंगल है, वह जगह हमेशा सीलन भरी रही है, क्योंकि वहाँ कभी धूप नहीं पड़ती है। वहाँ पेड़ों की डालों में काई जम जाती है, जिसे मॉस कहते हैं—लम्बे-लम्बे मॉस पेड़ों की डालों से लटकते रहते हैं, मानो पेड़ों की डालों ने अपने खुले बाल लटका दिये हों! यहाँ कुछ ऐसे पेड़ हैं, जिनसे रोशनी निकलती है—अंग्रेजी में इन्हें फ़ॉस्फ़ोरेसेंट प्लांट्स कहते हैं। मेरे पिताजी ने मुझसे खोजकर देखने को कहा था कि पुराणों में जिसे दिव्यौषधि कहा जाता है, वह यहाँ है कि नहीं? यह दीप्य-मान औषधि मैंने देखी है। जुगनू जैसे कुछ कीड़े हैं जिनकी पीठ पर तीन क़तारों में तीस बत्तियाँ हैं—हर क़तार में दस-दस। ये कल्पनातीत जीव हैं। और, तितलियाँ? छोटी-बड़ी विचित्र-सी रंग-बिरंगी तितलियाँ यहाँ हैं—कुछ रंग-रहित बड़ी-बड़ी भयंकर आँखों, धूसर देह वाले पतिंगे भी।

फुलवारी में तितलियाँ उड़ती हैं, उनके साथ ठीक उन्हीं की तरह रंगीन एक बच्ची उड़ती-सी भागती फिरती है उन्हें पकड़ने के खयाल से, और कहती है—'तितली,' 'तितली'। वह है मेरी बेटी—1936 ई०

है—यह है प्रकृति का स्वाँग ! एक बार ज्योतिप्रकाश सरकार वैसा ही एक कीड़ा कागज के एक बक्से में लेकर आ रहे थे बोस इन्स्टिट्यूट में दिखाने के खयाल से, वह कीड़ा जब मर गया तब भी वह एक सूखे पत्ते-सा प्रतीत होता था, पर जब उसे चींटियाँ घेरने लगीं तभी लोगों ने समझा कि वह एक प्राणी है।

ऐसे ही एक अंचल में मेरे दिन कट रहे हैं। यहाँ देखने को बहुत-कुछ है—वर्ण, गन्ध और रूप का यहाँ एक समारोह-सा है जिसे देखने लायक़ मेरी आँखें धीमे-धीमे लेकिन प्रतिदिन तैयार हो रही हैं। 'फिर भी'! इस 'फिर भी' ने मुझे किसी दिन भी नहीं छोड़ा—कभी आधी रात के वक़्त मैं उठ आती हूँ अपने पति की शैया पर से, आकर बरामदे में बैठी रहती हूँ और मन-ही-मन अपने परिचित लोगों के बारे में सोचा करती हूँ—वे लोग निश्चय ही अपनी-अपनी स्थिति से सन्तुष्ट हैं, फिर मैं ही क्यों नहीं सन्तुष्ट हूँ अपनी स्थिति से ? मैंने तो सब-कुछ पाया है, तो भी मेरी शून्यता दूर होने का नाम क्यों नहीं लेती है ? मुझे लगता है, मैं जो कुछ करने आयी हूँ, वह जैसे कर नहीं पायी, मैं जो कुछ कहने आयी हूँ, वह जैसे कह नहीं सकी, मैंने जो कुछ चाहा है वह जैसे मुझे मिला नहीं—इस अनिर्दिष्ट आकांक्षा का, इस चिर-अतृप्ति का कोई नाम नहीं है, क्योंकि यह शायद बहुत स्वाभाविक चीज नहीं है, यह तो जैसे सुख से रहकर दुःख की सृष्टि करना है, तो भी मुझे वैसा ही लगता है। मायाकोव्स्की की एक कविता मैंने पढ़ी थी उसमें जैसे मेरे उस समय के मन का भाव मौजूद है—'सुनो अब! यदि आकाश में तारे चमकते हैं, तो फिर निश्चय ही कोई है जो उन्हें देखना चाहता है, ऐसा कोई है जो कहता हो, वे चमकें, कोई कहता है, आखिर वह छोटा-सा विन्दु क्या है, तो क्या वह एक रत्न है ? दोपहरी की धूल भरी आँधी से आक्रान्त होकर ईश्वर के फैले हाथ को चूमकर वह कहता है, तारा-हीन होकर मैं जी नहीं सकूँगा !'

अँधेरी रात की ठंडी हवा में मैं आकर अकेले बरामदे में खड़ी रहती हूँ—एक तारे को देखने के खयाल से। 'आकाश के चमकते तारों के बीच मेरा तारा कहाँ है ?'

यदि कोई यह सोचे कि जिस कहानी में यह रचना शुरू हुई थी इस वेदना में उसी की स्मृति अनुस्यूत है, तो वे भूल करेंगे, बड़ी भारी भूल करेंगे। मेरा यह शून्यता-बोध किसी एक व्यक्ति के लिए नहीं है, बिलकुल ही नहीं है। इस शून्यता का अर्थ मैं जानती हूँ—मैं और किसी को नहीं, अपने-आपको ही ढूंढ रही थी। मेरी सत्ता का जो अंश अपने-आपको अभिव्यक्त नहीं कर पाया था उसी की वेदना मेरे कलेजे को कचोटती थी। मेरा मन्द मन प्रसन्न-चित्त से घर-संसार में लिप्त था। जब संध्या उतरते ही बैरा दरवाजे-खिड़कियां बन्द करके फ़ायर-प्लेस में मोटी-मोटी लकड़ियां डालकर आग सुलगा जाता तो मैं आग तापते-तापते बैठी रहती और सलाइयां डालकर ऊन बुनती और मेरे पति किसी किताब के पन्ने उलटते रहते। हम दोनों ही चुप रहते। उस समय मैं किसी सूक्ष्म चीज के बारे में नहीं सोचती थी। किसी के लिए मेरा मन भी नहीं भटकता था। बस, पति की पदोन्नति, उनके बड़े अधिकारियों द्वारा किये गये अन्याय और अपनी बेटी की खाने-पीने के प्रति अनिच्छा आदि को लेकर चिन्तित होती—अथवा किसी नये फ़र्निचर के नक़्शे के बारे में सोचा करती।

जीवन के बारे में लिखते समय सोच रही हूँ कि इस जीवन में तो कोई कहानी ही नहीं है—भला रहे भी तो कैसे? कहानी बनती है मनुष्य के आपसी सस्पर्श और संघर्ष से अथवा कर्म-बहुल जीवन की [illegible] घटनाओं से, भला प्रकृति कौन-सी कहानी गढ़ेगी? यहाँ जो घटनाएँ घटती हैं वे भले ही भावात्मक हों, मगर उन्हें लेकर जीवन की कहानी नहीं रची जा सकती, जैसे दावानल जलता है हर वर्ष। 'दावानल' शब्द को काव्यों में बहुतों ने पढ़ा है, पर देखा कितनों ने है? [illegible] के पेड़ वन में पत्ते सूख-सूखकर ईंधन बन जाते हैं, फिर सहसा [illegible] डालियों की रगड़ से चिनगारी जल उठती है, अथवा कोई [illegible] असावधानी से जलती चिनगारी छोड़ जाता है, तो उन सूखे पत्तों में आग लग जाती है और धीरे-धीरे धुआँ-धुआँ कर वही आग [illegible] है। उसके बाद जब तमाम पहाड़ जलने लगता है तो यही [illegible] नजर आता है। एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर, एक पहाड़ से दूसरे पहाड़ पर, फिर भूखे अग्निदेव छलांग-पर-छलांग लगाते चलते [illegible]

के भागने की राह नहीं रहती, सिर्फ़ उनका आर्तनाद सुनायी पड़ता है। एक बार दावानल भड़क उठता है, तो फिर उसे बुझाया नहीं जा सकता। उसको बुझाने का एक मात्र उपाय है एक गोलाकार में चारों ओर के तमाम पेड़ों को काट देना, जिससे आग फैल न सके। इस खतरनाक काम में मेरे पति को भी कभी आगे आना पड़ा है। कारण, किसी बुद्धिमान व्यक्ति का परामर्श आवश्यक रहता है। मनुष्य की बेवक़ूफी किस हद तक जा सकती है, यह प्रायः ही यहाँ देखने को मिलता है। एक रास्ते को चौड़ा करने के लिए मजदूर मिट्टी काट रहे थे। ऊपर एक बड़ी-सी चट्टान थी। उस चट्टान के नीचे की मिट्टी को काट-काटकर उसे बेलाग कर दिया था, फलस्वरूप वह बड़ी-सी चट्टान लुढ़क गयी। और वे दोनों मजदूर उसके नीचे दब गये। मेरे पति खबर पाकर उधर भागे। सुना कि वे दोनों मजदूर पूरे तौर पर उसके नीचे दबकर मर गये थे, सिर्फ़ एक का एक हाथ बाहर दिखायी पड़ता था। ये तो अपनी आँखों से देख आये थे, पर मैं उस एक मरे, पत्थर के नीचे से बाहर निकले हाथ की बात बहुत दिनों तक भुला नहीं पायी।

आदिम अरण्य की बात कह रही हूँ—आदिम अर्थात् जो पेड़ धरती पर पहले-पहल उगे थे वे यहाँ हैं—यानी कि 'कोयला-युग' में जो पेड़ मिलते थे वे पेड़ आज भी यहाँ हैं। वे हैं—ट्री फ़र्न हैं तो फ़र्न जैसे ही, पर हैं बड़े-बड़े खजूर के पेड़ की तरह। यहाँ ऐसे-ऐसे भी घने वन हैं जहाँ अभी मनुष्य ने अपना क़दम नहीं रखा है। ऐसे एक वन को आबाद करने की कोशिश की जा रही है। हाथी की पीठ पर सवार होकर लोग आबाद करने लायक़ जमीन की खोज में निकलते हैं। यहाँ पेड़ों को काटकर गिराने के लिए किसी तरह की मशीनें नहीं है। गोरखे बड़े-बड़े पेड़ों को कुल्हाड़ी से काटकर गिरा देते हैं। प्रायः ही कोई-न-कोई दुर्घटना हुआ करती है। इन गोरखों का धैर्य और सहने की शक्ति बेजोड़ है—यदि नीम-हकीम बिना एनिस्थीसिया के इनकी हड्डियों को काटे, तो ये चुप्पी साधे रह सकते हैं! कलकत्ता के चमक-दमक वाले परिवेश से मैं यहाँ अपने जीवन के श्रेष्ठ समय को बिताने आयी हूँ!

इस ठेठ देहात में टेलीफ़ोन की बात तो दूर, एक टेलीग्राफ़ ऑफ़िस तक नहीं है—नदरैल की छत के कमरे का एक मरदाना है, जहाँ एक नीम-हकीम बैठा करता है। टेलीग्राफ़ ऑफ़िस है, पर तलहटी में, साठ-आठ मील दूर पर। इस दुर्गम इलाक़े में आने के लिए छः मील तक ऊँचे पहाड़ों के बहुत सँकरे रास्ते से होकर गुज़रना पड़ता है। इस रास्ते से गुज़रते समय गाड़ियाँ क़रीब-क़रीब खड़ी-सी दीखती हैं और किसी-किसी सँकरे घुमाव पर तो खाई की ओर सिर्फ़ दो-तीन इंच ज़मीन बाक़ी बचती है।

किन्तु मुझमें साहस पैदा हो रहा है, अनभिज्ञता का साहस। मैं इस अगम्य स्थान पर आने के लिए कवि को बुला रही हूँ—यद्यपि वे, कुछ दिन हुए, दारुण इरिसिपेलस रोग से चंगे हुए हैं। मेरी चिट्ठी पाकर उनकी धारणा हो रही है कि मैंने अपनी प्रतिज्ञा रखी है और अब उन्हें अपना वचन रखना होगा। माँ की एक चिट्ठी पाकर मेरा उत्साह और बढ़ गया है। माँ ने लिखा है : 'हम लोग 'चंडालिका' देखने गये थे। नाटक ख़त्म होने पर जब हम लोग कवि को प्रणाम करने गये, तो वे बोले : अमृता तो अब यह सब-कुछ देख नहीं पाती है—कहाँ तुम लोगों ने उसे भेज दिया, सुधा ?' माँ ने और भी लिखा है : 'मुझे लगता है, हम लोगों को देखने पर तुम्हारे लिए उनका मन कैसा-कैसा करता है !'

माँ की चिट्ठी पाकर मैंने फिर उन्हें आने के लिए लिखा। मैं साधारणतः उन्हें ज़्यादा चिट्ठियाँ नहीं लिखती। कारण, मैं तो जानती हूँ, चिट्ठी दूँगी, तो उत्तर दिये बिना वे रह नहीं सकते हैं। किन्तु इतने कामों के बीच हज़ारों लोगों के हज़ारों आग्रह रखने से वे व्यस्त रहते हैं, फिर मैं क्यों उनका परिश्रम बढ़ाऊँ ? किन्तु अभी मैं लिख रही हूँ, ऐसी चिट्ठी लिख रही हूँ जिससे वे सोचें कि मैं बिलकुल आनन्द के ज्वार पर तिर रही हूँ।

उनके आने की बात तय हो जाने के बाद से उनके आने तक के बीच के दो-तीन महीने के समय में उसी ज्वार की तरंग उछाल रही है। इस पहाड़ या आस-पास के पहाड़ों पर जो दो-चार घर बंगाली हैं, वे सभी चमत्कृत हो रहे हैं। अभी नाते-रिश्तेदारों में से बहुतों की ही इच्छा है मेरे ही घर में आकर रहने की, लेकिन मैं किसी तरह की भीड़

नहीं चाहती हूँ।

हम लोग अपने सजे-धजे घर को फिर से सजा रहे हैं—झाड़-पोंछ, धुलाई-सफ़ाई तो कर ही रहे हैं, साथ ही फूलों की क्यारियों को छांट रहे हैं, लॉन की घास को चुन रहे हैं, गमलों को रंग रहे हैं, पर्दों को बदल रहे हैं। मैंने तो 'कनक मन्दिर में बिछाया है कमलासन'। इस निर्जनता में मेरा अवसाद पता नहीं कहाँ भाग गया है! जिस झरने का झर-झर शब्द मुझे हैरान किये रहता था, अब उसके अर्थ बदल गये हैं। वह अब कलकल-ध्वनि हो गया है, और दल-के-दल झींगुर जो दिन-रात झीं-झीं-झीं करके मेरे माथे में किसी पेंचकस की तरह चला-घूमा करते थे हठात् उनकी झीं-झीं-झीं, झिल्ली-रव हो गयी है। सिलवर फ़र के पत्तों के भीतर से होकर जो झंझा सांय-सांय करके अरण्य का दीर्घश्वास लेकर आया करती थी वह भी स्वर्ण-वीणा की भाँति बजने लगी है: 'तुम आओ, आओ हृदय में, हृदय-वल्लभ हृदयेश।'

उन्नीस सौ अड़तीस ईस्वी से उन्नीस सौ चालीस ईस्वी तक के तीन वर्ष हैं मेरे जीवन के आलोक-वर्ष या अ-लोक-वर्ष! मैं इस अवधि की बात यहाँ नहीं लिख रही हूँ, सिर्फ़ अपने अन्तर्जीवन के प्रवाह की गति का निरूपण कर रही हूँ। समय की सापेक्षिकता को मैं बहुत तरह से समझ रही हूँ—इन तीन वर्षों में जब वे आते हैं या लौटकर फिर आयेंगे, इस समय के बीच कोई अन्तराल नहीं है। यह ऐसा अखंड समय है जो मेरे सारे जीवन की चिर-अतृप्ति के बीचोंबीच हाथ में अमृत-पात्र लिये स्थिर है, अचंचल है और जिसने मेरे तुच्छ जीवन को महत्व प्रदान किया है, मूल्यवान बनाया है।

यह गृहस्थी उन्हें अच्छी लग रही है। मैं पिछली रात में उठकर तैयार हुआ करती हूँ—जब वे भोर में पूर्वमुखी होकर घंटा-डेढ़क घंटा बैठे रहते हैं। मैं उनकी कुर्सी की बग़ल में आकर बैठती हूँ, इसी तरह से मेरा दिन शुरू होता है और खत्म होता है तब जब उन्हें बिस्तर पर लिटा कर उनके बदन पर चादर उढ़ाती हूँ और बिस्तर पर मसहरी लगा देती

हैं। घर में इनके रहने का मतलब ही है कि यहाँ सर्वदा एक राजसूय-यज्ञ हो रहा है—इतनी निर्जन जगह में भी अचानक दिन के दस-ग्यारह बजे ढेर सारे लोग आ उपस्थित होते हैं रास्ता ढूँढ-ढाँढकर—पहले खबर देकर आने की गुंजाइश नहीं है, क्योंकि यहाँ तो टेलीफ़ोन नहीं है। पर तब मैं लोगों के ऐसे अचानक आ धमकने से हार नहीं मानती हूँ। उनके खाने-पीने का इन्तज़ाम अच्छी तरह ही करती हूँ। निर्जनता भाग गयी है इस पहाड़ी गाँव से—घर में सर्वदा एक संगीत-समारोह-सा हो रहा है, उसकी अनुगूँज न सिर्फ़ मेरे मन में, बल्कि सभी के मन में है। मेरे पति भी पहले से अधिक बातें करने लगे हैं, चुटकियाँ लेने की उनकी रसिकता में भी बढ़ोतरी हुई है। चारों ओर की हवा मानो सूक्ष्म से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर हो उठी हो; मानो हम लोग उड़ रहे हों, धरती पर से ज़रा ऊपर उठे हुए। मैं उनका सारा काम अपने हाथों करती हूँ। उनकी रचनाओं की प्रति-लिपि तैयार करने से लेकर उनकी मेज़ की सफ़ाई और बिस्तर बिछाने तक का काम मैं खुद अपने हाथों करती हूँ। चाँदी की थाली माँजती हूँ; उनकी चप्पलें पॉलिश करती हूँ। घरेलू नौकरों को यह देखकर अचरज होता है—कारण पहले उन्होंने ऐसा कभी देखा नहीं है। जिस कमरे में वे बैठकर लिखते हैं उस कमरे की बग़ल में उनका स्नान-घर है, और उसी की बग़ल में उनके सोने का कमरा। एक दिन मैं स्नान-घर में बैठकर उनके कपड़े धो रही थी, बग़ीचे की तरफ़ वाला दरवाज़ा खुला हुआ था। बग़ीचे के रास्ते से होकर जाते-जाते 'आ' बाबू हठात् देख पाये, तो तेज़ क़दमों से आगे बढ़ आये—'यह क्या कर रही हैं आप? आप कपड़े क्यों धो रही हैं? इतने सारे लोग आख़िर क्या करने के लिए हैं?'

मैं बड़ी मुश्किल में पड़ गयी। चुपचाप जल्दी से अपना काम निबटा लेने की कोशिश कर रही थी।

'छोड़ दीजिये! छोड़ दीजिये! यह क्या कर रही हैं आप? ये नौकर सब आख़िर गये कहाँ?'

'आप चले जाइये, 'आ' बाबू। मैं रोज़ कपड़े धोया करती हूँ, आज भी धोऊँगी।'

'आप रोज़ कपड़े धोया करती हैं?'

'हां, पर इससे आपको कोई आपत्ति है ?'

'पर अगर उन्हें मालूम हो जाये, तो वे बहुत गुस्सा करेंगे।'

'मगर उन्हें मालूम होगा कैसे ?'

'मैं जो बता दूंगा उन्हें,' यह कहकर 'अ' बाबू ने हठात् उनके लिखने-पढ़ने के कमरे की तरफ़ वाले दरवाज़े को खोल दिया। उसके बाद कवि को लक्ष्य करके कहा, 'देखिये न, अमृता देवी आपके कपड़े धो रही हैं बैठे-बैठे। और मेरी एक नहीं सुन रही हैं।'

मैं तो घबरा गयी। मेरे कान गरम हो उठे थे, मैं कपड़े धोना छोड़कर अपराधी की भाँति खड़ी थी। वे कुर्सी की पुश्त से टिककर एक किताब पढ़ रहे थे। किताब को मुँह के सामने से हटाया, और यह दृश्य देखकर मन्द-मन्द हँसे। 'तू चुप रह 'अ', तू इस सबके बारे में कुछ समझता है ? दरवाज़ा बन्द कर दे और चला जा। तुम अपना काम करो अमृता, तभी तो मैं सोचता था कि मेरे कपड़े आजकल इतने साफ़ कैसे होते हैं !'

दरअसल बात निश्चय ही इससे उलटी थी। मैं नौकरों से अच्छे कपड़े धो सकी थी, ऐसी बात नहीं थी—किन्तु सिर्फ़ मुझे पुरस्कृत किया गया था !

इस ठेठ देहात में कवि तीन वर्षों में चार बार आये थे—और पाँचवीं बार यहाँ आते समय कॅलिम्पोंग में बीमार हो जाने की वजह से वे फिर यहाँ नहीं आ सके। इन तीन वर्षों के परिपूर्ण दान से मेरी सारी क्षति की पूर्ति हो गयी—इन्हीं तीन वर्षों में मेरी वह सत्ता तैयार हुई है जिसने अपने-आपको समय की सीमा का अतिक्रमण करके देखना सीखा है—मैंने अनिर्वचनीय का अनुभव किया है—'मरण को पार कर वह मेरे साथ जायेगा केवल रस में, केवल सुर में, केवल अनुभाव में।' इस दान की महिमा तब अच्छी तरह समझ में नहीं आयी थी। इस दुर्गम स्थान में वैसे खतरनाक रास्तों को पार करके आना क्या कोई आसान बात है ! मेरे बहुत नज़दीकी रिश्तेदारों में से, जो उनसे कम उम्र के थे, वे भी यहाँ

आने का साहस नहीं करते थे। किन्तु चिर-तरुण कवि ने बाहरी बाधा-विघ्नों की परवाह नहीं की। मेरे लिए और भी जो आनन्द की बात थी और जिसे 'आ' बाबू प्रायः ही याद करा दिये करते थे, वह यह कि वे इसके पहले एक जगह दोबारा नहीं गये थे।

इस निर्जन अरण्य में विश्वकवि के साथ-साथ विश्व भी आया; मुझे दुनिया के मनुष्यों का साथ मिला। उनसे मैं देश-विदेश की कहानियाँ सुनती। वर्गसाँ, जिनका दर्शन पढ़ा है, एक जीवित मनुष्य हैं, यह कभी सोचा नहीं था—उनके बारे में सुना। बर्नार्ड शॉ, रोम्याँ रोलाँ, बर्ट्रेंड रसेल आदि सभी, जो अब तक किताबों की जिल्द के नाममात्र थे, तरह-तरह की बातें करने लगे। एक अज्ञात विश्व से मेरा परिचय होने लगा। सबसे अधिक सुनती रूस के बारे में। वहाँ जो नया परीक्षण किया जा रहा था उसके प्रति उनके आग्रह का अन्त नहीं था। बृहदाकार 'मास्को न्यूज़' की कोई प्रति मैंने उन्हीं के पास पहली बार देखी। उसके तीन निबन्धों का उन्होंने मुझसे अनुवाद करवाया, फिर वे विभिन्न पत्रिकाओं में छपने के लिए भेजे गये। सब तरह से पूर्ण होती जा रही हूँ मैं—मुझे सच्चे अर्थ में आदमी बना रहे हैं वे। उन्होंने कहा था : मनुष्य का इतिहास पढ़ो, इसलिए छः वर्षों तक महाभारत पढ़ा, दो वर्ष ऋग्वेद और पाँच वर्ष "हिस्टोरियन्स हिस्ट्री ऑफ द वर्ल्ड'।

हमारी यह घर-गृहस्थी कुल मिलाकर उन्हें अच्छी लगी है—मेरे पति को को वे 'परफेक्ट जेंटलमैन' कहते हैं। बाहर सुन्दर प्रकृति और उसके सहयोगी व्यक्ति का साख्य—इन दोनों को लेकर एक विचित्र सम्पूर्णता मुझ पर छायी है।

मेरे पति भी अब पहले से अधिक बातें करते हैं। मैंने एक दिन उनसे पूछा—'मैं जो सर्वदा इन्हें लेकर इतनी डूबी रहती हूँ इससे आपको ईर्ष्या नहीं होती है ? हँस क्यों रहे है ? बताइये न, बताइये भी।'

'ईर्ष्या क्यों होगी ? तुम जो हो, हो। मैं तुम्हें बदलना क्यों चाहूँगा ?'

'तो भी ईर्ष्या तो हो ही सकती है !'

"इससे लाभ ? तुम यदि मीरा बाई होतीं, तो क्या मैं ईर्ष्या करता !"

एक दिन लिखने-पढ़ने के कमरे में कवि बैठे हुए थे। लिखने की मेज के पास वाली कुर्सी पर मैं नहा-धोकर पीछे आ खड़ी हुई थी। चारों ओर उस दिन धूप झिलमिला रही थी—दूर पर मछलियों के लिए एक जलाशय बनवाया था, उसी के बाँध से सटकर खिली थीं टाइगर-लिली, उनकी लम्बी, रंगीन क़तारों की ओर वे नजर टिकाये हुए थे, कह रहे थे, 'इन सुन्दर फूलों की क़तारों को क्या ही सजाया है—कौन है वह विदेशिनी ?'

'पर वे तो जंगली लिली हैं। अभी तो कुछ भी फूल नहीं हैं, जाड़े के समय तो फूलों का समारोह-सा होता है।'

'जानती हो अमृता, तुम बहुत सुन्दर ढंग से घर-गृहस्थी चला रही हो, मैं जानता था, तुम ऐसा कर सकोगी। जब पहली बार यहाँ आने की बात उठी, तो सभी ने कहा, क्या पता, कैसा इन्तजाम होगा वहाँ, आपको तकलीफ़ होगी। पर मैं सोच रहा था—आखिर उसे तो पता है कि मेरे लिए क्या-क्या जरूरी है, निश्चय ही कोई असुविधा नहीं होगी, वरना वह मुझे क्यों बुलाती ? तुम्हारी यह सुन्दर गृहस्थी वेग से उस बढ़ते हुए झरने की तरह गाती हुई चली जा रही है। मुझे क्या सबसे अच्छा लगता है, जानती हो अमृता ! वह यह कि तुम दोनों झगड़ते नहीं—देखता तो हूँ, 'प' और 'र' को झगड़ते हुए। वे आपस में बहुत झगड़ते हैं। झगड़ना शुरू करते हैं, तो फिर रुकने का नाम ही नहीं लेते हैं। आखिर 'प' हारकर चुप हो जाता है, लेकिन 'र' तो क़तई नहीं रुकती है, सर्पिणी की भाँति बार-बार लौटकर फुंफकार करती है।'

'तो आप उनसे कुछ कहते नहीं ?'

'बहुत कुछ कहता हूँ, मगर उनके कानों पर जूँ तक नहीं रेंगती। सुन्दर ढंग से गृहस्थी बसाना भी एक कला है, एक काव्य है। फूलों के इस राज्य में फूल-जैसे एक शिशु को लेकर तुम लोग सुख से हो—इससे मैं बहुत खुश हुआ हूँ अमृता, इसीलिए तो बार-बार आता हूँ...।'

कुर्सी के पीछे खड़ी थी मैं। मेरा तन-मन निस्पन्द था, सच्ची बात बतानी होगी मुझे, अभी बतानी होगी, नहीं तो अपना सारा जीवन व्यर्थ

झूठ से मढ़े रहेंगी ?

'पर आप जो कुछ देख रहे हैं, वह सच नहीं है। आपको ठग रही हूँ मैं।'

'क्या कह रही हो ?' उन्होंने पीछे की ओर हाथ बढ़ाया और खींचकर लाये मुझे सामने की ओर। 'क्या कहती हो ? किसे ठग रही हो ?'

'सबको। कुछ नहीं कर पायी हूँ मैं। सब-कुछ ऊपरी है, बाहरी है, दिखावा है। आधा तो झूठा है—मेरी सूनी रात का कोई साथी नहीं है।' मैं सब प्रस्तुत थी, पूरे तौर पर प्रस्तुत थी—वे अगर डाँटें-फटकारें, तो अच्छा हो।

'क्यों निरर्थक आत्म-पीड़न की कोशिश कर रही हो ? मैंने तो तुमसे पहले भी कहा है, और आज फिर कह रहा हूँ, मनुष्य अपने-आपको जो दे सकता है वह देश, काल और पात्र में सीमाबद्ध है—सब-कुछ लिया नहीं जा सकता है, मिलता भी नहीं है, इसीलिए जो नहीं मिला उसके लिए हाय-तोबा मचाने से फायदा ? जो मिला है वही क्या काफ़ी नहीं है ?' फिर उन्होंने फूलों की क़तार की ओर हाथ बढ़ाकर दिखाया और कहा, 'यह जो तुमने किया है इसी के लिए मैं नतमस्तक हूँ महोदया, आपका आभारी हूँ।'

इन सब बातों के बावजूद मैं समझती थी कि इस गहरी निर्जनता में कितना दबाव है, इसे वे समझते थे—इसीलिए तो हर बार ही जाते समय हम लोगों को भी साथ-साथ उतरना पड़ता था। हम लोग सूने घर में बैठे रहेंगे और वे इतने लोगों के साथ चले जायेंगे, यह उनका करुणाद्रवित मन हरगिज़ सहन नहीं कर सकता था। इसीलिए जाने के कुछेक दिन पहले से ही वे कहना शुरू करते थे—इससे तो न आना ही अच्छा होता; आकर तो तुम लोगों का कष्ट ही बढ़ा देता हूँ, अब मैं नहीं आऊँगा।

एक बार जाने के पहले चीज़ों को समेटा जा रहा था, मैं किताबों को सूटकेस में भर रही थी कि तभी हठात् मेरा मन कुछ अजीब हो उठा।

वे कुर्सी की पीठ से टिककर किताब पढ़ रहे थे। मैं आकर उनके पैरों के पास बैठ गयी और उनकी गोद पर माथा रखकर रोने लगी। उनके दाहिने हाथ में किताब थी। उसे उन्होंने बायें हाथ में लिया और दाहिने हाथ को मेरे माथे पर रखकर कहा, 'कोई डर नहीं, कोई डर नहीं'—ठीक उसी समय 'सु' बाबू कमरे में घुसे, घुसकर मुझे उस तरह रोती देखा, तो वे सकते में आ गये। मैं समझ रही थी कि कवि भी ठक् से रह गये थे—मेरे बालों में उनकी चलती हुई उँगलियाँ थम गयी थीं। प्रकट रूप से आवेग दिखाना उन्हें पसन्द नहीं था। क्षण-भर वे मौन रहे, उसके बाद बड़े सहजभाव से बोले, ''सु', तू भला इस सबका गवाह रहकर क्या करेगा, बल्कि अच्छा है कि तू मीलू को बुला दे।' मीलू ने आते ही मुट्ठी भर मेरे बालों को पकड़ा और खींचा, 'यह क्या पागलपन शुरू किया है? उन्हें इस तरह तंग करोगी, तो वे फिर किसी दिन यहाँ नहीं आयेंगे।'

कवि कह रहे थे, 'पर तुमने तो कुछ उलटा ही समझ लिया, मीलू। मैंने क्या अमृता के हाथ से बचाने के लिए बुलाया है तुम्हें? मैंने तो बुलाया था 'सु' के हाथ से बचाने के लिए!'

उस दिन शाम को मुझसे उन्होंने एक बात कही थी। बहुमूल्य रत्न की भाँति उस बात को मैं हृदय में धारण किये हुए हूँ। शाम होने को आयी थी, लम्बे-लम्बे पेड़ अन्धकार को सोखकर काले-काले दीर्घकाय प्रेतों की भाँति खड़े थे। दूसरे दिन वे चले जाने वाले थे, मैं चुपचाप उनके पैरों के पास बैठी हुई थी। तब तक सब लोग घूम-फिरकर लौटे नहीं थे, इसीलिए चारों ओर और भी निस्तब्धता छायी हुई थी। हठात् कवि ने कहा, 'मैं तुमसे एक बात कह रहा हूँ, अमृता! इससे अगर तुम्हें कोई सांत्वना मिले—जीवन में मैंने बहुत कुछ पाया है, लेकिन श्रद्धा, भक्ति और प्यार-मिश्रित जो अर्घ्य तुमने मुझे दिया है, वैसी चीज मैंने भी ज्यादा नहीं पायी है। दुनिया से विदा होने के पहले मुझे भी इसकी ज़रूरत थी, वरना बार-बार मैं यहाँ नहीं आता!'

वे जानते थे कि मेरी कर्म-शक्ति तो पहाड़ों की कन्दराओं में अटकी हुई है और यही मेरी सबसे बड़ी क्षति है। वैसे भी हमारे देश में तब स्त्रियों का कर्म-क्षेत्र संकीर्ण रहता था—फिर वैसे एक स्थान की तो बात

ही क्या ! लेकिन मेरे कर्म का मार्ग भी वे ढूंढ रहे थे...।

लिखने-पढ़ने के कमरे से नजर आया था एक पहाड़ी रास्ता। उसी में होकर मज़दूरों का दल टट्टुओं पर माल लादे आया-जाया करता है। उधर देखकर एक दिन उन्होंने पूछा, 'पहाड़ियों की संख्या यहाँ कितनी है ?'

'यही कोई चार-पाँच हजार।'

'तब तुम लोग अकेले कहाँ हो ? वे लोग क्या आदमी नहीं हैं ? उन्हें अपने घर बुलाओ, उनके नजदीक जाओ। आदमी की कितनी समस्याएँ हैं। उन्हें हितैषियों की जरूरत रहती है। फिर उनके मित्र क्यों नहीं बनते तुम लोग ?'

इसीलिए उनके जन्म-दिन पर हम लोगों ने पहाड़ियों को लेकर एक समारोह का आयोजन किया—यहाँ के अर्थात् इस जिले के इतिहास की ही यह सिर्फ़ अनोखी घटना नहीं थी, बल्कि शायद सरकारी प्रतिष्ठान के किसी उच्चपदस्थ अधिकारी के घर यही पहली बार मजूर लोग निमंत्रित होकर आये थे। चाय-बगीचे की तरह यहाँ का भी नियम था कि किसी प्रोफ़ेसर के घर के अहाते में कोई मजूर जूते पहने नहीं घुस सकता है। कोई मजूर टट्टू पर सवार होकर चला जा रहा हो और रास्ते में किसी प्रोफ़ेसर से भेंट हो जाये, तो उसे उसी दम उतरना पड़ता था। एक मजूर ने ऐसा नहीं किया था, इसलिए रिचार्ड्स ने उसे बेंत से मारा था। इस समाज में मैंने एक नया काम पाया, मुझे नये रास्ते की खोज मिली। क्रमशः हमारे घर का दरवाजा उनके लिए खुलता गया।

उन्नीस सौ बयालीस के अकाल के समय अंग्रेजों का असली रूप देखने को मिला; हम लोगों पर तो वे नाराज थे ही, साथ ही न केवल यहाँ के कुछ बंगालियों के घरों के खिलाफ़, बल्कि इस जिले के तमाम बंगालियों के खिलाफ, उन्होंने तिकड़म करके गोरखों को भड़का दिया। अंग्रेज इस काम में कितने निपुण हैं, यह उस समय मालूम हुआ। उन्होंने तो तब तक हिन्दू और मुसलमानों के बीच दंगों को भड़का-भड़का कर और धार्मिक भेद-भाव की खाई खोदकर इस देश की छाती को जख्मी कर दिया था। अब नये सिरे से उनके क्रोध का [illegible] [illegible]—

बंगालियों द्वारा मंत्रिमंडल बनाया जाना। शासन का कुछ-कुछ भारतीयकरण चल रहा था और बंगाली ज्यादा पढ़े-लिखे होने से उनके सिर के बराबर पहुँच गये थे, पहुँच रहे थे, ऊँचे ओहदे पा रहे थे। अतएव उन्होंने फिर वही पुरानी चाल शुरू कर दी। वे मजूरों को भड़का रहे थे, कह रहे थे—पहले जो युद्ध हुआ था, तब क्या चावल का दाम इतना चढ़ा था ? अभी बंगालियों का राज हुआ है, इसीलिए तो ऐसी दशा है और इसके बाद जब हम अंग्रेज़ चले जायेंगे तब तुम गोरखों की क्या हालत होगी, इसका अनुमान लगा सकते हो ? तब तुम लोगों को नौकरी नहीं मिलेगी, ये लोग बंगालियों को लाकर इस पहाड़ को भर डालेंगे। इसलिए इन बंगालियों को खदेड़ो। ये लोग हम अँग्रेजों को भगा रहे हैं, तुम अब की बार इन्हें खत्म करो !

हम लोगों को इस सबका पता नहीं चल रहा था। हम लोग ठहरे सरल, पढ़ाकू और भोले-भाले। राजनीति से हम लोगों को कुछ नहीं लेना-देना था।

तड़के उठकर मेरे पति मीटिंग में चले गये थे : चावल क्यों नहीं मिल रहा था, इसकी कैफ़ियत देनी थी ! दोपहर में जब लोग उन्हें लेकर आये तो उनका सारा शरीर लहू-लुहान था, लेकिन वे हँस रहे थे, 'डरने की बात नहीं है, खास कुछ नहीं था।'

उसी समय अच्छी तरह देखने को मिला कि ऐसी तिकड़म पुलिस के साथ मिल करके ही की जा सकती है—वरना इतना व्यापक दंगा हो ही कैसे सकता है ? यह अफ़वाह फैल गयी थी कि रात को तमाम बंगालियों को जलाकर मार दिया जायेगा, दो बच्चों को लेकर मैं तो इसी की प्रतीक्षा में थी, तो भी अंग्रेज एस० पी० आया और अंग्रेजों से ही बात करके चला गया। किसी तरह रुका नहीं, उसकी पत्नी शायद डिनर के लिए उसका इन्तजार कर रही थी। पति बग़ल में न रहे, तो वह खा ही नहीं सकती थी। उसी समय समझ में आया था कि जो दंगई लोग हाथों में हथियार लेकर लोगों को मारते हैं उनका दोष नहीं के बराबर होता है। वे सोचते हैं कि कुछ-न-कुछ करना ही उचित है, साथ वे खुद भी तो अपनी जान जोखिम में डालते हैं। दूसरी ओर, जो तिकड़म करते हैं वे

खुद कोई जिम्मेदारी लिये बिना दूसरों को विभ्रान्त करके स्वयं उसका लाभ उठाते हैं। उसके बाद से सर्वदा ही यही देखा कि मनुष्य को हिंस्र बनाने के काम में जिन्होंने विशिष्टता प्राप्त कर ली है, वे ही बड़ी-बड़ी बातें करते हैं और बन-ठनकर सभा में आकर बैठा करते हैं...असल में इस काम में केवल अंग्रेज़ों का ही एकाधिकार नहीं है, बल्कि जिसे जब सुविधा मिलेगी वही ऐसा करेंगे !

दंगे के बाद वे स्वस्थ हो उठे, तो मैं कवि की बात सोचने लगी—'मनुष्य की ओर नज़र उठाकर देखो।' मैं सोच रही थी, इतनी बड़ी जो दुर्घटना घटी; इसके लिए हमीं लोग तो दोषी हैं। हम लोगों के सिवा और तो किसी का दोष नहीं है। हमारे आसपास रहने वाले इन गोरखों के मन में जाने कब से इतना असन्तोष जमा होता रहा और हम लोगों को इसका पता तक नहीं चला ! यदि हम लोगों की बग़ल में असन्तोष पुंजीभूत होता रहे और हम लोग उसे देख भी न सकें तो मूर्खता तो हमीं लोगों की है। तब मैंने अच्छी तरह से उन लोगों की ओर देखा और उसी दम मेरी समझ में आया कि जिस निर्जनता की पीड़ा ने मुझे इतने दिन सताया है उससे छुटकारा पाने का रास्ता था—सिर्फ़ उस रास्ते को मैं अब तक पहचान नहीं सकी थी।

अन्तर्मुखी होकर मैं किताब लिये बैठी हुई थी; मेरी शून्यता आख़िर भरेगी कैसे ?

वहाँ उस समय पहाड़ियों के घरों में, अकाल वाले वर्ष के अलावा, खाने-पीने की चीज़ों की कमी नहीं थी, लेकिन खाने-पीने की चीज़ों के अलावा भी तो आदमी की और दूसरी जरूरतें होती हैं। मैंने उन्हीं का आयोजन किया, हमारे घर का दरवाज़ा और अधिक खुलने लगा। उत्सव-समारोहों से 'कुली-मजूरों' को लेकर मेरे पिछले चौदह वर्ष परिपूर्ण हो उठे।

एक उच्चाधिकारी ने मेरे पति से कहा, 'आपने क्या लक्ष्य किया है कि आपकी पत्नी मजूरों के साथ ज्यादा मिल-जुल रही हैं ?'

'हाँ।'

'अगर ऐसा चलता रहा, तो डिसिप्लिन कैसे रहेगा ?'

'डिसिप्लिन की कमी तो पहले कुछ नजर आयी थी, पर अब तो नहीं आ रही है।'

'आप क्या अपनी पत्नी को मना करेंगे ?'

'नहीं।'

'तो फिर मैं कहूँ ?'

'नहीं, ऐसा करने से ही डिसिप्लिन भंग हो सकता है।'

देखा, सम्पूर्ण अज्ञ, अशिक्षित मनुष्यों के बीच भी ऐसे लोग हैं जो सूक्ष्म रूप से समझ सकते हैं, जिनका मन गहराई की ओर उन्मुख है, जिनके गले में गीत है, मन में कविता है। राख-ढकी आग से जब चिनगारियाँ निकलते देखती, तो मन आनन्द से भर जाता। उनमें से एक व्यक्ति के हाथ की बनी एक कलाकृति आज भी मेरे कमरे में रखी हुई है, और बहुतों को आनन्द देती है। साथी सर्वत्र मिल जा सकता है—मनुष्य ही मनुष्य का साथी है। दुनिया में नाना जाति के, नाना श्रेणी के सभ्य-असभ्य मनुष्यों को देखा है, किन्तु उस समय की गोरखा जाति में जो ईमानदारी, सरलता व विश्वसनीयता देखी थी वह बाद में और कहीं नहीं देखी। जब उस दुर्गम, निर्जन अरण्य में रहने गयी थी तब अपने अन्दर एक शून्यता लेकर गयी थी, लेकिन जब लौटी तब उसका कहीं चिह्न मात्र भी नहीं था। तब एक परिपूर्ण जीवन लेकर लौटी थी। तब वह स्नेह, साख्य और माधुर्य से पूर्ण था। बिना एनिस्थीसिया के हाथ कटाने में जिनकी आंखों में आंसू तक नहीं आते, हम लोगों के लौटते समय उनकी आंखों के आंसू के अभिषेक ने हम लोगों के जीवन के श्रेष्ठ समय की दत्तिश्री को गौरव से भर दिया था।

उन्नीस सौ तिरेपन ईस्वी में मेरी बेटी का विवाह हो गया था। इधर उसके दस वर्ष पहले अर्थात् उन्नीस सौ बयालीस ईस्वी में ही, मेरी माँ का घर-संसार पूरी तरह टूट चुका था; उन्नीस सौ इकत्तीस ईस्वी में

'आग में घिर जायें,' अभी भी भविष्यत्काल का व्यवहार करती हैं : 'तो तुम क्या कर सकोगी, रोक सकोगी उन्हें, बचा सकोगी ?'

'देख रू, अपने अगाध प्रतिभावान पति की दुर्बलता को मैं जानती हूँ। यह कोई नयी बात नहीं है। ऐसा उन्होंने यह पहली बार किया है, ऐसी भी बात नहीं। इससे पहले भी ऐसा कई बार हुआ है उनसे, और हर बार मैंने उनकी रक्षा की है, नहीं तो वे इतने बड़े नहीं हो पाते। और बार की तरह इस बार भी मैं उनकी रक्षा करूँगी। तुझे अगर मेरी बात अच्छी न लगती हो तो तू चली जा मेरे सामने से।'

जो अतुल यश व मान के अधिकारी हो सकते थे उन्होंने स्वयं अपना और पूरे परिवार-परिजन का सिर नीचा किया, मान, सम्भ्रम व सुख नष्ट किया और दस वर्ष बाद अपने सगे-सम्बन्धियों और बन्धु-बांधवों से दूर रहकर इस दुनिया से चल बसे। सुना है, मरने से पहले वे माँ के पास वापस आने के लिए व्याकुल हुए थे और बार-बार कहते थे : 'मुझे कलकत्ता जाना होगा, मुझे क्षमा माँगनी है।' लेकिन वह खबर माँ के पास पहुँचने में देरी हो गयी। यही है मेरी अशेष पुण्यवती माता व असाधारण रूप से समर्थ पिता के जीवन की चरम त्रासदी !

इन सब नाना घटनाओं के भीतर से होकर मेरे जीवन की छोटी-सी नाव कभी धारा में बह रही है, तो कभी छिछले पानी के तल में धँस रही है। मैं तो अब छोटी बालिका नहीं हूँ: अब मैं दुनिया की वास्तविकता को पहचान चुकी हूँ। मन में गड्ढा पड़ चुका है। सूक्ष्म अनुभूति की कोमल त्वचा घिस-घिसकर सख्त हो गयी है। मैं कर्मठ हूँ। नितान्त दुनियादार हूँ। अवश्य यह सही है कि घर-संसार के काम-धाम में मेरी शान्ति खत्म नहीं होती है। इसीलिए तो कलकत्ता आकर भी मैं विषण्णता का अनुभव करती हूँ। इसलिए मेरी पुरानी अतृप्ति वापस आ रही है। साहित्य-जगत् से मैं दूर चली गयी हूँ—अब तो इस जगत् में खूब रेल-पेल, भीड़ है। कुछ लिखने का सुयोग नहीं पा रही हूँ मैं। मेरा लेखक-जीवन राह भूल गया है, इसीलिए जो भी काम सामने आता है उसी को

हरगिज नहीं होता।'

'देखो अमृता, मकान के सम्बन्ध में किसी कागज पर, अथवा कोरे कागज पर भी वे अब दस्तखत न करें। सौ वात की एक वात कि तुम्हारी माँ अब कहीं किसी कागज पर दस्तखत ही नहीं करें।'

'आपकी वात का अक्षरशः पालन करूंगी।'

'तो फिर और भी एक वात तुमसे कहता हूँ। वह यह कि विषय-सम्पत्ति का तुम लोग रत्ती-भर परित्याग न करो। यथा-सम्भव पाई-पाई की रक्षा करो। इसके लिए जरूरी हो जाय तो आदमी तक को तुम लोग छोड़ दो!'

'आदमी को छोड़ दो, आदमी को छोड़ दो'—क्रमशः यह वात वड़ी होने लगी, जैसे जिस घने काले मेघ ने आकाश को ढक रखा था उसमें छेद हो गया, फिर वह छोटे-छोटे टुकड़ों में वँटकर रुई की तरह फैल गया और इन टुकड़ों के वीच की खाली जगह से होकर नीला रंग नजर आया। मैं जो जैसे एक वन्द कमरे से निकल आयी और खुली हवा में साँस लेने लगी। सही वात है, आदमी को भला कौन पकड़कर रख सकता है? 'जीवन को भला कौन रख सकता है?' इतने दिन सगे-सम्वन्धियों की उपदेष्टा-मंडली ने हम लोगों को क्या ही उद्भ्रान्त किया है! इस गृहस्थी की फटे पाल वाली नाव वार-वार ऐसे उपदेशों को सुनते-सुनते अलग-अलग चट्टानों से टकरा-टकराकर टूट चुकी थी। ऐसी मुसीवत में क्या हर व्यक्ति रास्ता दिखा सकता है? एक ज्ञानी व्यक्ति की वात सुनी!

माँ से आकर वोली: 'माँ, इतने दिन पर आज एक रास्ता मिला है।' माँ तो अवाक् हो गयी थीं। श्री गुप्त की वात सुनकर उन्हें वड़ा अचरज हुआ: 'यह भी भला कोई उपदेश है? तुम भी आखिर उसी को दोहराने आयी हो? छिः, छिः, छिः! मैं पति को छोड़ दूं और उनके रुपये-पैसे को लेकर सन्तुष्ट रहूं? ये लोग कैसे पढ़े-लिखे आदमी कहलाते हैं? मेरे पति आग से घिर जायें, तो मैं उन्हें पकड़ूं-वचाऊँ, या अपना सन्दूक भरने की करूँ?'

माँ रो रही थीं, मगर मुझमें जरा भी माया नहीं जग रही थी:

'आग में घिर जायें,' अभी भी भविष्यत्काल का व्यवहार करती हैं : 'तो तुम क्या कर सकोगी, रोक सकोगी उन्हें, बचा सकोगी ?'

'देख रू, अपने अगाध प्रतिभावान पति की दुर्बलता को मैं जानती हूँ। यह कोई नयी बात नहीं है। ऐसा उन्होंने यह पहली बार किया है, ऐसी भी बात नहीं। इससे पहले भी ऐसा कई बार हुआ है उनसे, और हर बार मैंने उनकी रक्षा की है, नहीं तो वे इतने बड़े नहीं हो पाते। और बार की तरह इस बार भी मैं उनकी रक्षा करूंगी। तुझे अगर मेरी बात अच्छी न लगती हो तो तू चली जा मेरे सामने से।'

जो अतुल यश व मान के अधिकारी हो सकते थे उन्होंने स्वयं अपना और पूरे परिवार-परिजन का सिर नीचा किया, मान, सम्भ्रम व सुख नष्ट किया और दस वर्ष बाद अपने सगे-सम्बन्धियों और बन्धु-बाधवों से दूर रहकर इस दुनिया से चल बसे। सुना है, मरने से पहले वे माँ के पास वापस आने के लिए व्याकुल हुए थे और बार-बार कहते थे : 'मुझे कलकत्ता जाना होगा, मुझे क्षमा माँगनी है।' लेकिन वह खबर माँ के पास पहुँचने में देरी हो गयी। यही है मेरी अदोष पुण्यवती माता व असाधारण रूप से समर्थ पिता के जीवन की चरम त्रासदी !

इन सब नाना घटनाओं के भीतर से होकर मेरे जीवन की छोटी-सी नाव कभी धारा में बह रही है, तो कभी छिछले पानी के तल में धँस रही है। मैं तो अब छोटी बालिका नहीं हूँ; अब मैं दुनिया की वास्तविकता को पहचान चुकी हूँ। मन में गड्ढा पड़ चुका है। सूक्ष्म अनुभूति की कोमल त्वचा घिस-घिसकर सख्त हो गयी है। मैं कर्मठ हूँ। नितान्त दुनियादार हूँ। अवश्य यह सही है कि घर-संसार के काम-धाम में मेरी शक्ति खत्म नहीं होती है। इसीलिए तो कलकत्ता आकर भी मैं विषण्णता का अनुभव करती हूँ। इसलिए मेरी पुरानी अतृप्ति वापस आ रही है। साहित्य-जगत् से मैं दूर चली गयी हूँ—अब तो इस जगत् में खूब रेल-पेल, भीड़ है। कुछ लिखने का सुयोग नहीं पा रही हूँ मैं। मेरा लेखक-जीवन राह भूल गया है, इसीलिए जो भी काम सामने आता है उसी को

हाथ में ले लेती हूँ। पहले जैसी निन्दा व अपमान सहना पड़ा था, उसी तरह अब बहुत सम्मान व श्रद्धा भी मिली। कुल मिलाकर जीवन में अब पूर्ण शान्ति है, कहीं से कोई असंगत, बेसुरी आवाज़ नहीं आ रही है।

उन्नीस सौ तिरेपन ईस्वी में अपने बेटे-बेटियों को कलकत्ता में रखकर मैं अपने पति के साथ यूरोप घूमने गयी। इसके पहले पन्द्रह वर्षों के लम्बे अरसे में मिर्चा की बात मुझे एक बार भी याद नहीं आयी थी। मतलब कि जैसे कोई याद आया करता है, वैसे उसकी याद नहीं आयी थी। हो सकता है, कभी-कभार लगा हो कि एक वैसी घटना नहीं घटी होती, तो मेरा जीवन निष्कलुष रहता। मन को सांत्वना दी थी कि छुटपन की एक वैसी मामूली-सी घटना का अपराध क्या भला आज तक तुझे अपवित्र रख सकता है?

यूरोप में भेंट हुई हिरण्मय से। वह पिताजी का छात्र रह चुका था; और अब वहीं व्याह करके बस चुका था। एक सभा में उसे देखा तो पहले-पहल मैं उसे पहचान ही नहीं सकी थी। बिलकुल साहब बन गया था। उसने सहसा मुझसे पूछा, 'आपको यूक्लिड की याद है?' मैं सोच रही थी—ऐसे प्रसंगहीन प्रश्न करने का क्या अर्थ हो सकता है? मुझे निरुत्तर देखा, तो फिर स्वयं उसी ने कहा, 'उसने आपको एक किताब समर्पित की है।'

'सुनकर प्रसन्नता हुई। खैर, यह तो बताइये कि आपके कितने बाल-बच्चे हैं?'

बात वहीं खत्म हो गयी। मेरे मन पर उसका रत्ती-भर भी असर नहीं पड़ा। समूचे यूरोप में चरखी की तरह चक्कर लगा रहे थे हम लोग। पेरिस में एक प्रोफ़ेसर और उनकी पत्नी से परिचय हुआ। उनका नाम था निकोलाई स्तानेस्कु। कहाँ और कैसे उनसे मेरा परिचय हुआ था, यह अभी मैं किसी भी तरह याद नहीं कर पा रही हूँ—मैं सिर्फ़ देख पा रही हूँ एक बड़ी-सी बैठक। थोड़े-से ही सामान से सुसज्जित है। प्रोफ़ेसर-दम्पति ने हम लोगों को चाय का निमंत्रण दिया है, ये लोग अपने देश से निर्वासित

हैं। ये लोग मिर्चा के देश के हैं। उनके देश के रिफ्यूजियों से पेरिस भरा हुआ है—वे लोग अपनी लांछनाओं के बारे में बता रहे थे। निर्वासितों को तो बहुत दुःख भोगना पड़ता है—सुन रही थी युद्धोन्मत्त यूरोप के लोगों की दुर्दशा की कहानी। सुन रही थी और सोच रही थी, मिर्चा का क्या हुआ, कौन जाने! पूछूं क्या? फिर सोच रही थी, चाहे कुछ भी हो, मेरा उससे क्या लेना-देना? मरे या जिये! लेकिन उसकी मृत्यु मेरा काम्य नहीं है; मेरे मन को आशा है कि इतनी बड़ी दुनिया में एक-न-एक दिन उससे मेरी मुलाकात होगी—और उस दिन मैं उससे पूछ सकूंगी, 'मेरे साथ ऐसी छलना क्यों की?'

मेरे मन के एक कोने में इस सम्बन्ध में एक सन्देह है। कभी प्रश्न उठता है, क्या छलना की उसने? पिताजी ने भगा दिया, तो वह क्या करता? जाते समय उसके यन्त्रणा-कातर मुख पर उभरा हुआ भाव क्या कहीं छलना हो सकता है? मन के दूसरे कोने से, जहाँ अविश्वास-रूपी अन्धकार गहरा होकर जमा है, उत्तर आता है—वह ठहरा यूरोप का शिकार में निपुण नागरिक; ऐसे लोगों का यही धन्धा होता है। किसी तरह क्या एक चिट्ठी तक मेरे पास तक नहीं पहुँचवा सकता था? फिर जो कुछ करना होता, मैं करती। फिर प्रत्युत्तर आता है दूसरी ओर से—यदि छलना ही थी तो फिर वह जंगल-पहाड़ों में घूमा-फिरा क्यों? फिर इतनी तकलीफ उठाने की ज़रूरत ही क्या थी? जीवन-भर ही मेरा मन द्विधा-विभक्त होकर बीच-बीच में अपने से यही प्रश्नोत्तर करता चला जा रहा है। मनुष्य पर विश्वास कर पाने पर तो शान्ति मिलती है, और अविश्वास करने पर यन्त्रणा। उस यन्त्रणा की की पकड़ में ज्यादा पड़ने की इच्छा नहीं थी उस क्षण। मैंने एक सैंडविच मुँह में डाला और बड़े निर्विकार भाव से श्रीमती स्तानेस्कु से पूछा—'यूक्लिड नाम के एक लेखक को क्या आप पहचानती हैं?'

'खूब पहचानती हूँ। उन्होंने भारतीय दर्शन पर बहुत सारी किताबें लिखी हैं। भारतीय सभ्यता से वे अभिज्ञ हैं, वे उसके विशेषज्ञ हैं।'

'अच्छा, ऐसी बात है? तो उनकी कोई किताब आपके पास है?"

'ज़रूर है,' वे उठीं, आकर 'योग' पर लिखा एक बड़ा-सा ग्रन्थ लायीं

और मेरे हाथ में दिया। उस किताब को हाथ में लेकर मैं देख रही थी। पन्ना उलटते ही मैं स्तम्भित हो गयी थी। वह किताब मेरे पिताजी को समर्पित की गयी थी। लिखा हुआ था : 'अपने परम श्रद्धा-भाजन गुरु को।' तो ? तो इतना कुछ होने के बाद भी क्या पिताजी से उसका कोई सम्बन्ध था ? यह तो बिलकुल कच ही निकला, बिलकुल कच-जैसा ही स्वार्थजीवी। इतने दिनों बाद समझ में आया कि क्यों उसने मुझे चिट्ठी नहीं लिखी। किताबें लिखना जो उससे कहीं अधिक ज़रूरी हो गया था : ज़रूरी हो गया था भारत के सम्बन्ध में विशेषज्ञ कहलाना ! ज़रूरी था यश, ख्याति, और विद्या की गरिमा प्राप्त करना ! परन्तु हेय है ऐसा पांडित्य : घृण्य है कीर्ति और यश की ऐसी लिप्सा ! मेरा कलेजा बहुत दिनों बाद फिर जलने लगा था। मेरे होंठ कांप रहे थे। मैंने उन कांपते होंठों को ज़ोर से दांतों से दबा रखा था। फलस्वरूप उनसे लहू निकल आया और मेरे मुंह का स्वाद नमकीन हो गया। मैंने सहसा नज़र उठाकर देखा, श्रीमती स्तानेस्कु मेरी ओर एकटक निहार रही थीं। उनकी आंखों में कुतूहल था। उन्होंने पूछा, 'आपका नाम क्या अमृता है ?'

'हां ! क्यों ?'

'ओ, तब तो मैं आपको पहचानती हूँ। आप ही तो यूक्लिड की प्रथम प्रेयसी हैं न !'

वे हँस रही थीं, परन्तु मैं आग-बबूला हो रही थी। मन-ही-मन कह रही थी, प्रेयसी नहीं, भस्म हूँ मैं। कनखियों से एक नज़र देखा, मेरे पति प्रोफ़ेसर की बातें सुन रहे थे। इधर की बातचीत उनके कानों में पहुंची थी कि नहीं, कौन जाने ! मैंने फिर उसके सम्बन्ध में कोई प्रश्न नहीं पूछा। काफ़ी हो चुका था। उस व्यक्ति के सम्बन्ध में और किसी खबर की ज़रूरत नहीं थी, उसका नाम भी मन में लाने योग्य नहीं था। बीस बरस बाद उसकी खबर मिली और उस खबर ने मेरे कलेजे को ही पीस डाला।

हम लोग इटली में घूम रहे थे। रोम, फ्लोरेंस, वेनिस का भ्रमण करके हम लोग दक्षिणी फ्रांस अर्थात् रिवीरा पहुँचे थे। क्या अपूर्व सुन्दर देश है !

हम पति-पत्नी बड़े सुख से उन देशों का परिदर्शन कर रहे थे। घर-गृहस्थी की कोई फ़िक्र नहीं थी, किसी प्रकार की कोई परेशानी या घबराहट नहीं थी, सिर्फ बीच-बीच में अपने छोटे बेटे के लिए मन विचलित हो उठता था। इसके अलावा और कोई दिक़्क़त नहीं थी। बल्कि सच तो यह है कि इतने आराम से हम लोग जीवन में शायद ही कभी घूमे हों।

फिर पेरिस आकर हम लोग एक होटल में ठहरे—शां-से-लिज के नज़दीक ही। दो दिन बाद बिल चुकाते समय हम लोग अचम्भे में पड़ गये। इतना ख़र्च चलाना तो असम्भव था हमारे लिए। सत्येन बाबू से ख़बर पाकर लैटिन क्वार्टर के एक होटल में जा ठहरे—वहां प्रोफ़ेसर, छात्र आदि रहते थे, ख़र्च कम पड़ता था। उस होटल में दस दिन थे हम लोग। हमारे बगल वाले कमरे में एक आदमी रहता था—सीढ़ियाँ चढ़ते-उतरते समय सिर हिलाकर वह शुभेच्छा जताता था। वह थोड़ी-थोड़ी अंग्रेज़ी भी बोलता था। मैं उसे फ्रांसीसी समझती थी। उससे शुभेच्छा के विनिमय के अतिरिक्त और कोई बात, उन दस दिनों में नहीं हुई थी। अगर उससे कोई बात हुई होती, तो कौन जाने यह कहानी इस तरह लिखी जाती या नहीं! नहीं, तब शायद कुछ और तरह से लिखी जाती।

जिस दिन हम लोग पेरिस से लन्दन को रवाना होने वाले थे उस दिन रिसेप्शन अर्थात् ऑफ़िस के सामने के जीने के नीचे मैं बैठी हुई थी—एक सोफ़े पर, जो आते-जाते समय इन्तज़ार करने वालों के लिए रखा हुआ था। हमारी चीज़-वस्त एक जगह पर जमा की जा चुकी थी। मेरे पति ने सामान को एक-एक करके उतरवाकर रखवाया था और हिसाब-किताब चुकाने के लिए बिल लेने वाले कर्मचारी की मेज़ के पास खड़े थे। ऐसे समय में वह आदमी उतरकर आया, ज़रा इर्द-गिर्द घूमा और हमारे बक्सों के पास जा खड़ा हुआ। मेरे बक्से पर मेरा नाम लिखा हुआ था। मैं देख रही थी उसकी गति-विधि। वह बक्से पर लिखा नाम पढ़ रहा था और मेरी तरफ देख रहा था। ज़रा आगा-पीछा किया उसने, फिर आगे बढ़कर मेरे पास आया। बोला : 'मेरा नाम आइयन पोपेस्कू है। आपका नाम क्या अमृता है?'

मैं तो चौंक उठी थी। मेरे कलेजे पर हथौड़े की चोट पड़ने लगी थी, 'क्यों पूछ रहे हैं, बताइये तो ?'

'आई ऐ यू माई होमेज,' उसने कुछ टेढ़ा-मेढ़ा-सा उच्चारण करते हुए कहा और मेरी हथेली को चूमा। तो मुझे कोई सन्देह नहीं रहा कि वह किस देश का आदमी था।

'ओ समझी,' पल-भर के लिए सब-कुछ गड्डमड्ड होता जा रहा था—'अच्छा बता सकते हैं कि वह लेखक कहां रहता है ?'

'हां, यहीं पेरिस में, यहां से सिर्फ़ दो ब्लॉक परे।'

'बस, सिर्फ़ दो ब्लाक परे रहता है ?'

'हां,' वह मुंह दबाकर हंस रहा था। मैं सोच रही थी, 'हाय ईश्वर! तब तो इसी दम मैं इसके साथ जाकर पकड़ सकती हूं उसे और कह सकती हूं : धोखेबाज! झूठ के बल पर विद्या अर्जित की है तुमने। भले ही तुम पंडित हो सकते हो, परन्तु ज्ञानी नहीं। दर्व्वी सूपरसान्इव—जैसे लकड़ी का करछुल दाल में डूबा रहता है तो भी उसका स्वाद उसे नहीं मिलता है उसी तरह जिसके जीवन में सत्य नहीं हो, वह भले ही बहुत कुछ जान जाय, लेकिन उसे प्रज्ञा प्राप्त नहीं होती है। उसे ज्ञान का स्वाद नहीं मिलता है। मैं उससे कह सकती हूं : 'मिर्चा, तुम्हारे जीवन में सत्य नहीं है, इसीलिए तुम बच गये हो, इसीलिए तुम्हें कष्ट नहीं भोगना पड़ा। किन्तु मेरा सत्य मरने का नाम क्यों नहीं लेता ?'

वह आदमी मेरी तरफ़ नजरें टिकाये हुए था : 'तो चलोगी तुम मेरे साथ ?'

'नहीं। पर मैं अगर एक चिट्ठी दूं, तो उसे उसके पास पहुंचा दोगे ?'

'जरूर, जरूर पहुंचा दूंगा,' वह दौड़कर कागज और लिफ़ाफ़ा ले आया।

मैंने संक्षेप में जो कुछ लिखा वह मोटे तौर पर कुछ ऐसा था : 'मिर्चा, बहुत दिन बाद तुम्हारी खबर मिली। कैसे हो तुम ? ब्याह किया है न ? मैं अपने पति के साथ यूरोप घूमने आयी हूं। मेरे एक बेटी और एक

बेटा है। तुमसे एक बार मुलाक़ात होती, तो खुश होती। अभी तुरन्त ही हम लोग चले जा रहे हैं। जरा देर बाद ही डोवर चैनल पार करेंगे। लन्दन का अपना पता दे रही हूँ। चिट्ठी मिलते ही अगर एक बार आओ, तो सुखी होऊँगी। आओगे न ?'

मेरे पति आगे बढ़ आये थे, पता नहीं क्या पूछने के लिए, तभी मैंने उनके हाथ में वह चिट्ठी दी, 'मैंने तुमसे एक बार जिस विदेशी लड़के के बारे में कहा था, उसे लिखा है। वे सज्जन यहाँ हैं, उन्हें लन्दन आने का निमंत्रण दिया है।' उस चिट्ठी को उन्होंने सरसरी नजर से देखा और फिर मेरे हाथ में वापस दे दिया।

'ठीक है न ?'

'जरूर। वे आयें, तो बहुत अच्छा हो।'

वे फिर चले गये। वह आदमी मेरे पीछे खड़ा था। उसने मेरे कंधे पर सस्नेह अपना हाथ रखा : 'ठीक से लिखें आप; आप इस प्रकार काँप क्यों रही हैं ?'

'मैं काँप नहीं रही हूँ; मुझे कुछ शीत सता रहा है, आज ठंडा दिन है न ?'...मैं चिट्ठी को लिफाफे में डाल रही थी कि तभी वह फिर बोला, 'अच्छी तरह से एक चिट्ठी क्यों नहीं लिखी ? मेरी तो समझ में नहीं आता कि तुम्हारी चिट्ठी को सेंसर होने की क्या जरूरत थी ?'

'नहीं, नहीं, उसके लिए नहीं, अपने पति को उसकी अंग्रेज़ी देखने के लिए उसे दिया था। मेरी वर्तनी प्रायः गड़बड़ा जाती है।'

'ओ, ऐसी बात है !' वह आँखें मटका रहा था, 'तो फिर ऐसा कुछ करो न कि गड़बड़ाने से बची रह सको।'

हम लोग लन्दन चले गये। उसने चिट्ठी का उत्तर नहीं दिया। सात-आठ दिन तक मैंने प्रतीक्षा की। इन दिनों मेरी आँखों से लगातार आँसू बहते रहे। मेरे पति ने सोचा, बेटे के लिए इसका मन उद्वेलित हो रहा है। उसके बाद मैं भूल गयी।

उन्नीस सौ पचपन ईस्वी के मार्च में हम लोग कलकत्ता चले आये। बीस-बाईस वर्ष पहले जब हम लोग कलकत्ता से गये थे, तब यहाँ के विद्वत् समाज का रूप-रंग कुछ और तरह का था। तब इतनी भीड़ नहीं थी। गुणी व्यक्तियों को अपने-अपने गुणों को प्रकट करने का सुयोग सुलभ था। रचनाएँ छपवाने के लिए लेखकों को पत्र-पत्रिकाओं के ऑफ़िस में नौकरी नहीं करनी पड़ती थी। लेखिकाओं को भी सम्पादकों के साथ गप्पें लड़ाने के लिए पत्र-पत्रिकाओं के ऑफ़िस की दौड़ नहीं लगानी पड़ती थी। कला, साहित्य, संगीत आदि के क्षेत्र में धक्कमधक्का कम था, इसीलिए रास्ते में कोई बाधा नहीं थी। लेकिन इन बीस वर्षों में सब-कुछ बदल गया था। अब साम्यवाद के प्रकोप से चबेने और मिसरी—दोनों की दर समान थी। बाढ़ के पानी की तरह शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में, और राजनीति में ऐसे लोग घुस रहे थे जिन्होंने शिक्षा की शिक्षा के लिए ही और शिल्प की शिल्प के लिए ही श्रद्धा करना नहीं सीखा था। जिनके अन्तर में कविता की झंकार नहीं होती, वे भी कविता रचते थे! उस जगत् से अपने-आपको मैं अलग कटी हुई-सी अनुभव करती थी, क्योंकि मैं तो नवागन्तुक के समान थी। तो भी लोग मुझे पहचानते थे, जानते थे। मैं किसी-न-किसी काम में व्यस्त रहती थी, मेरा कर्म-क्षेत्र फैलता जा रहा था बाधा-विघ्नों के बावजूद।

उन्नीस सौ छप्पन ईस्वी में मैं फिर यूरोप गयी—इस बार मैंने आखिरी बार यूरोप में उसकी चर्चा सुनी। एक विराट सभा-गृह में मैं रॉस्ट्रम से उतर रही थी कि तभी एक कमसिन लड़की, जिसका सुन्दर-सा मुखड़ा घुंघराले बालों से घिरा था, मेरी तरफ़ आगे बढ़ी, 'तुम अमृता हो न!'

'वाह, तुमने तो मेरे नाम का बहुत बढ़िया उच्चारण किया है!'

'हाँ, तुम्हें मैं अच्छी तरह जानती हूँ।'

'ओ, समझी। तुम मिर्चा यूक्लिड नाम के किसी लेखक को पहचानती हो? बता सकती हो, वह कहाँ है?'

'नहीं तो। इस नाम के किसी लेखक को मैं नहीं पहचानती।' इसके बाद वह जरा रुकी, फिर बोली, 'ओ हाँ, पर वह तो मर चुका

है।'

बहुत बार मरा हुआ आदमी ज़िंदा आदमी से ज़्यादा सुख देता है, लेकिन उसकी बात सुनकर मेरा कलेजा धक्-धक् करने लगा। तो आख़िर वह मर ही गया! बिलकुल हमेशा-हमेशा के लिए ख़त्म हो गया! मरने के बाद तो और कुछ नहीं रहता है। मैं सोच रही थी, मैं तो लेकिन उससे एक बार यह पूछ भी नहीं सकी कि तुमने मुझसे विश्वासघात क्यों किया? मैंने जो सोचा था, कि एक-न-दिन उसे मैं पकड़ूँगी ही—यह नहीं हो सका!

अब भी मैं उसके बारे में सोचा करती हूँ, मेरा पार्थिव मन—जहाँ बुद्धि-वृत्ति काम करती है—जो संसार की समस्याओं का मुकाबला कर रहा है, जो सजग और स्वार्थ-पीड़ित है—कहता है—आख़िर यह विश्वासघात नहीं, तो क्या था? एक ढेले के गिरने पर जिस तरह कुत्ता दुम दबाकर भाग जाता है, उसी तरह पिताजी की एक डाँट खाते ही जो रुका नहीं, उसमें मनुष्यता कहाँ थी? धिक्कार है उसकी पढ़ाई लिखाई को! प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों पर मेरी श्रद्धा नहीं है। मनुष्य उनसे बड़ा है। लेकिन सब, ज़रा और नीचे जो मन है, वह कहता है, गुस्सा क्यों करती हो? हो सकता है, उसने जो चिट्ठी तुम्हें लिखी हो, वह तुम्हें मिली न हो, और यह भी तो हो सकता है कि तुम्हारी चिट्ठी भी उसके पास तक न पहुँची हो। और उसके भी नीचे, एकदम गहराई में जो एक और मन है, जिसे कोई युक्ति स्पर्श नहीं करती—वह कहता है, घटना से ही क्या सब-कुछ समझा जा सकता है? *तर्क करके क्या सत्य को* पाया जा सकता है? तुम चुपचाप हृदय से आती हुई सत्य की प्रतिध्वनि को कान लगाकर सुनो—हृदय कहता है, उसने क़तई छलना नहीं की है।

बेरा मेरी ओर टकटकी लगाये हुए थी। मैंने पूछा : 'कैसे मर गया? उसकी तो मरने की उम्र नहीं थी।'

वह बोली : 'नहीं, ठीक मरा नहीं है। मतलब यह कि वह हमारे लिए मर चुका है; वह फासिस्ट हो गया है।'

फ़ासिस्ट हो गया है ! मुझे हँसी आ रही थी। मैं उसे देख पा रही
थी, हिटलर की तरह मूंछ बना रखी हैं उसने। गैस-चेम्बर का दरवाजा
खोलकर खड़ा है। बड़ा फबता है—मेरी चिट्ठियों का उत्तर न देकर
वहीं तो बार-बार भेज रहा है मुझे ! आखिर फ़ासिस्ट ही तो है !

उसका नाम फिर बहुत दिनों तक नहीं सुना। उन्नीस सौ अट्ठावन ईस्वी
में मैं कलकत्ता के बाहर एक विश्वविद्यालय की लाइब्रेरी में कुछ काम
कर रही थी। एक किताब तैयार करने के लिए कुछ पढ़-लिख रही थी।
मुझे एक अच्छा-सा काम मिला था, सानन्द थी। कोई काम हाथ में न
रहने से मेरा मन टूट जाता है, न जाने कहाँ से आकाश-व्यापी हाहाकार
उतर आता है। इसीलिए जो भी काम सहज सुलभ हो जाय, उसी में
जी लगा देती हूँ। फिर, कुछ लिखने के काम से तो उत्कृष्ट काम क्या हो
सकता था ? लगभग दो मील दूर पर मेरी माँ व भाई रहते थे—मैं वहीं
थी कुछ दिनों के लिए।

एक दिन मैं दत्तचित्त होकर कुछ लिख रही थी, तभी सत्येन बाबू
कमरे में घुसे और एक तकिये से टिककर आ बैठे। पेरिस में जो उनसे
भेंट हुई थी उसके बारे में उन्होंने थोड़ी-बहुत बात की। उसके बाद हठात्
बोले : "यूक्लिड की लिखी किताब मैंने पढ़ी है।'

मैं खामोश थी। उसका नाम सुनने से ही मेरी हालत कठझिल्ली-
सी हो जाती है। जिसने कठझिल्ली देखी है वह इसे समझ सकता है
वह कीड़ा बड़े मजे से घूमता-फिरता रहता है, लेकिन अचानक अगर ए
तूफ़ान लगे या जिस पत्ते पर वह है वह अगर अचानक हिल उठे, अर्था
वह जहाँ है वहाँ अगर थोड़ा-सा स्पन्दन हो, तो तुरन्त उसके हाथ-पा
कड़े हो जाते हैं, और वह एक सूखी टहनी-सा टप से गिर पड़ता है
एकाएक मैं भी कठझिल्ली के समान हो गयी। सत्येन बाबू कहने ल
'उस किताब को पढ़कर समझ सका कि आप रवि ठाकुर को प्यार क
थीं।' मैं चुपचाप सुनती जा रही थी। पहले जो कुछ उन्होंने कहा
वह तो था उनका मन्तव्य, मगर अबकी बार उन्होंने एक प्रश्न कि

'तो फिर आपने अपने पिताजी पर गुस्सा क्यों किया था ?'

मैंने किताब बन्द की और उठ पड़ी। उस व्यक्ति को मैं अन्तर से श्रद्धा करती थी, किन्तु उस दिन मुझे अचम्भा हुआ। बोली : 'देखिये सत्येन बाबू, आप बहुत पढ़े-लिखे व्यक्ति हैं, शायद इसी कारण दूसरे की छेड़-छाड़ में आनन्द पाते हैं।'

जरा भी वहाँ रुके बिना मैं घर लौट आयी। साइकिल-रिक्शे से दो मील का रास्ता तय करके आयी थी। शाम होने को आ रही थी। हलका-सा अँधेरा धीमे-धीमे गहराता जा रहा था। मैं अतीत की बातें सोचने की कोशिश कर रही थी, लेकिन दिमाग में कुछ आ नहीं रहा था। लगता था, तमाम गुजरे हुए जीवन पर शाम उतरती आ रही थी। मैं सोचती थी, राह के छोर पर तो पहुँच चुकी, अब क्यों पीछे की ओर ताकूँ? इस घर-संसार के लिए, भाई-बहनों के लिए बूते-भर, बुद्धि-भर जो कुछ करने को था, किया, अब चाहे कोई कुछ कहे। सामने का पथ प्रशस्त हो मेरा—बहुत-सारा काम करूँगी मैं, अन्याय के विरुद्ध लड़ूँगी, अत्याचार के विरुद्ध लड़ूँगी, किन्तु कुछ करने का सुयोग कहाँ है? सर्वत्र बाधा ही बाधा है! इतना काम है करने को, किन्तु कर्म-क्षेत्र ही कंटकाकीर्ण है। किसी अतीत की अपूर्णता मुझे खिन्न न करे!

घर लौटी, तो देखती हूँ, दरवाजे के निकट खड़ी माँ प्रतीक्षा कर रही हैं। माँ को देखकर ही मेरे दिमाग के भीतर का गुस्सा भड़क उठा; आखिर इन्हीं महिमा के चलते तो इतना दुर्भोग भोगना पड़ रहा है। इन्हीं ने मेरा जीवन बरबाद किया है क्योंकि 'इन्हें' सुख जो रखना था! 'ये' जो चाहते वही ये करती थीं; 'मुन्ने' के हाथ में 'लड्डू' देनी। 'इन्हीं' का सुख-दुःख सब-कुछ था—दूसरों का सुख-दुःख भाड़ में जाय, इनकी बला से! लेकिन इतना कुछ करके भी ये 'उन्हें' सँभाल नहीं सकीं। दस वर्षों तक अदृश्य प्रक्रियावश घर टूटता रहा, और ये आग को आँचल से ढककर सोचती रहीं कि सब-कुछ ठीक हो जायेगा! स्वयं अपना जीवन बरबाद किया, पिताजी का भी। यहाँ तक कि मन्नो का जीवन बरबाद कर दिया। अकर्मण्य कहीं की! दुनिया में जो चतुराई से नहीं चल सकते, जो व्यवहार-पटु नहीं हैं, उनकी सज्जनता श्रद्धास्पद नहीं

है !

फिर अभी भी ये गर्व करती हैं कि एक अच्छे वर के साथ मेरा व्याह रचाया है ! क्या अच्छा काम किया ! यह व्याह भी भला कोई व्याह था ? यदि इस व्याह का अच्छा परिणाम निकला है, तो इसके कृतित्व का दावा चाहे और कोई करे तो करे, पर माँ कभी नहीं कर सकतीं—हालांकि माँ लगातार ऐसा ही दावा किया करती थीं। सब-कुछ जान-बूझकर इन्होंने ही, केवल अपने पति को सन्तुष्ट करने के लिए, मुझसे चौदह साल बड़े एक गूंगे आदमी के साथ मेरा व्याह रचाकर, मुझे निर्वासित कर दिया था, और मेरे समस्त अस्तित्व पर एक चट्टान रख दी थी। अब कहती हैं, 'मेरा दामाद तो महादेव है, योगी-पुरुष है। यह तेरे पूर्व-जन्मों का सुफल है कि तुझे ऐसा पति मिला है ! इस पर भी तू नाक-भौं सिकोड़ती है ?' वे योगी-पुरुष हो सकते हैं ! हो सकते हैं क्यों—वे निश्चय ही हैं, क्योंकि दूसरे लोगों को जो गुण प्राप्त करने के लिए साधना करनी पड़ती है वह उन्हें यों ही मिले हुए हैं। लेकिन मैंने तो गीता का साधक नहीं माँगा था, रक्त-मांस का एक आदमी माँगा था, एक आदमी, बस।

यही सब सोच रही थी और गुस्से से मेरा कलेजा जल रहा था। माँ बोलीं, 'इतनी देरी क्यों हुई ?' मैं बौखला उठी। वे लगभग रुआँसी होकर कहने लगीं : 'आखिर बात-बात पर इतना गुस्सा क्यों करती हो ? तुम लोग अपना सारा गुस्सा हर समय मुझी पर उतारते हो ?'

रात को एक ही कमरे में माँ और मैं सोयी थीं। जाड़े का मौसम था। मैं कम्बल ओढ़े मसहरी के अन्दर लेटी थी। रात बहुत हो चुकी थी, पर हम दोनों ही जगी हुई थीं। मुझसे जली-कटी सुनकर माँ का मन निश्चय ही भारी हो उठा था। हठात् माँ बोलीं : 'रु, तू रो रही है क्या ?' मैं निरुत्तर थी। माँ ने मसहरी उठायी और बाहर निकल आयीं, 'रु, क्या हुआ है बेटी, तू रो क्यों रही है ? मैंने ऐसा क्या कहा जो तू रो रही है ?'

'सत्येन बाबू ने मेरा अपमान किया है।'

'हाय राम, यह कैसी बात कह रही है ! उसका दिमाग़ बिगड़

गया है क्या ? भला तेरा क्या अपमान किया उन बुड्ढे ने ?'

'नहीं, नहीं, वैसी कोई बात नहीं है। उन्होंने मुझसे कहा कि यूक्रिनट की किताब पढ़कर वे समझ पाये हैं कि मैं रवीन्द्रनाथ ठाकुर को प्यार करती थी।'

'लो सुनो ! ये लोग जितना पढ़ते-लिखते हैं उतना ही बेवकूफ होते हैं क्या ? यह बात जानने के लिए ही उन्हें यूक्रिनट की किताब पढ़ने की ज़रूरत पड़ी ?'

मुझे सान्त्वना दी माँ ने, मेरे बदन पर हाथ फेरकर। मैं बोली : 'पता है, उन्होंने और क्या कहा ? कहा—तो फिर आपने अपने पिताजी पर गुस्सा क्यों किया था ?'

माँ चौंक उठी। 'कहती क्या है ? तो सचमुच ही क्या ज्यादा पढ़ने-लिखने से कोई-कोई मूर्ख भी हो जाता है ? तेरी दादी तेरे पिताजी को 'पढ़ाकू बकरा' कहा करती थीं, आखिर ये दोनों एक-से निकले। दोनों प्रकार के प्यार क्या एक समान हैं ? सभी प्यार क्या एक-से होते हैं ? तूने क्या किसी की घर-गृहस्थी बरबाद की है ? किसी की सम्पत्ति पर दखल जमाया है ? किसी परिवार को वंचित करके किसी का माथा नीचा किया है दुनिया के सामने ? जो प्यार इस संसार की वस्तु नहीं है वह मनुष्य को उन्नत व पवित्र ही किया करता है ! ऐसा यदि नहीं होता, तो स्वयं अपने घर-संसार में तुम यहाँ रानी होकर रह सकती थी ! हाय भगवान, इन लोगों को क्या कुछ भी बुद्धि नहीं है ?' माँ मेरे बदन पर हाथ फेर रही थीं 'जाने दे, इन सब बेकार की बातों की वजह से तू भला रोती क्यों है ? तू तो स्वयं जानती है कि किस प्यार का क्या अर्थ होता है।'

'माँ, मैं उसके लिए नहीं रो रही हूँ, कवि के सम्बन्ध में चाहे कोई कुछ कहे, उससे मुझे ज़रा भी लाज नहीं आती है। पर उनके बारे में कह-कर क्या कोई मेरा अपमान कर सकता है ? वह तो निन्दा और लज्जा के परे की वस्तु है। मैंने तो बस सिर्फ़ यों ही तुमसे कहा।'

'तो फिर रो क्यों रही है ?'

मैं तब अट्ठाईस वर्षों के लम्बे अरसे के बाद माँ के सामने पहली बार उसका नाम ज़बान पर लायी। तकिये पर से मुँह उठाकर मैंने ऊपर की ओर निहारा और चिल्ला उठी : 'मिर्चा, मिर्चा, मिर्चा,' उसके बाद मैं बुक्का फाड़ के रो उठी। माँ स्तम्भित हो गयी। 'क्या बोली, क्या बोली ?' सम्भवतः उसे जिस नाम से घर में सभी पुकारते थे, माँ को उस नाम के याद आने में ही देरी लगी। इस घर में सभी उसे यूक्लिड के नाम से ही पुकारते थे और वक़्त-बेवक़्त उसके इसी नाम का उल्लेख किया करते थे। माँ ने मेरी पीठ पर हाथ रखा। 'रू, तुझसे उसकी मुलाक़ात हुई है क्या ? इतनी बार विदेश गयी, तो कहीं-न-कहीं ज़रूर उससे तुम्हारी मुलाक़ात हुई होगी ? मिली है कभी उससे ?'

'नहीं, माँ, नहीं। जब वह मेरे यहाँ से चला जा रहा था तभी मैंने उसे, तुम्हारे कहे अनुसार, आखिरी बार बरामदे से देखा था। उसके बाद फिर उसे मैंने नहीं देखा है।'

'तो फिर ज़रूर उसे चिट्ठी-पत्री लिखती है। अच्छा, कोई सम्पर्क है क्या ? सच-सच बता तो ?'

'नहीं, नहीं, नहीं। मैंने उसे चिट्ठी लिखी थी, मगर उसने कोई उत्तर नहीं दिया।'

माँ ने दीर्घ निःश्वास छोड़ा : 'सब-कुछ तेरे पिताजी के चलते हुआ। पता नहीं, क्यों उन्होंने उस फ्रांसीसी को अपने घर में जगह दी...?" मुझे हँसी आ रही थी—माँ फ्रांसीसियों के बारे में अपनी धारणा को किंचित भी भुला नहीं पा रही थीं।

'कब तूने उसे चिट्ठी लिखी, रू ?'

'उन्नीस सौ तिरेपन ईस्वी में, पेरिस में।'

'तो उसने आखिर उत्तर क्यों नहीं दिया ?'

'उत्तर देता, तो अच्छा होता ? तुम्हें आपत्ति नहीं होती, माँ ? उससे दोष नहीं होता ?'

माँ ने दीर्घ निःश्वास छोड़ा : 'अब तो हरगिज दोष नहीं होता, रू, फिर भी चिट्ठी न लिखकर उसने शायद तेरा मंगल ही किया है। यद्यपि वह फ्रांसीसी है, फिर भी है बहुत ही बुद्धिमान। पीछे कहीं तुम्हारे घर-

संसार को कोई नुकसान न पहुँचे, शायद इसीलिए उसने चिट्ठी नहीं लिखी तुम्हें। सिर्फ अपने पिताजी के चलते तूने यह तकलीफ पायी। और...और कौन जाने, किसके लग्न-नक्षत्र से क्या होता है ? जिस साल उस लड़के को भगा दिया ठीक उसके बाद वाले साल से ही तो मेरी घर-गृहस्थी टूटने लगी थी।'

इसके सात साल बाद अर्थात् 1956 ई० में भग्न-हृदय व सम्पूर्ण चूर्ण-विचूर्ण अस्तित्व वाली मेरी माँ रोग से जीर्ण होकर चल बसीं !

न हन्यते : तृतीय पर्व

और भी ग्यारह वर्ष बीत चुके हैं। इस बीच दो बार यूरोप घूम आयी हूँ। पर कभी उसका नाम तक नहीं सुना। उसकी बात भी याद नहीं आयी। इन ग्यारह वर्षों में मैंने कुछ विशेष दायित्व हाथ में लिये हैं। मैं हर समय उन दायित्वों के निर्वाह में तल्लीन रहती हूँ। मेरी उम्र ढलती जा रही है, शरीर भी जीर्ण हो रहा है। बेटे-बेटियों और नाती-पोतों को लेकर मेरा घर-संसार सुखी है, किन्तु इसके अलावा भी एक और बड़ा-सा घर-संसार तैयार हुआ है सखी-सहेलियों और सहकर्मियों को लेकर। उन सभी के लिए अपना एक व्यक्तित्व बनाने में भी मैं समर्थ हुई हूं। जहां तक मेरा विश्वास है वह कुछ ऐसा है—मैं बहुत कड़ी महिला हूं, विशेषतः समाज द्वारा अस्वीकृत प्रेम के सम्बन्ध में मेरे विचार बड़े कठोर हैं। उनके बीच वैसी अगर कोई घटना घटती है, तो वे उसे मुझसे छिपाने की कोशिश करती हैं। न्याय-अन्याय के सम्बन्ध में मेरे मनोभाव अनमनीय हैं, संवेदना-शून्य हैं। जरा भी इधर-उधर कुछ होता है, तो मैं सख्त-से-सख्त बातें कहती हूँ। और मैं बेहद व्यावहारिक हूँ। साथ ही मैंने स्वयं अपने लिए भी अपना एक रूप बनाया है—वह यह कि मैं अन्याय के साथ समझौता नहीं करती। किसी भी प्रकार का असंयम, चाहे वह शराब पीने से सम्बन्धित हो या और किसी अन्य प्रकार का, मैं इन आँखों से देख ही नहीं सकती, उसे बरदाश्त करना तो दूर की बात है। मैं मानती हूं कि हर आदमी का समाज के प्रति कुछ दायित्व है। अपने

व्यक्तिगत कारणों के चलते या साहित्य के लिए वह अपनी ज़िम्मेदारियाँ निभाने से बरी नहीं हो सकता। यदि कोई ऐसा करता है, तो मैं उसकी निन्दा करती हूँ। एक छोटी-मोटी नेता में जो-जो गुण-दोष होने हैं, वे सभी मुझमें नज़र आने लगे हैं। मेरी परमार्थ की इस भावना को कई लोग 'बेकार बनिया बार-बार तौले' कहकर खिल्ली उड़ाते हैं, तो भी मुझे काफ़ी प्रशंसा व सहायता मिली है। सौ बातों की एक बात यह कि मेरे छोटे और बड़े दोनों ही प्रकार के—घर-संसार का वृत्त पूरा हुआ है। अपूर्णता नाम की कोई चीज़ मुझमें शेष नहीं है।

ऐसे समय में, उन्नीस सौ इकहत्तर ईस्वी में मैंने फिर उसका नाम सुना। एक बैठक में, सहकर्मियों और सहेलियों की हलकी-फुलकी बात-चीत के दौरान पार्वती ने हठात् कहा: 'अमुक शहर में अमृता दीदी के एक प्रशंसक हैं।'

सभी में बड़ा जोश आया: 'अच्छा, ऐसी बात है, अच्छा ऐसी बात है,' कहकर सभी चिहुँक उठीं। मैं ज़रा भी विस्मित नहीं हुई। इस लम्बे जीवन में निन्दा और प्रशंसा—दोनों ही मुझे काफ़ी मिली हैं। इसलिए मेरे किसी प्रशंसक का रहना तो असम्भव नहीं है!

'अच्छा तो उनका नाम क्या है?'

'मिर्ज़ा यूविनह!'

मैं भीतर-ही-भीतर चौंक उठी थी। मन-ही-मन सोच रही थी, अब तक तो यही पता था कि यह लड़की मुझे प्यार करती है, मेरी श्रद्धा करती है। पर अभी देखो, कैसे मेरा अपमान कर रही है! मगर जहाँ तक सम्भव है, मैं निर्विकार बनी रही। पर श्रीमती पार्वती कहती ही चली जा रही थी: दो वर्ष पहले 'ज' से उनकी मुलाक़ात हुई थी। उस दिन वे कुछ क्लान्त थे, अस्वस्थ भी। एक बंगाली को देखकर वे कलकत्ता के बारे में बोलने लगे—अभी तो सभी कलकत्ता की निन्दा किया करते हैं, लेकिन उन्होंने जिस कलकत्ता को देखा था, उसकी बराबरी का दूसरा शहर उन्होंने और कहीं नहीं देखा है। विशेषकर वहाँ की लड़कियों के माधुर्य

न हन्यते : तृतीय पर्व

और भी ग्यारह वर्ष बीत चुके हैं। इस बीच दो बार यूरोप घूम आयी हूँ। पर कभी उसका नाम तक नहीं सुना। उसकी बात भी याद नहीं आयी। इन ग्यारह वर्षों में मैंने कुछ विशेष दायित्व हाथ में लिये हैं। मैं हर समय उन दायित्वों के निर्वाह में तल्लीन रहती हूँ। मेरी उम्र ढलती जा रही है, शरीर भी जीर्ण हो रहा है। बेटे-बेटियों और नाती-पोतों को लेकर मेरा घर-संसार सुखी है, किन्तु इसके अलावा भी एक और बड़ा-सा घर-संसार तैयार हुआ है सखी-सहेलियों और सहकर्मियों को लेकर। उन सभी के लिए अपना एक व्यक्तित्व बनाने में भी मैं समर्थ हुई हूँ। जहाँ तक मेरा विश्वास है वह कुछ ऐसा है—मैं बहुत कड़ी महिला हूँ, विशेषतः समाज द्वारा अस्वीकृत प्रेम के सम्बन्ध में मेरे विचार बड़े कठोर हैं। उनके बीच वैसी अगर कोई घटना घटती है, तो वे उसे मुझसे छिपाने की कोशिश करती हैं। न्याय-अन्याय के सम्बन्ध में मेरे मनोभाव अनमनीय हैं, संवेदना-शून्य हैं। जरा भी इधर-उधर कुछ होता है, तो मैं सख्त-से-सख्त बातें कहती हूँ। और मैं बेहद व्यावहारिक हूँ। साथ ही मैंने स्वयं अपने लिए भी अपता एक रूप बनाया है—वह यह कि मैं अन्याय के साथ समझौता नहीं करती। किसी भी प्रकार का असंयम, चाहे वह शराब पीने से सम्बन्धित हो या और किसी अन्य प्रकार का, मैं इन आँखों से देख ही नहीं सकती, उसे बरदाश्त करना तो दूर की बात है। मैं मानती हूँ कि हर आदमी का समाज के प्रति कुछ दायित्व है। अप

व्यक्तिगत कारणों के चलते या साहित्य के लिए वह अपनी ज़िम्मेदारियाँ निभाने में बरी नहीं हो सकता। यदि कोई ऐसा करता है, तो मैं उसकी निन्दा करती हूँ। एक छोटी-मोटी नेता में जो-जो गुण-दोष होते हैं, वे सभी मुझमें नजर आने लगे हैं। मेरी परमार्थ की इस भावना की कई लोग 'बेकार बनिया बार-बार तौले' कहकर खिल्ली उड़ाते हैं, तो भी मुझे काफी प्रशंसा व सहायता मिली है। सौ बातों की एक बात यह कि मेरे छोटे और बड़े दोनों ही प्रकार के—घर-संसार का वृत्त पूरा हुआ है। अपूर्णता नाम की कोई चीज मुझमें शेष नहीं है।

ऐसे समय में, उन्नीस सौ इकहत्तर ईस्वी में मैंने फिर उसका नाम सुना। एक बैठक में, सहकर्मियों और सहेलियों की हलकी-फुलकी बात-चीत के दौरान पार्वती ने हठात् कहा: 'अमुक शहर में अमृता दीदी के एक प्रशंसक हैं।'

सभी में बड़ा जोश आया: 'अच्छा, ऐसी बात है, अच्छा ऐसी बात है,' कहकर सभी चिहुँक उठीं। मैं जरा भी विस्मित नहीं हुई। इस लम्बे जीवन में निन्दा और प्रशंसा—दोनों ही मुझे काफी मिली हैं। इसलिए मेरे किसी प्रशंसक का रहना तो असम्भव नहीं है!

'अच्छा तो उनका नाम क्या है?'

'मिर्चा यूक्लिड!'

मैं भीतर-ही-भीतर चौंक उठी थी। मन-ही-मन सोच रही थी, अब तक तो यही पता था कि यह लड़की मुझे प्यार करती है, मेरी श्रद्धा करती है। पर अभी देखो, कैसे मेरा अपमान कर रही है! मगर जहाँ तक सम्भव है, मैं निर्विकार बनी रही। पर श्रीमती पार्वती कहती हो चली जा रही थीं: दो वर्ष पहले 'ज' से उनकी मुलाकात हुई थी। उस दिन वे कुछ क्लान्त थे, अस्वस्थ भी। एक बंगाली को देखकर वे कलकत्ता के बारे में बोलने लगे—अभी तो सभी कलकत्ता की निन्दा किया करते हैं, लेकिन उन्होंने जिस कलकत्ता को देखा था, उसकी बराबरी का दूसरा शहर उन्होंने और कहीं नहीं देखा है। विशेषकर वहाँ की लड़कियों के माधुर्य

न हन्यते : तृतीय पर्व

और भी ग्यारह वर्ष बीत चुके हैं। इस बीच दो बार यूरोप घूम आयी हूँ। पर कभी उसका नाम तक नहीं सुना। उसकी बात भी याद नहीं आयी। इन ग्यारह वर्षों में मैंने कुछ विशेष दायित्व हाथ में लिये हैं। मैं हर समय उन दायित्वों के निर्वाह में तल्लीन रहती हूँ। मेरी उम्र ढलती जा रही है, शरीर भी जीर्ण हो रहा है। बेटे-बेटियों और नाती-पोतों को लेकर मेरा घर-संसार सुखी है, किन्तु इसके अलावा भी एक और बड़ा-सा घर-संसार तैयार हुआ है सखी-सहेलियों और सहकर्मियों को लेकर। उन सभी के लिए अपना एक व्यक्तित्व बनाने में भी मैं समर्थ हुई हूँ। जहाँ तक मेरा विश्वास है वह कुछ ऐसा है—मैं बहुत कड़ी महिला हूँ, विशेषतः समाज द्वारा अस्वीकृत प्रेम के सम्बन्ध में मेरे विचार बड़े कठोर हैं। उनके बीच वैसी अगर कोई घटना घटती है, तो वे उसे मुझसे छिपाने की कोशिश करती हैं। न्याय-अन्याय के सम्बन्ध में मेरे मनोभाव अनमनीय हैं, संवेदना-शून्य हैं। जरा भी इधर-उधर कुछ होता है, तो मैं सख्त-से-सख्त बातें कहती हूँ। और मैं बेहद व्यावहारिक हूँ। साथ ही मैंने स्वयं अपने लिए भी अपना एक रूप बनाया है—वह यह कि मैं अन्याय के साथ समझौता नहीं करती। किसी भी प्रकार का असंयम, चाहे वह शराब पीने से सम्बन्धित हो या और किसी अन्य प्रकार का, मैं इन आँखों से देख ही नहीं सकती, उसे बरदाश्त करना तो दूर की बात है। मैं मानती हूँ कि हर आदमी का समाज के प्रति कुछ दायित्व है। अपने

व्यक्तिगत कारणों के चलते या साहित्य के लिए वह अपनी जिम्मेदारियाँ निभाने से बरी नहीं हो सकता। यदि कोई ऐसा करता है, तो मैं उसकी निन्दा करती हूँ। एक छोटी-मोटी नेता में जो-जो गुण-दोष होते हैं, वे सभी मुझमें नजर आने लगे हैं। मेरी परमार्थ की इस भावना की कई लोग 'बेकार बनिया बार-बार तौले' कहकर खिल्ली उड़ाते हैं, तो भी मुझे काफ़ी प्रशंसा व सहायता मिली है। सौ बातों की एक बात यह कि मेरे छोटे और बड़े दोनों ही प्रकार के—घर-संसार का वृत्त पूरा हुआ है। अपूर्णता नाम की कोई चीज मुझमें शेष नहीं है।

ऐसे समय में, उन्नीस सौ इकहत्तर ईस्वी में मैंने फिर उसका नाम सुना। एक बैठक में, सहकर्मियों और सहेलियों की हलकी-फुलकी बात-चीत के दौरान पार्वती ने हठात् कहा : 'अमुक शहर में अमृता दीदी के एक प्रशंसक हैं।'

सभी में बड़ा जोश आया : 'अच्छा, ऐसी बात है, अच्छा ऐसी बात है,' कहकर सभी चिहुँक उठीं। मैं जरा भी विस्मित नहीं हुई। इस लम्बे जीवन में निन्दा और प्रशंसा—दोनों ही मुझे काफ़ी मिली हैं। इसलिए मेरे किसी प्रशंसक का रहना तो असम्भव नहीं है!

'अच्छा तो उनका नाम क्या है?'

'मिर्चा यूक्लिड!'

मैं भीतर-ही-भीतर चौंक उठी थी। मन-ही-मन सोच रही थी, अब तक तो यही पता था कि यह लड़की मुझे प्यार करती है, मेरी श्रद्धा करती है। पर अभी देखो, कैसे मेरा अपमान कर रही है! मगर जहाँ तक सम्भव है, मैं निर्विकार बनी रही। पर श्रीमती पार्वती कहती ही चली जा रही थीं : दो वर्ष पहले 'अ' से उनकी मुलाकात हुई थी। उस दिन वे कुछ क्लान्त थे, अस्वस्थ भी। एक बंगाली को देखकर वे कलकत्ता के बारे में बोलने लगे—अभी तो सभी कलकत्ता की निन्दा किया करते हैं, लेकिन उन्होंने जिस कलकत्ता को देखा था, उसकी बराबरी का दूसरा शहर उन्होंने और कहीं नहीं देखा है। विशेषकर वहाँ की लड़कियों के माधुर्य

न हन्यते : तृतीय पर्व

और भी ग्यारह वर्ष बीत चुके हैं। इस बीच दो बार यूरोप घूम आयी हूँ। पर कभी उसका नाम तक नहीं सुना। उसकी बात भी याद नहीं आयी। इन ग्यारह वर्षों में मैंने कुछ विशेष दायित्व हाथ में लिये हैं। मैं हर समय उन दायित्वों के निर्वाह में तल्लीन रहती हूँ। मेरी उम्र ढलती जा रही है, शरीर भी जीर्ण हो रहा है। बेटे-बेटियों और नाती-पोतों को लेकर मेरा घर-संसार सुखी है, किन्तु इसके अलावा भी एक और बड़ा-सा घर-संसार तैयार हुआ है सखी-सहेलियों और सहकर्मियों को लेकर। उन सभी के लिए अपना एक व्यक्तित्व बनाने में भी मैं समर्थ हुई हूँ। जहाँ तक मेरा विश्वास है वह कुछ ऐसा है—मैं बहुत कड़ी महिला हूँ, विशेषतः समाज द्वारा अस्वीकृत प्रेम के सम्बन्ध में मेरे विचार बड़े कठोर हैं। उनके बीच वैसी अगर कोई घटना घटती है, तो वे उसे मुझसे छिपाने की कोशिश करती हैं। न्याय-अन्याय के सम्बन्ध में मेरे मनोभाव अनमनीय हैं, संवेदना-शून्य हैं। जरा भी इधर-उधर कुछ होता है, तो मैं सख्त-से-सख्त बातें कहती हूँ। और मैं बेहद व्यावहारिक हूँ। साथ ही मैंने स्वयं अपने लिए भी अपना एक रूप बनाया है—वह यह कि मैं अन्याय के साथ समझौता नहीं करती। किसी भी प्रकार का असंयम, चाहे वह शराब पीने से सम्बन्धित हो या और किसी अन्य प्रकार का, मैं इन आँखों से देख ही नहीं सकती, उसे बरदाश्त करना तो दूर की बात है। मैं मानती हूँ कि हर आदमी का समाज के प्रति कुछ दायित्व है। अपने

व्यक्तिगत कारणों के चलते या साहित्य के लिए वह अपनी जिम्मेदारियाँ निभाने से बरी नहीं हो सकता। यदि कोई ऐसा करता है, तो मैं उनकी निन्दा करती हूँ। एक छोटी-मोटी नेता में जो-जो गुण-दोष होते हैं, वे सभी मुझमें नजर आने लगे हैं। मेरी परमार्थ की इस भावना की कई लोग 'बेकार बनिया बार-बार तोले' कहकर खिल्ली उड़ाते हैं, तो भी मुझे काफी प्रशंसा व सहायता मिली है। सौ बातों की एक बात यह कि मेरे छोटे और बड़े दोनों ही प्रकार के—घर-संसार का वृत्त पूरा हुआ है। अपूर्णता नाम की कोई चीज मुझमें शेष नहीं है।

ऐसे समय में, उन्नीस सौ इकहत्तर ईस्वी में मैंने फिर उसका नाम सुना। एक बैठक में, सहकर्मियों और सहेलियों की हल्की-फुल्की बात-चीत के दौरान पार्वती ने हठात् कहा : 'अमुक शहर में अमृता दीदी के एक प्रशंसक हैं।'

सभी में बड़ा जोश आया : 'अच्छा, ऐसी बात है, अच्छा ऐसी बात है,' कहकर सभी चिहुँक उठीं। मैं जरा भी विस्मित नहीं हुई। इस लम्बे जीवन में निन्दा और प्रशंसा—दोनों ही मुझे काफी मिली हैं। इसलिए मेरे किसी प्रशंसक का रहना तो असम्भव नहीं है।

'अच्छा तो उनका नाम क्या है?'

'मिर्चा यूक्लिड!'

मैं भीतर-ही-भीतर चौंक उठी थी। मन-ही-मन सोच रही थी, अब तक तो यही पता था कि यह लड़की मुझे प्यार करती है, मेरी श्रद्धा करती है। पर अभी देखो, कैसे मेरा अपमान कर रही है! मगर जहाँ तक सम्भव है, मैं निर्विकार बनी रही। पर श्रीमती पार्वती कहती ही चली जा रही थी : दो वर्ष पहले 'ज' से उनकी मुलाक़ात हुई थी। उस दिन वे कुछ क्लान्त थे, अस्वस्थ भी। एक बंगाली को देखकर वे कलकत्ता के बारे में बोलने लगे—अभी तो सभी कलकत्ता की निन्दा किया करते हैं, लेकिन उन्होंने जिस कलकत्ता को देखा था, उसकी बराबरी का दूसरा शहर उन्होंने और कहीं नहीं देखा है। विशेषकर वहाँ की लड़कियों के माधुर्य

न हन्यते : तृतीय पर्व

और भी ग्यारह वर्ष बीत चुके हैं। इस बीच दो बार यूरोप घूम आयी हूँ। पर कभी उसका नाम तक नहीं सुना। उसकी बात भी याद नहीं आयी। इन ग्यारह वर्षों में मैंने कुछ विशेष दायित्व हाथ में लिये हैं। मैं हर समय उन दायित्वों के निर्वाह में तल्लीन रहती हूँ। मेरी उम्र ढलती जा रही है, शरीर भी जीर्ण हो रहा है। बेटे-बेटियों और नाती-पोतों को लेकर मेरा घर-संसार सुखी है, किन्तु इसके अलावा भी एक और बड़ा-सा घर-संसार तैयार हुआ है सखी-सहेलियों और सहकर्मियों को लेकर। उन सभी के लिए अपना एक व्यक्तित्व बनाने में भी मैं समर्थ हुई हूं। जहां तक मेरा विश्वास है वह कुछ ऐसा है—मैं बहुत कड़ी महिला हूँ, विशेषतः समाज द्वारा अस्वीकृत प्रेम के सम्बन्ध में मेरे विचार बड़े कठोर हैं। उनके बीच वैसी अगर कोई घटना घटती है, तो वे उसे मुझसे छिपाने की कोशिश करती हैं। न्याय-अन्याय के सम्बन्ध में मेरे मनोभाव अनमनीय हैं, संवेदना-शून्य हैं। जरा भी इधर-उधर कुछ होता है, तो मैं सख्त-से-सख्त बातें कहती हूँ। और मैं बेहद व्यावहारिक हूँ। साथ ही मैंने स्वयं अपने लिए भी अपना एक रूप बनाया है—वह यह कि मैं अन्याय के साथ समझौता नहीं करती। किसी भी प्रकार का असंयम, चाहे वह शराब पीने से सम्बन्धित हो या और किसी अन्य प्रकार का, मैं इन आंखों से देख ही नहीं सकती, उसे बरदाश्त करना तो दूर की बात है। मैं मानती हूं कि हर आदमी का समाज के प्रति कुछ दायित्व है। अपने

व्यक्तिगत कारणों के चलते या साहित्य के लिए वह अपनी ज़िम्मेदारियाँ निभाने से बरी नहीं हो सकता। यदि कोई ऐसा करता है, तो मैं उसकी निन्दा करती हूँ। एक छोटी-मोटी नेता में जो-जो गुण-दोष होते हैं, वे सभी मुझमें नज़र आने लगे हैं। मेरी परमार्थ की इस भावना की कई लोग 'बेकार बनिया बार-बार तोले' कहकर खिल्ली उड़ाते हैं, तो भी मुझे काफ़ी प्रशंसा व सहायता मिली है। सौ बातों की एक बात यह कि मेरे छोटे और बड़े दोनों ही प्रकार के—घर-संसार का वृत्त पूरा हुआ है। अपूर्णता नाम की कोई चीज़ मुझमें शेष नहीं है।

ऐसे समय में, उन्नीस सौ इकहत्तर ईसवी में मैंने फिर उसका नाम सुना। एक बैठक में, सहकर्मियों और सहेलियों की हलकी-फुलकी बात-चीत के दौरान पार्वती ने हठात् कहा : 'अमुक शहर में अमृता दीदी के एक प्रशंसक हैं।'

सभी में बड़ा जोश आया : 'अच्छा, ऐसी बात है, अच्छा ऐसी बात है,' कहकर सभी चिहुँक उठीं। मैं ज़रा भी विस्मित नहीं हुई। इस लम्बे जीवन में निन्दा और प्रशंसा—दोनों ही मुझे काफ़ी मिली हैं। इसलिए मेरे किसी प्रशंसक का रहना तो असम्भव नहीं है।

'अच्छा तो उनका नाम क्या है?'

'मियाँ यूनिस !'

मैं भीतर-ही-भीतर चौंक उठी थी। मन-ही-मन सोच रही थी, अब तक तो यही पता था कि यह लड़की मुझे प्यार करती है, मेरी श्रद्धा करती है। पर अभी देखो, कैसे मेरा अपमान कर रही है! मगर जहाँ तक सम्भव है, मैं निर्विकार बनी रही। पर श्रीमती पार्वती कहती ही चली जा रही थीं : दो वर्ष पहले 'ज' से उनकी मुलाक़ात हुई थी। उस दिन वे कुछ क्लान्त थे, अस्वस्थ भी। एक बंगाली को देखकर वे कलकत्ता के बारे में बोलने लगे—अभी तो सभी कलकत्ता की निन्दा किया करते हैं, लेकिन उन्होंने जिस कलकत्ता को देखा था, उसकी बराबरी का दूसरा शहर उन्होंने और कहीं नहीं देखा है। विशेषकर वहाँ की लड़कियों के माधुर्य

न हन्यते : तृतीय पर्व

और भी ग्यारह वर्ष बीत चुके हैं। इस बीच दो बार यूरोप घूम आयी हूँ। पर कभी उसका नाम तक नहीं सुना। उसकी बात भी याद नहीं आयी। इन ग्यारह वर्षों में मैंने कुछ विशेष दायित्व हाथ में लिये हैं। मैं हर समय उन दायित्वों के निर्वाह में तल्लीन रहती हूँ। मेरी उम्र ढलती जा रही है, शरीर भी जीर्ण हो रहा है। बेटे-बेटियों और नाती-पोतों को लेकर मेरा घर-संसार सुखी है, किन्तु इसके अलावा भी एक और बड़ा-सा घर-संसार तैयार हुआ है सखी-सहेलियों और सहकर्मियों को लेकर। उन सभी के लिए अपना एक व्यक्तित्व बनाने में भी मैं समर्थ हुई हूं। जहां तक मेरा विश्वास है वह कुछ ऐसा है—मैं बहुत कड़ी महिला हूं, विशेषत: समाज द्वारा अस्वीकृत प्रेम के सम्बन्ध में मेरे विचार बड़े कठोर हैं। उनके बीच वैसी अगर कोई घटना घटती है, तो वे उसे मुझसे छिपाने की कोशिश करती हैं। न्याय-अन्याय के सम्बन्ध में मेरे मनोभाव अनमनीय हैं, संवेदना-शून्य हैं। जरा भी इधर-उधर कुछ होता है, तो मैं सख्त-से-सख्त बातें कहती हूँ। और मैं बेहद व्यावहारिक हूँ। साथ ही मैंने स्वयं अपने लिए भी अपना एक रूप बनाया है—वह यह कि मैं अन्याय के साथ समझौता नहीं करती। किसी भी प्रकार का असंयम, चाहे वह शराब पीने से सम्बन्धित हो या और किसी अन्य प्रकार का, मैं इन आंखों से देख ही नहीं सकती, उसे बरदाश्त करना तो दूर की बात है। मैं मानती हूं कि हर आदमी का समाज के प्रति कुछ दायित्व है। अपने

व्यक्तिगत कारणों के चलते या साहित्य के लिए वह अपनी जिम्मेदारियाँ निभाने से बरी नहीं हो सकता। यदि कोई ऐसा करता है, तो मैं उसकी निन्दा करती हूँ। एक छोटी-मोटी नेता में जो-जो गुण-दोष होते हैं, वे सभी मुझमें नजर आने लगे हैं। मेरी परमार्थ की इस भावना को कई लोग 'बेकार बनिया बार-बार तोले' कहकर खिल्ली उड़ाते हैं, तो भी मुझे काफी प्रशंसा व सहायता मिली है। सौ बातों की एक बात यह कि मेरे छोटे और बड़े दोनों ही प्रकार के—घर-संसार का वृत्त पूरा हुआ है। अपूर्णता नाम की कोई चीज मुझमें शेष नहीं है।

ऐसे समय में, उन्नीस सौ इकहत्तर ईस्वी में मैंने फिर उनका नाम सुना। एक बैठक में, सहकर्मियों और सहेलियों की हलकी-फुलकी बात-चीत के दौरान पार्वती ने हठात् कहा: 'अमुक शहर में अमृता दीदी के एक प्रशंसक हैं।'

सभी में बड़ा जोश आया: 'अच्छा, ऐसी बात है, अच्छा ऐसी बात है,' कहकर सभी चिहुँक उठीं। मैं जरा भी विस्मित नहीं हुई। इस लम्बे जीवन में निन्दा और प्रशंसा—दोनों ही मुझे काफी मिली हैं। इसलिए मेरे किसी प्रशंसक का रहना तो असम्भव नहीं है!

'अच्छा तो उनका नाम क्या है?'

'मिर्चा यूक्लिड!'

मैं भीतर-ही-भीतर चौंक उठी थी। मन-ही-मन सोच रही थी, अब तक तो यही पता था कि यह लड़की मुझे प्यार करती है, मेरी श्रद्धा करती है। पर अभी देखो, कैसे मेरा अपमान कर रही है! मगर जहाँ तक सम्भव है, मैं निर्विकार बनी रही। पर श्रीमती पार्वती कहती ही चली जा रही थी: दो वर्ष पहले 'ज' से उनकी मुलाकात हुई थी। उस दिन वे कुछ क्लान्त थे, अस्वस्थ भी। एक बंगाली को देखकर वे कलकत्ता के बारे में बोलने लगे—अभी तो सभी कलकत्ता की निन्दा किया करते हैं, लेकिन उन्होंने जिस कलकत्ता को देखा था, उसकी बराबरी का दूसरा शहर उन्होंने और कहीं नहीं देखा है। विशेषकर वहाँ की लड़कियों के माधुर्य

न हन्यते : तृतीय पर्व

और भी ग्यारह वर्ष बीत चुके हैं। इस बीच दो बार यूरोप घूम आयी हूँ। पर कभी उसका नाम तक नहीं सुना। उसकी बात भी याद नहीं आयी। इन ग्यारह वर्षों में मैंने कुछ विशेष दायित्व हाथ में लिये हैं। मैं हर समय उन दायित्वों के निर्वाह में तल्लीन रहती हूँ। मेरी उम्र ढलती जा रही है, शरीर भी जीर्ण हो रहा है। बेटे-बेटियों और नाती-पोतों को लेकर मेरा घर-संसार सुखी है, किन्तु इसके अलावा भी एक और बड़ा-सा घर-संसार तैयार हुआ है सखी-सहेलियों और सहकर्मियों को लेकर। उन सभी के लिए अपना एक व्यक्तित्व बनाने में भी मैं समर्थ हुई हूँ। जहाँ तक मेरा विश्वास है वह कुछ ऐसा है—मैं बहुत कड़ी महिला हूँ, विशेषतः समाज द्वारा अस्वीकृत प्रेम के सम्बन्ध में मेरे विचार बड़े कठोर हैं। उनके बीच वैसी अगर कोई घटना घटती है, तो वे उसे मुझसे छिपाने की कोशिश करती हैं। न्याय-अन्याय के सम्बन्ध में मेरे मनोभाव अनमनीय हैं, संवेदना-शून्य हैं। जरा भी इधर-उधर कुछ होता है, तो मैं सख्त-से-सख्त बातें कहती हूँ। और मैं बेहद व्यावहारिक हूँ। साथ ही मैंने स्वयं अपने लिए भी अपना एक रूप बनाया है—वह यह कि मैं अन्याय के साथ समझौता नहीं करती। किसी भी प्रकार का असंयम, चाहे वह शराब पीने से सम्बन्धित हो या और किसी अन्य प्रकार का, मैं इन आँखों से देख ही नहीं सकती, उसे बरदाश्त करना तो दूर की बात है। मैं मानती हूँ कि हर आदमी का समाज के प्रति कुछ दायित्व है। अपने

दोनों ही बूढे हो चुके हैं। यदि पूछूँ, कैसे हो, तो हर्ज क्या है ?

उन दिनों हम लोग बहुत व्यस्त थे। बांगला देश का युद्ध चल रहा था, समूचे पश्चिम बंगाल में जोश छाया हुआ था, सभी किसी-न-किसी काम में लगे हुए थे, हम लोग भी। इस बीच वह हलकी-सी बात कहाँ दब गयी, कौन जाने ! मनुष्य के चरम दुःख और दुर्दशा के बीच यह कल्पित और व्यक्तिगत सुख-दुःख क्या अर्थहीन प्रतीत होता है ? हजारों-लाखों गृह-हीन, अन्न-हीन, वस्त्र-हीन लोग भागे आ रहे थे आश्रय की खोज में; उनकी यन्त्रणाओं का उत्ताप हमारे बदन को लग रहा था। सीमा पर हम लोग रोज जाया करते थे। वहाँ हैजा फैल गया था। शरणार्थी-शिविर के आस-पास रोज ही लाशें पड़ी मिलती थीं। एक दिन एक शिविर के सामने के रास्ते पर अपनी समवयस्का एक नारी की मृत्यु-शैया देखी। एक पेड़ के नीचे फटी गुदड़ी पर वह पड़ी हुई थी—उसकी देह प्रायः स्पन्दनहीन थी। रह-रहकर उसे हिचकी आ रही थी। सहायता-कार्य करने वाले रास्ते के बीच में ही उसे सैलाइन चढ़ा रहे थे; जरा देर बाद ही वह इस दुनिया से कूच करने वाली थी। शाम होने को आ रही थी—पश्चिमी आकाश पर रंगीन रक्त-रेखाएँ खिंच गयी थीं; उस उदासीन विश्व-सौन्दर्य के बीचोबीच एक आदमी का जीवन खत्म होने जा रहा था, दीप बुझने वाला था। मैं सोच रही थी, कल इस समय उसका कोई चिह्न तक नहीं रहेगा। यह जो एक दिन इस दुनिया में आयी थी, इसका भी कोई रहा होगा, इसने भी किसी को प्यार किया होगा, किसी का प्यार इसे भी मिला होगा—इन सब बातों को कौन याद रखेगा ? तो फिर ऐसी बातों का क्या अर्थ है ? मृत्यु के मुँह में पड़ी उस नारी की बगल में खड़ी होकर मैं जैसे स्वयं अपनी मृत्यु-शैया देख पायी। जहाँ तक लगता है, मैं रास्ते पर लेटी नहीं रहूँगी, बल्कि पलंग पर लेटी सगे-सम्बन्धियों से घिरी हुई मृत्यु की प्रतीक्षा करूँगी। लेकिन उसके बाद ? हम दोनों की ही देह तो एक-सी है, देह तो देह है, इसमें कोई फ़र्क नहीं होता। जिस तरह इसकी देह का कोई चिह्न नहीं रहेगा, उसी तरह मेरी भी देह का एक दिन कोई चिह्न तक नहीं रहेगा। श्मशान में पैदा होने वाले वैराग्य ने मेरे मन को अभिभूत कर दिया। मरी आँखें

जल रही थीं; आँसू निकल आये थे—सभी सोच रहे थे, मैं करुणा से कातर हो उठी हूँ। रवींद्र बोला : 'मौसीजी को यहाँ से ले जाओ।' फिर मुझसे कहा : 'आप वन-गाँव चली जाइये।'

पर मैं तो रो रही थी स्वयं अपने मृत्यु-शोक से : सोच रही थी, बस अब तो मेरे भी खतम होने के दिन आ गये, मैं भी तो अब इस दुनिया से कूच कर जाऊँगी, मेरा भी नाम-निशान नहीं रहेगा। जो कुछ मिला है और जो कुछ नहीं मिला है—वे सब एक-से हो जायेंगे—सोना और धूल दोनों ही एक हैं! कुछ दिनों के लिए दुनिया में आकर मनुष्य, मनुष्य को कितना कष्ट देता है—सुख तो किसी को कम ही दे पाता है—बल्कि अपार यंत्रणा ही दिया करता है! हठात् मैं उसे जैसे अपनी मृत्यु-शैया की बगल में देख पायी। गाड़ी से वापस आते-आते उस अद्भुत परिवेश में मुझ पर उसी की याद हावी हो गयी। बस, अब तो उसका पता मिल गया है, तो फिर क्यों न उसे एक चिट्ठी लिखूँ? इतने दिन हो गये, मन में अब तो उसके प्रति वैसा कोई भाव है नहीं। पुराने मित्र को क्या एक चिट्ठी नहीं लिखी जा सकती है? लेकिन पार्वती से उसका पता माँगूँ भी तो कैसे? वह क्या सोचेगी? जो चाहे सोचे, क्या आता-जाता है! मौत के सामने खड़ी होकर जिस लाज-संकोच को गले लगाये इतने दिन पड़ी हुई थी, वह झूठा प्रतीत हुआ। कोई निन्दा करे या बुरा माने, मेरे बारे में जो कुछ भी सोचे, तो भी मैं दुःखी नहीं होऊँगी। दूसरे दिन मैंने चिट्ठी लिखी : 'प्रिय पार्वती, तुम्हारे पास प्रोफ़ेसर यूक्लिड का पता हो, तो देना।' पता पार्वती ने भेज दिया, साथ में आयी 'ज' की चिट्ठी। उसने लिखा था : 'वे बहुत अच्छे आदमी हैं, और भारत में ही उनका मन बसा हुआ है। कलकत्ता तो उनके सपनों का नगर है और इनके पांडित्य का लोहा सारा विश्व मानता है।' पांडित्य की ख्याति की बात सुनकर मेरा मन फिर विकल हो गया। निरे पांडित्य पर मेरी श्रद्धा नहीं है, इसी क्षोभ से तो...। खैर, उन बातों से अब क्या लेना-देना है! बाद में क्या कुछ हुआ है उससे मुझे कोई सरोकार नहीं। मैं जिसे पहचानती हूँ, उसे चिट्ठी क्यों लिखूँ? एक चिट्ठी लिखकर तो देखूँ कि वह उत्तर देता है कि नहीं। मैंने लिखा :

'मिर्चा यूक्लिड, सुना कि तुमने 'उ' से मेरे बारे में पूछा था। मैं जानना चाहती हूँ कि तुम्हीं वह व्यक्ति हो कि नहीं, जिसे मैं चालीस वर्ष पहले पहचानती थी। अगर तुम वही व्यक्ति हो, तो इस चिट्ठी का उत्तर देना।

—अमृता।'

पर मेरी उस चिट्ठी का उत्तर नहीं आया। मैंने प्रतीक्षा की। सन्देह हुआ, क्या पता ठीक से लिखा गया था या नहीं—मगर उसके साथ जितनी चिट्ठियाँ विदेश भेजी गयी थीं, उन सबका उत्तर आया, पर उसी चिट्ठी का उत्तर नहीं आया। ख़ैर! तब मन को समझाया, बहुत सारे काम हैं करने को। बहुत सारी बातें हैं सोचने को। ढेर-सारी समस्याएँ हैं, जिनके बारे में मुझे चिन्ता करनी है, फिर इस एक फ़ालतू बात से मन गिराने में कोई लाभ नहीं।

इसी उन्नीस सौ इकहत्तर ईस्वी में फिर एक बार उसकी किताब की चर्चा सुनी। यूरोप से उस समय बहुतेरे लोग आ रहे थे बांगला देश का युद्ध देखने, संवेदना जताने, सहायता करने व अपना कुतूहल मिटाने के लिए। हमारे प्रतिष्ठान का काम-काज भी बहुत-से लोग देख रहे थे हमारे साथ। ये लोग यूरोप में रहते थे। मैं इन्हें उतना पहचानती नहीं थी। उस लड़की का नाम था रीता। कम उम्र की वह लड़की अनेक भाषाएँ जानती थी, उसकी (यूक्लिड की) भाषा भी जानती थी। मैदान में हम दोनों बैठी हुई थीं, बाकी सब इधर-उधर थे, हठात् रीता ने मुझसे कहा : 'मैंने एक किताब पढ़ी है, उसमें आपका नाम है। पर वह क्या आपका ही नाम है?' मैंने झट-से चारों ओर देख लिया, राहत की साँस ली, कोई नहीं था आस-पास। किन्तु रीता के प्रश्न का उत्तर देने की ज़रूरत नहीं समझी मैंने, उसने भी और बात नहीं बढ़ायी।

हमारी गतिविधियाँ बढ़ती गयी थीं। मैं तरह-तरह की विचित्र समस्याओं की भँवर में पड़ती जा रही थी। प्रतिदिन नये-नये लोगों से परिचय हो रहा था। मेरा घर और दुनिया एक-से हो गये थे। घर में भी हर रोज

जल रही थीं; आँसू निकल आये थे—सभी सोच रहे थे, मैं करुणा से कातर हो उठी हूँ। रशीद बोला : 'मौसीजी को यहाँ से ले जाओ।' फिर मुझसे कहा : 'आप बन-गाँव चली जाइये।'

पर मैं तो रो रही थी स्वयं अपने मृत्यु-शोक से : सोच रही थी, बस अब तो मेरे भी खत्म होने के दिन आ गये, मैं भी तो अब इस दुनिया से कूच कर जाऊँगी, मेरा भी नाम-निशान नहीं रहेगा। जो कुछ मिला है और जो कुछ नहीं मिला है—वे सब एक-से हो जायेंगे—सोना और धूल दोनों ही एक हैं ! कुछ दिनों के लिए दुनिया में आकर मनुष्य, मनुष्य को कितना कष्ट देता है—सुख तो किसी को कम ही दे पाता है—बल्कि अपार यंत्रणा ही दिया करता है ! हठात् मैं उसे जैसे अपनी मृत्यु-शैया की बगल में देख पायी। गाड़ी से वापस आते-आते उस अद्भुत परिवेश में मुझ पर उसी की याद हावी हो गयी। बस, अब तो उसका पता मिल गया है, तो फिर क्यों न उसे एक चिट्ठी लिखूँ ? इतने दिन हो गये, मन में अब तो उसके प्रति वैसा कोई भाव है नहीं। पुराने मित्र को क्या एक चिट्ठी नहीं लिखी जा सकती है ? लेकिन पार्वती से उसका पता माँगूँ भी तो कैसे ? वह क्या सोचेगी ? जो चाहे सोचे, क्या आता-जाता है ! मौत के सामने खड़ी होकर जिस लाज-संकोच को गले लगाये इतने दिन पड़ी हुई थी, वह झूठा प्रतीत हुआ। कोई निन्दा करे या बुरा माने, मेरे बारे में जो कुछ भी सोचे, तो भी मैं दुःखी नहीं होऊँगी। दूसरे दिन मैंने चिट्ठी लिखी : 'प्रिय पार्वती, तुम्हारे पास प्रोफ़ेसर यूक्लिड का पता हो, तो देना।' पता पार्वती ने भेज दिया, साथ में आयी 'ज' की चिट्ठी। उसने लिखा था : 'वे बहुत अच्छे आदमी हैं, और भारत में ही उनका मन बसा हुआ है। कलकत्ता तो उनके सपनों का नगर है और इनके पांडित्य का लोहा सारा विश्व मानता है।' पांडित्य की ख्याति की बात सुनकर मेरा मन फिर विकल हो गया। निरे पांडित्य पर मेरी श्रद्धा नहीं है, इसी लोभ से तो...। खैर, उन बातों से अब क्या लेना-देना है ! बाद में क्या कुछ हुआ है उससे मुझे कोई सरोकार नहीं। मैं जिसे पहचानती हूँ, उसे चिट्ठी क्यों लिखूँ ? एक चिट्ठी लिखकर तो देखूँ कि वह उत्तर देता है कि नहीं। मैंने लिखा :

'मिर्जा यूक्लिड, सुना कि तुमने 'ज' से मेरे बारे में पूछा था। मैं जानना चाहती हूँ कि तुम्हीं वह व्यक्ति हो कि नहीं, जिसे मैं चालीस वर्ष पहले पहचानती थी। अगर तुम वही व्यक्ति हो, तो इस चिट्ठी का उत्तर देना। —अमृता।'

पर मेरी उस चिट्ठी का उत्तर नहीं आया। मैंने प्रतीक्षा की। सन्देह हुआ, क्या पता ठीक से लिखा गया था या नहीं—मगर उसके साथ जितनी चिट्ठियाँ विदेश भेजी गयी थीं, उन सबका उत्तर आया, पर उसी चिट्ठी का उत्तर नहीं आया। खैर! तब मन को समझाया, बहुत सारे काम हैं करने को। बहुत सारी बातें हैं सोचने को। ढेर-सारी समस्याएँ हैं, जिनके बारे में मुझे चिन्ता करनी है, फिर इस एक फ़ालतू बात से मन गिराने में कोई लाभ नहीं।

इसी उन्नीस सौ इकहत्तर ईस्वी में फिर एक बार उसकी किताब की चर्चा सुनी। यूरोप से उस समय बहुतेरे लोग आ रहे थे बांगला देश का युद्ध देखने, संवेदना जताने, सहायता करने व अपना कुतूहल मिटाने के लिए। हमारे प्रतिष्ठान का काम-काज भी बहुत-से लोग देख रहे थे हमारे साथ। ये लोग यूरोप में रहते थे। मैं इन्हें उतना पहचानती नहीं थी। उस लड़की का नाम था रीना। कम उम्र की वह लड़की अनेक भाषाएँ जानती थी, उसकी (यूक्लिड की) भाषा भी जानती थी। मैदान में हम दोनों बैठी हुई थीं, साथी सब इधर-उधर थे, हठात् रीना ने मुझसे कहा: 'मैंने एक किताब पढ़ी है, उसमें आपका नाम है। पर वह क्या आपका ही नाम है?' मैंने झट-से चारों ओर देख लिया, राहत की साँस ली, कोई नहीं था आस-पास। किन्तु रीना के प्रश्न का उत्तर देने की जरूरत नहीं समझी मैंने, उसने भी और बात नहीं बढ़ायी।

हमारी गतिविधियाँ बढ़ती गयी थीं। मैं तरह-तरह की विचित्र समस्याओं की भँवर में पड़ती जा रही थी। प्रतिदिन नये-नये लोगों से परिचय हो रहा था। मेरा घर और दुनिया एक-से हो गये थे। घर में भी हर रोज

सैंकड़ों लोगों का आवा-जाही होती थी। 'कर्म जब विपुल आकार धारण करता है तब गरज उठता है और चारों दिशाओं को अपने में समो लेता है,' उस कर्म का गर्जन हम लोग सुन रहे थे। इससे पहले मैंने ऐसी ज़िन्दगी किसी दिन नहीं जी थी। इस कर्म-विमुख, आलस्य में डूबे देश में हम लोगों ने एक ऐसा करने लायक़ काम पाया था जिसे करने में अपने-आपको पूरी तरह निःशेष करके भी जी नहीं भर रहा था, भला तब कोई तुच्छ व्यक्तिगत बात कितनी देर तक याद रहती ?

उस समय से अर्थात् उन्नीस सौ इकहत्तर के अन्तिम दिनों से अकारण ही मेरे मन में केवल यही एक आकांक्षा बार-बार आया करती थी कि मैं कहीं दूर जाऊँगी। इस बारे में सोचती भी थी। पता नहीं, कितने लोगों से कहा था कि मैं बाहर कहीं जाना चाहती हूँ। काम के सिलसिले में विदेशियों से प्रायः ही भेंट हो रही थी, उनसे कहा करती थी, तुम्हारे देश तो जल्दी ही आऊँगी। मैं स्वयं भी यह सोच-सोचकर आश्चर्य-चकित हो जाया करती थी कि आखिर क्यों ऐसी इच्छा-आकांक्षा एकाएक होने लगी है, इसका कारण भला क्या हो सकता है और इतना जोश ही मुझ में कहाँ से आ रहा है ! मेरी दशा कुछ वैसी थी : 'मुझे नहीं हैं पर, मैं हूँ एक ठौर पर, यह बात जाती है बिसर !'

उन्नीस सौ बहत्तर ईस्वी के अगस्त में सेरगेइ सेबास्टिन कलकत्ते आया था, इस कहानी के आरम्भ में जिसके बारे में कह चुकी हूँ। पहली सितम्बर की सुबह जब उससे भेंट करने जा रही थी, तो मन में एक कुतूहल मात्र था, देखूं, उसके बारे में क्या कहता है—बस, इतना-सा ही कुतूहल था, लेकिन उससे बात करके तो मैं अचम्भे में पड़ गयी थी। मिर्चा के सम्बन्ध में मुझे ढेर सारे संशय थे, किन्तु वह ऐसा भयानक झूठा है, यह तो पहले कभी समझ नहीं पायी थी।

"क्या शर्मनाक झूठ है—छिः, छिः! इतना नीच है तुम्हारा दोस्त और तुम उसी का गुण-गान कर रहे हो ?"

'मैं उनका दोस्त नहीं, शिष्य हूँ। वह मेरा गुरु है। मैं उनसे बहुत छोटा हूँ।"

"वाह, अच्छा गुरु मिला है तुम्हें! स्वयं अपराध करके भाग गया और ऊपर से तुमसे प्रतिशोध लिया है, तुम्हें कलंकित किया है।"

सेरगेई कह रहा है, "तुम्हें तो पता नहीं कि उसने कितनी तकलीफ़ पायी है। अगर तुम उसकी रचना पढ़तीं, तो समझ सकतीं उसकी वेदना को। कल्पना में उस वेदना से उसने मुक्ति खोजी है। उस विषाद को छूने से भी लहू चूने लगता है।"

"ये तमाम कैफ़ियतें बेकार हैं। उसने जो बुरा काम किया है, उसके लिए मैं उसे माफ़ नहीं कर सकती। जीवन में उसने मुझे कुछ भी नहीं दिया, दिया भी है तो अन्त में सिर्फ़ कलंक! अच्छा, तुम्हीं बताओ सेरगेई, किसी के नाम का उल्लेख करके लिखना चाहिए? आखिर वह तो दूसरे की बदनामी करने के समान है।"

"पर वह तो एक कहानी है, और कहानी के लिए कुछ तो कल्पना करनी ही पड़ती है। यह बात जरूर ठीक है कि भारत इस सम्बन्ध में जहाँ पहले था आज भी वहीं है।"

'मगर उसने मेरे नाम का उल्लेख क्यों किया, मुझे अपमानित करने के लिए न?"

सेरगेई दुःख पा रहा है: "तुमने उन्हें ग़लत समझा है। तुम उनके प्यार को भूल गयीं? पर वे तो अभी भी तुम्हें प्यार करते हैं, उनकी अधिकांश रचनाओं में कहीं-न-कहीं तुम्हारा स्पर्श आ जाता है। और वे जो भारतीय हो गये, यह तो आख़िर तुम्हारे ही लिए न! वे क्या तुम्हारे नाम का बन्धन काट सकते हैं?"

"अगर इतना ही प्यार करता था, तो फिर वह मेरी चिट्ठी का उत्तर क्यों नहीं देता है?"

सेरगेई चौंक उठा, "उत्तर नहीं देता है? तुमने चिट्ठी लिखी है और तुम्हें उत्तर नहीं मिला है! कितनी चिट्ठियाँ लिखी हैं तुमने?"

"मैंने तीन चिट्ठियाँ लिखी हैं। हर बीस वर्ष पर एक बार मैंने उसे अपने अस्तित्व की याद दिलायी है। मगर मुझे उससे कोई उत्तर नहीं

मिला है।"

सेरगेई माथा नीचा करके सोच रहा है। "वह आत्म-पीड़न किया करता है, अपने जी के विरुद्ध संघर्ष करता रहता है—जो उसका मन चाहता है वह उससे उलटा काम करने का आदी है। यह उसका स्वभाव है। जरूर ही तुम्हें उत्तर लिखने का उसका खूब मन हुआ होगा, इसीलिए नहीं लिखा है।"

मैं चुप हूं। मुझे उसके चरित्र के इस पहलू की बात याद आ रही है—क्या पता उसके मन में क्या है, बड़ा रहस्यमय आदमी है वह तो—जिसने अपने देश के हर आदमी से मेरा परिचय कराया है लेकिन उसने मेरा यह झूठा परिचय आखिर क्यों दिया? एक ओर मुझे असह्य गुस्सा आ रहा है, दूसरी ओर याद आ रहा है उसका अस्तित्व, और ताजा हो रही हैं उसकी स्मृतियां। मैं कह रही हूं: "सेरगेई, किसी तरह से उससे मेरी फिर मुलाक़ात नहीं हो सकती?"

"मुलाक़ात क्यों नहीं होगी? इस दुनिया में तुम दोनों ही जिन्दा हो, किसी-न-किसी दिन तो जरूर ही मुलाक़ात होगी।"

मैं सोच रही हूं: 'हा ईश्वर! उसे फिर देखने को जी चाह रहा है।'

"अच्छा सेरगेई, मैं अगर उससे मिलने जाऊं, तो वह मुझसे मुलाक़ात करेगा?"

"जरूर करेगा। ऐसा कहीं हो सकता है कि वह तुमसे मुलाक़ात न करे? आखिर उसका मन तो इसी देश में पड़ा हुआ है।"

सेरगेई के साथ बातें कर रही हूं और अबकी बार समझ पा रही हूं कि मेरा सूक्ष्म शरीर मेरी स्थूल देह से बाहर निकल गया है—मैं अब यहां नहीं हूं—अर्थात् मैं अपने-आपको साफ़-साफ़ दो टुकड़ों में विभक्त देख पा रही हूं।

मैं घर वापस आयी और उस समारोह के दिन को किसी तरह बिता दिया। पहले ही कह चुकी हूं, मैं प्रतिपल वर्तमान से अतीत में प्रवेश कर रही हूं। एक-एक दिन को फिर बिता रही हूं, हर घटना जैसे फिर से घट रही हो। मैंने अब तक जो कुछ लिखा है उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति हुई है

मुझे। यह सब-कुछ सहज ही नहीं हुआ है। एक ही समय में दो अवस्थाओं में वास करने की मानसिक यंत्रणा को वाक्य में रूपायित करने की भाषा की सामर्थ्य ही मुझे नहीं मिली है ! एक ओर तो मेरा वर्तमान जीवन अपना परिपूर्ण दावा लेकर उपस्थित है और दूसरी ओर, मेरा एक और अस्तित्व जैसे एक छायामूर्ति बनकर मेरे अस्तित्व के पीछे खड़ा हो, और मेरे हर पल को छू रहा हो। मेरा मन तो जैसे एक वाद्य-यंत्र की तरह हो गया है, जरा-सी छुअन लगने से जिसके तार झनझना उठते हैं। क्रमशः ऐसा हो रहा है कि अतीत ही सामने आ रहा है, मैं अपने-आपको लेकर क्या करूँ, कुछ सोच नहीं पा रही हूँ !

किसी-किसी दिन तो ऐसी हालत होती है कि सबके सामने बड़ी परेशानी में पड़ जाती हूँ। कभी-कभी ऐसा होता है कि बेटे ने आकर कुछ पूछा और मैं हूँ कि सुन ही नहीं पायी। एक दिन मैं अपने पति के साथ किसी काम के सिलसिले में एक जगह जा रही थी। बीस मील का सफ़र था। हम लोग गाड़ी से चले जा रहे थे। हमेशा ऐसा होता था कि मैं ही बात किया करती थी और वे उत्तर दिया करते थे, मगर उस दिन उन्होंने शायद दो-एक बातें करने की कोशिश की, लेकिन मुझसे कोई उत्तर न पाकर चुप हो गये थे। जब हम लोग गन्तव्य स्थल पर पहुँचे, तो मैंने तो कोई बात ही नहीं की है, अतः अपने पति से कहा, "इतने दिन तुम चुप्पी साधे रहते थे, इस बार मैंने चुप्पी साधी।"

उन्होंने कहा, "यही तो देख रहा हूँ कि इस प्रतियोगिता में तुमने मुझे हरा दिया !"

किसी-किसी दिन तो कुछ भी समझ में नहीं आता है कि कब सुबह होती है, कब दिन ढल जाता है और कब रात आ पहुँचती है। रात मेरे लिए भयंकर, अति भयंकर हो उठती है। मेरी नसों में आग जल रही है, क्रोध की आग ! भयंकर है यह अग्नि-दाह ! मैं ठान लेती हूँ, इसका कुछ-न-कुछ प्रतिकार तो मुझे करना ही पड़ेगा। जब मुझे पता चल चुका है, तो मुँह बन्द रखकर मैं अन्याय को सहन नहीं करूँगी। उसके देश में मेरी एक सहेली रहती है, उसे मैंने लिखा है :

'सुमिता, तुमने यूक्लिड की रचना जरूरी पढ़ी होगी, पर इतने दिन तुमने मुझे कुछ नहीं बताया, लेकिन सेरगेई से मैंने सब-कुछ सुना। वे मेरे पिताजी के छात्र के रूप में हमारे घर में थे, हम लोगों से उपकृत भी हुए थे, उसी का बदला चुकाया है उन्होंने। लेकिन तुम इसका एक प्रतिवाद लिखना। भारतीय नारी की मर्यादा को नष्ट होने से बचाना तुम्हारा भी कर्तव्य है।' यह चिट्ठी तो मैंने लिखी, किन्तु मेरे मन की गहराई में जो परिवर्तन होता जा रहा है उसका रूप, उसकी प्रकृति कुछ और है!

सुमिता ने लिखा : 'मैंने सेरगेई से बार-बार अनुरोध किया था आपसे उस किताब का उल्लेख न करने का। पर वे अपने मत के अत्यन्त पक्के व्यक्ति हैं। उनके आपसे मिलने के पहले और बाद भी मैं उन्हें हरगिज यह नहीं समझा पायी कि यह चर्चा आपके लिए प्रीतिकर नहीं होगी। खैर, आप तो अपने राजनीतिक व सामाजिक कर्म-क्षेत्र में तरह-तरह के चरित्र वाले लोगों को देखने की आदी हैं। आशा है, आप क्षमा करेंगी। आपने बहुत विचलित मन:स्थिति में वह चिट्ठी लिखी थी। यह समझ पा रही हूँ—ऐसा होना स्वाभाविक ही है। सेरगेई चाहे कुछ भी कहें, क्या होता है? आप बुरा न मानें। मैंने यहाँ के दो-एक साहित्यिक मित्रों से इसकी चर्चा की है, वे लोग मुझसे सहमत हैं कि आपके परिचय का उल्लेख करना अनुचित हुआ है। खैर, अब तो चालीस वर्ष गुजर चुके हैं। उस किताब के बारे में अब किसी को कुछ याद भी नहीं है। आपके परिवार के किसी भी व्यक्ति को उस किताब की विषय-वस्तु की जानकारी होने की सम्भावना भी नहीं है।'

सुमिता की चिट्ठी हाथ में लिये मैं सोच रही हूँ, इस लड़की से मुझे सान्त्वना मिली है—कारण, यह पुस्तक तो प्राणवान् है—चाहे वह चालीस वर्ष पहले लिखी गयी हो, तो भी उसका जीवन अभी भी स्पन्दनमय है। सुमिता ने और भी लिखा है, 'अब नये सिरे से इस विषय में कुछ लिखना गड़े मुर्दे उखाड़ना होगा। जो कीचड़ पानी के तल में बैठ चुका है, मथकर उसे ऊपर लाने और पानी को फिर से गँदला करने से लाभ?' तो इसमें

कीचड़ भला क्या है? कीचड़ तो था नहीं उस बालिका के निर्मल हृदय में, नहीं, क़तई कहीं कीचड़ नहीं था—कीचड़ जो है, वह तो इस व्यक्ति की अपनी कल्पना से बना है!

दिन-पर-दिन और रात-पर-रात गुज़रती जाती है। मैं सोच रही हूँ, आख़िर कैसे मैं इस झूठ की ग्लानि से अपने-आपको मुक्त करूँ? सच की ज़िम्मेदारी तो मैं ढोने को तैयार हूँ, लेकिन झूठ की ज़िम्मेदारी मैं क्यों लूँ? मैं अपनी सहेलियों के साथ विचार-विमर्श कर रही हूँ—उन्हें बताये बिना अब कोई चारा नहीं है। सब-कुछ सुनकर तो वे चौंक उठी हैं। उनके लिए मेरे जीवन की यह घटना अप्रत्याशित है। मैं उनसे कह रही हूँ—भाग्य का परिहास तो देखो, इतने दिनों तक जिस घर-संसार को मैंने अपने हाथों बनाया है अपने पति, सन्तान, आत्मीय और परिजनों को लेकर और जो मेरे जीवन के साथ घुल-मिल गया है, उसका तो पता नहीं कहाँ लोप हो जायेगा, साथ ही मेरा यह सचमुच का जीवन छाया होकर विलीन हो जायेगा। जो मेरा कोई नहीं, कुछ भी नहीं है, जीवन के लम्बे सफ़र में दो पल के लिए जिस अपरिचित से मेरी मुलाक़ात हुई थी, उसी का परिचय सबसे ज्यादा सच्चा बनकर बरकरार रहेगा। समस्त सामाजिक बन्धन यहाँ तक कि अर्थहीन सम्पर्क भी मृत्यु के साथ ख़त्म हो जाते हैं, शून्य में विलीन हो जाते हैं, किन्तु उसने जिस बन्धन की सृष्टि की है वह तो अकाट्य है। मेरा क्या होगा, पार्वती! जीवन में जिसका कहीं कोई स्थान नहीं रहा, मरण में उसी के साथ बँधी रहूँगी—'पर-पुरुष के साथ बँधा रहेगा नाम मृत्यु के मिलन में।'

इन कम उम्र की सहेलियों के साथ बातें करके मुझे पता चलता है कि यह दुनिया कितनी बदल चुकी है। इन्होंने सत्य को देखना सीखा है। मैंने जो सोचा था कि मेरे इस असामाजिक और असमय के मनोविकार के चलते ये लोग दूषित वस्तु की भाँति मेरा परित्याग करेंगी, वैसा तो कुछ हुआ नहीं, बल्कि इन लोगों ने मुझे ज्यादा अपना लिया, अपने जीवन की सच्चाई के प्रकाश में इनके लिए मैं प्रियतर हो उठी। हमारे समय

बहुत गुस्सा किया : 'कोई भला आदमी ऐसा काम नहीं करता है दीदी, कब की घटी एक मामूली-सी घटना को लेकर कोई इस तरह एक किताब लिख डालता है भला !'

मैं सुन रही हूँ और समझ रही हूँ कि यह किताब तो अभी तक मरी नहीं है, चालीस वर्षों से जिन्दा है—यह दीर्घजीवी ग्रन्थ तो क्रमशः और भी बल-वीर्य प्राप्त करेगा, खासकर जब दुनिया और भी छोटी हो जायेगी। हाय-हाय, कितने दिनों से मैं उस किताब के बारे में सुनती आ रही हूँ, पर क्यों इतने दिन एक बार भी मैंने खोज तक नहीं की कि आखिर क्या लिखा गया है उस किताब में ? अपने नाम, ख्याति व अख्याति के सम्बन्ध में मैं काफी सजग हूँ। अगर कोई मुझसे कहता है कि अमुक अखबार में आप लोगों के या आपके सम्बन्ध में यह खबर छपी है या आपकी फलाँ मीटिंग का फोटो अखबार में देखा, तो उसी दम मैं उस अखबार को मँगवाकर देखती हूँ। देखे बिना मुझे चैन नहीं आता। और अगर कोई बुरी बात छपी देखती हूँ, तब तो गुस्से के मारे अस्थिर हो जाती हूँ और प्रतिवाद लिखवाने के लिए लोगों को बुलाती हूँ। वही मैं बार-बार सुनती आ रही हूँ उस किताब के बारे में, मगर एक बार भी मेरी जानने की इच्छा नहीं हुई कि आखिर उसमें लिखा क्या हुआ है ? पिताजी के जिन्दा रहते अगर यह मालूम हुआ होता, तो इसका मुँह-तोड़ जवाब देती। पर पिताजी को तो मालूम ही था, फिर भी उन्होंने कुछ नहीं किया। पिताजी ने इसकी परवाह नहीं की थी। बस, यही सोचकर वे खुश थे कि उसने किताब लिखी है, यह अच्छी बात है। बहुत दिनों के बाद मैं पिताजी को उन्नीस सौ तीस ईस्वी की तरह प्यार कर रही हूँ। मैं उन्हें पुकारकर कह रही हूँ : 'देखिये पिताजी, अपने शिष्य की करतूत तो देखिये, जिसने एकलव्य की तरह दूर रहकर आपको अपना गुरु माना और साधना करता रहा, उसी ने मेरी क्या दशा की है, देखिये तो। तब तो आपने मुझे इसके हाथ से बचाना चाहा था, मगर सचमुच क्या बचा सके ?'

सेरगेई ने कहा है : 'जीवन में तो वे आपको कुछ भी नहीं दे सके, इसीलिए साहित्य के माध्यम से उन्होंने अपने अक्षय प्रेम को अमर

ना चाहा है।' हाय भगवान, झूठ भी क्या कभी अमर हो सकता है? ठ से क्या अमरत्व रचा जाता है? मैं सोच रही हूँ, उसी व्यक्ति ने, सकी स्मृति को मैंने मन की गहराई में गुप्त धरोहर की भाँति बचा-र रखा था, जिसके नाम को किसी ने, किसी भी दिन मेरी ज़बान से नहीं सुना था, मुझे लोगों की नजरों के सामने नंगा कर डाला है। और यद्यपि मेरी चिट्ठियों का उत्तर देने का साहस उसे नहीं है, फिर भी गत चालीस वर्षों से मेरे मांस को बेच-बेचकर उसने धन जुटाया है! यही है पाश्चात्य देश के सभ्य की करतूत! किन्तु मैं लोगों को कैसे समझाऊँ कि यह भय और चिन्ता मन के एक स्तर पर हैं, और यही मेरे ऊपरी मन को हिला-डुला रही हैं, पर मन की गहराई में जो एक और भाव है वह बिलकुल ही कुछ दूसरी तरह का है।

दिन-पर-दिन कट रहे हैं, रात-पर-रात मैं जगी रहती हूँ। मेरा इतने दिनों के संस्कारों और संभ्रम-बोध—सबको जैसे आग लग रही है। एक भय की लौ अन्तस्तल से उठकर सब-कुछ जलाते-जलाते निरन्तर भड़कती जा रही है। मैं थोड़ा-थोड़ा कर पिघलती जा रही हूँ—मोमबत्ती की तरह। मेरे समूचे तन-मन में उसका प्रकाश फैलता जा रहा है और बूंद-बूंद करके बिखरता जा रहा है, जलता जा रहा है, ध्वस्त होता जा रहा है मेरा अहं, मेरा दर्प, साधुता का गर्व, और मेरी सम्मान-स्पृहा—उस लौ के स्पर्श से वह सब-कुछ जल रहा है जिसे इतने दिनों तक मूल्यवान समझा था— इस अनिर्वचनीय अवस्था को सिर्फ़ गीत में ही कहा जा सकता है: प्रभु, मेरे समस्त अहंकार को अश्रुओं में डुबा दो!' मेरी समझ में रहा है कि युग-युगान्तर के संस्कारों से गढ़ा हुआ मेरा यह अहं सच ही एक मोमबत्ती की तरह कड़ा, सीधा और तना हुआ था, पर भय की उस उग्र लौ ने उसे ज़रा-ज़रा करके पिघला डाला है, लेकिन क्या भय की लौ है? पीछे कहीं मेरी बदनामी न हो, यही भय है तो क्या मैं लोक-निन्दा के भय से कातर हूँ? आधी रात में ऊपर की ओर ताकती खड़ी रहती हूँ, तो समझ में आता है कि ऐसी बा है—नहीं, यह कोई भय नहीं है, बल्कि भय को आगे कर जो अ

निश्चल होकर खड़ा था वही भय को भी पिघला रहा है, और वह उसी की ज्योतिर्मय शिखा है, उसने मेरे भय को भी अपनी उष्णता की तपन में ध्वस्त कर दिया और दीप्यमान बना रहा। महीनों मैं जलती रही, सब-कुछ जल रहा है मेरा, यहाँ तक कि उम्र भी। मैं तो जैसे बिलकुल उन्नीस सौ तीस ईसवी में वापस पहुँच गयी हूँ। वैसी ही प्रगाढ़, वैसी ही सच्ची हो उठी है मेरी अनुभूति। प्रेम का प्रकाश मेरे अन्तर की गहराई में प्रविष्ट हो रहा है। उसके हर कोने में, हर अंधियारे गली-गलियारे में प्रकाश जल उठा है, और भय, गर्व और संस्कार-रूप छिन्न-भिन्न होता जा रहा है। मेरा ढोंग, बड़प्पन और अहंकार—सब विलीन होते जा रहे हैं, घिसते जा रहे हैं और मैं सत्य को विराट मूर्ति को देख पा रही हूँ। मेरा जीवन एक नये अर्थ से अर्थवान हो रहा है। मुझे उसकी याद आ रही है। उसका कुछ-कुछ विस्मृत चेहरा, उसकी बातें, उसका अद्भुत-सा दुर्बोध्य व्यवहार, उसका गुस्सा, उसकी ईर्ष्या और सर्वोपरि उसका प्रेम—सब-कुछ मुझे याद आ रहा है। मैं जैसे अनजाने ही एक अन्य स्तर पर चली गयी हूँ—यह एक ऐसा अन्य अस्तित्व है जहाँ इस दुनिया का अच्छा-बुरा, सच-झूठ, कल्पना व घटना और बाहरी दुनिया का सब-कुछ एक हो जाता है। मेरा मन कह रहा है : इस सबसे क्या आता-जाता है—क्या आता-जाता है—निन्दा-प्रशंसा सब एक समान हैं। आखिर इनमें बढ़कर भी तो कुछ सत्य है। मैं सोच रही हूँ, आखिर क्यों उसने इस तरह से इस अमर प्रेम को विफल किया ? चला जाना पड़ा था उसे, तो इससे क्या हुआ ? शरीर को पाना ही क्या एक मात्र पाना है ? यदि हर दस वर्ष पर भी हम लोग एक चिट्ठी का आदान-प्रदान करते, तो वही काफ़ी होता। उसी एक चिट्ठी के माध्यम से ही हम लोग पार कर जाते अपने बीच के महादेशों के व्यवधान को, पार कर जाते विच्छेद के अतलान्तिक महासागर को। उसी एक चिट्ठी के माध्यम से ही हम लोग अर्ध-नारीश्वर हो जाते, और हमारी युग्म सत्ता एक वृत्त में मिलकर सम्पूर्णता प्राप्त करती। किन्तु वे लोग क्या यह सब समझते हैं ? नहीं, नहीं समझते यह सब। उन लोगों के अनुसार, अर्थात् पाश्चात्य देश के निवासियों के अनुसार प्रेम की पूर्णता के लिए एक बिस्तर पर सोना ही

मैंने सुमिता को लिखा : 'तुम्हें अब प्रतिवाद नहीं लिखना है। मेरे लिए अब यह सब तुच्छ, सच-झूठ सब एक हो चुका है। मैं अब कुछ नहीं चाहती, कुछ भी नहीं, सिर्फ एक बार उसे देखना चाहती हूँ। एक दिन मैंने दुराव-छिपाव करके लिखा था, पर अब बता रही हूँ कि यह प्रेम परम सत्य है, इसके सामने मेरा आज का वास्तविक जीवन छाया-मात्र हो गया है— उसकी जो खुशी हो, लिखे, उसमें मुझे सम्मान मिलता है या असम्मान, यह बहुत मामूली बात है। पर जीवन में उसने मेरे प्यार को स्वीकार तो किया है, और यही काफ़ी है मेरे लिए—अतः उसका दिया हुआ कलंक भी मैं सिर-आँखों पर ले रही हूँ।'

मेरा अकिंचन भय तो दूर हो चुका है, लेकिन अवसाद मुझे घेरे हुए है। इसके चलते मैं तकलीफ पा रही हूँ। तमाम जीवन जैसे मेरे हाथों से खिसककर गिर पड़ा, और मैं खाली हाथ बैठी रह गयी। मैंने सेरगेई को लिखा : 'मुझे लगता है—समय-रूपी समुद्र के किनारे यात्रा का अनुभूति-पत्र हाथ में लिये मैं तो बैठी हुई हूँ, लेकिन जहाज ही नहीं आ रहा है। कितने दिन मैं इन्तजार करूँ भाई, उसे देखे बिना तो मैं मर भी नहीं सकूँगी।'

सुमिता की चिट्ठी मिली। उसने लिखा है :

आपकी चिट्ठी पाकर कुछेक दिन मैं इतनी अभिभूत थी कि क्या लिखूँ, कुछ सोच नहीं पायी थी। सेरगेई से बातें हुईं, उस दिन मैंने कहा, सत्य कल्पना से कहीं अधिक विस्मयकारी होता है! लेखक ने जब उस उपन्यास को लिखा था तब क्या वे जानते थे कि भविष्य का सत्य वर्तमान की कल्पना को भी पार कर जायेगा? उस उपन्यास के विरुद्ध जितनी शिकायतें थीं मैं उन सबको वापस ले रही हूँ। सच तो यह है कि उपन्यास का अन्तिम अंश बहुत दुःखदायी है, किन्तु आज का दुःखान्त उससे भी कहीं बड़ा है। मनुष्य के जीवन को गढ़ने वाले कारीगर का हाथ हम लोगों के हाथ से कहीं अधिक मँजा हुआ है...।

सुमिता ने और भी लिखा है : 'अनाधिकार चर्चा को यदि क्षमा करें, तो एक बात कहना चाहती हूँ। आपने लिखा है कि यह अनुभूति इतनी

प्रबल है कि आपके रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक बहे जा रहे हैं, किन्तु आपके अन्तर में बैठे जो सत्य को स्वीकार करने का निर्देश दे रहे हैं वे क्या रवीन्द्रनाथ ठाकुर नहीं हैं ?'

निद्रा-हीन रातों को मैं सेरगेई के साथ बातें किया करती हूं : सचमुच ही सेरगेई, तुम पता नहीं कहां से पाताल फोड़कर निकल आये और मेरे जीवन को उलट-पलट दिया ? जिस घाव के मुंह पर चालीस बरसों से पपड़ी पड़ी हुई थी, आज तुमने आकर उसे नोच डाला। अब तो लहू का बहना बन्द ही नहीं होगा, लहू से मेरा बिस्तर और तकिया गीला होता जा रहा है, और नींद से हीन मेरी रात का आकाश लहू से लाल हो उठा है। मैं शान्ति और सुखपूर्वक रह रही थी, पर तुमने उसे भी छीन लिया !

नज़र उठाकर देखती हूं, मेरे पति बिस्तर पर बैठे मेरी ओर निहार रहे हैं—उनकी आंखें नम हैं—"तुम्हें क्या हुआ है, मुझे नहीं बताओगी ?"

इनसे कहना होगा, बहुत दिनों से मेरी सहेलियां कह रही हैं, उनसे कहिये। मेरी सहेलियां मेरे पति की श्रद्धा करती हैं, सभी इन्हें मानती हैं, इनके प्रति आदर-भाव रखती हैं। वे बराबर कह रही हैं, वे बहुत ही सहानुभूति के साथ आपके सन्ताप को दूर करने की कोशिश करेंगे। लेकिन मैं ही हिचकिचा रही हूं। मैं सोच रही हूं, सब-कुछ बताकर तो इन्हें तकलीफ़ ही दूंगी। मुझे क्या अधिकार है इन्हें तकलीफ़ देने का ? सुनकर क्या इन्हें तकलीफ़ न होगी ? ऐसी बातें सुनकर तकलीफ़ न हो, कहीं ऐसा हो सकता है ? हमारे अड़तीस वर्षों के विवाहित जीवन में जिसके अस्तित्व ने एक क्षण के लिए भी इनके जीवन को स्पर्श तक नहीं किया है, जिसका नाम तक इन्हें मालूम नहीं है, वही अनदेखा, अनजाना व्यक्ति जब हठात् किसी गुफ़ा से बाहर निकल आयेगा, जैसे जादुई बोतल से निकलते धुएं के गुब्बारे के साथ कोई बैताल निकल आता है, तो क्या इन्हें तकलीफ़ नहीं होगी ? हमारी घर-गृहस्थी के साथ जिसका कोई सम्बन्ध नहीं, जिसकी

कोई निशानी तक मेरे पास या मेरे चारों ओर किसी ने नहीं देखी है, तैंतालीस वर्षों तक मैंने जिसे आँखों से नहीं देखा है, उसके बारे में जब ये सब-कुछ सुनेंगे, तो क्या इन्हें तकलीफ नहीं होगी ? जब ये देखेंगे कि मेरी बचपन की वह स्मृति आज इतनी जीवन्त हो उठी है और इनके इतने दिनों की घर-गृहस्थी को डाँवाडोल कर दे रही है, तो क्या इन्हें तकलीफ नहीं होगी ? यह क्या वे सहन कर सकेंगे ? यह सब सोचकर ही मैंने इन्हें कुछ नहीं बताया है, छिपाने के लिए नहीं। कुछ छिपाऊँ, ऐसी मेरी मनःस्थिति नहीं है। वास्तविकता मेरे लिए मृगमरीचिका जैसी हो गयी है।

"मैं आपको बताना चाहती हूँ, लेकिन सुनकर आपको तकलीफ़ होगी।"

"मगर तुम्हें तकलीफ़ पाते देखकर तो मुझे और भी तकलीफ हो रही है।"

तब मैंने अपने पति को सब-कुछ बता दिया। सब-कुछ सुनकर वे स्तम्भित हो गये, "अड़तीस वर्षों तक हम दोनों एक-दूसरे के इतने नज़दीक रहे, तो भी मैं तो कुछ भी नहीं जान सका। तुमने मुझे बताया क्यों नहीं था अमृता, क्यों नहीं बताया था ? इतनी तकलीफ पाने की तो कोई ज़रूरत नहीं थी।"

मेरा कलेजा फटा जा रहा है। ऐसी परीक्षा में क्या कोई पड़ा है कभी ! इन्होंने मेरे लिए इतना कुछ किया है, मुझे इतना प्यार करते हैं, मेरे ही सुख को इन्होंने अपना सुख समझा है और मैं हूँ कि आज इस बुढ़ापे में इनके माथे पर आसमान ढा देने को उद्यत हूँ। जिसने सब-कुछ दिया है, वह यही न देखेगा कि उसने कुछ नहीं पाया है ! नहीं, ऐसी बात नहीं, कतई नहीं। मैं रो रही हूँ ! "विश्वास कीजिए मैंने आपको ठगा नहीं है।"

"यह प्रश्न ही नहीं उठता है। यह क्या तुम्हें बताना पड़ेगा, मैं कतई नहीं ठगा गया हूँ। कभी पल-भर के लिए भी मुझे नहीं लगा कि इनसे ज़्यादा कोई कुछ पा सकता है।"

वे बहुत-सा बोल रहे हैं . "मुझे जो कुछ मिला है वह अतुलनीय है,

अतुलनीय। मुझे कोई क्षोभ नहीं है। सिर्फ़ दुःख इस बात का है कि तुमने इतनी तकलीफ़ पायी।...और खासकर उस सज्जन के लिए ही मुझे ज्यादा बुरा लग रहा है।"

"उसकी बात छोड़ दीजिए, वह धोखेबाज़ है, उसे उचित दण्ड मिला था।"

"छिः, ऐसा नहीं सोचना चाहिए! ऐसा सोचने पर क्या तुम्हें शान्ति मिलेगी? कुछ भी हो, तुम तो अपने माँ-बाप के पास थीं, मगर वह तो नयी उम्र का एक विदेशी लड़का था। तुम्हारे पिताजी ने उसे कुछेक घंटे के भीतर ही भगा दिया और वह जंगल-झाड़ में भटकता रहा। आह, क्या तकलीफ़ पायी है उसने भी! बड़ा दुःख होता है अनुमान लगाकर! सचमुच तुम्हारे पिताजी को माफ़ नहीं किया जा सकता है!"

वे मेरे माथे पर हाथ फेर रहे हैं। मैं ठगी-सी उन्हें देख रही हूँ, वे कोई क्षति नहीं महसूस कर रहे हैं? सचमुच क्या उन्हें कोई नुक़सान नहीं पहुँचा है?

"विश्वास कीजिए, मैंने इतने दिन कोई तकलीफ़ नहीं पायी है। तकलीफ़ पाती, तो क्या आपको पता नहीं चलता? जैसे कि अभी पता चला।"

"हां, सच है, तकलीफ़ तो तुमने नहीं पायी है। मैंने तो तुम्हें कभी तकलीफ़ पाते नहीं देखा है।"

"तकलीफ़ अगर पाती, तो क्या आप सुखी हो सकते थे?"

"ठीक कह रही हो, मगर अब आधी शताब्दी के बाद तुम्हें तकलीफ़ हो रही है उसके लिए? क्या अजीब बात कह रही हो, अमृता!"

"हां, यही बात है, पर मैं भी कुछ कम विस्मित नहीं हुई हूँ। कभी-कभी मुझे लगता है, कहीं मेरा दिमाग़ तो खराब नहीं हो गया है, नहीं तो, कहीं ऐसा भी होता है? मैं अन्याय कर रही हूं न? कहिए, कहिए न!" मैं रो रही हूं, रो रही हूँ। बहुत दिन बाद अपने पति से खुलकर सारी बात कह पायी, तो लगा, जैसे मैं खुली हवा में आ पहुंची हूं—इसीलिए मेरी यह रुलाई, रुलाई नहीं बल्कि मुक्ति है।

"क्या कहूं तुमसे अमृता, कि यह न्याय है या अन्याय। ऐसी घटना

क्या मैंने जीवन में देखी है, या सुनी है या जानी है, फिर मैं इसका विचार करने वाला कौन होता हूं ? मुझे सिर्फ इस बात का दुःख है कि तुम्हारी इतनी तकलीफ मुझे देखनी पडी। लेकिन जानती हो अमृता, मुझे क्या लगता है ? लगता है, इसमें भी तुम्हारा कुछ भला ही होने वाला है। मैं बराबर देखता आ रहा हूं कि तुम्हारे जीवन की हर घटना के पीछे एक निश्चित उद्देश्य किसी दिशा को निर्दिष्ट करता रहा है।"

अपने पति को सब-कुछ बता सकी, तो मुझे शान्ति मिली। कारण, उनसे बड़ा मेरा सुहृद और कौन है ? मेरे सारे अपराधों को क्षमा करने वाला, और दुःख में सांत्वना देने वाला उनके सिवा और कौन है ?

इस समय के बारे में लिखना बहुत कठिन है, क्योंकि लिखने लायक कोई घटना नहीं है—व्याकुलता सिर्फ कविता या गीत के माध्यम से ही अभिव्यक्त होती है, और किसी माध्यम से नहीं। मैं फिर से बहुत दिनों बाद कविता लिख रही हूं, आधी रात को जब नींद नहीं आती है, तो मैं बग़ल वाले कमरे में बैठकर लिखा करती हूं। किसी भी दिन तो उसके विषय में कुछ नहीं लिखा है। पहले-पहल जो कुछ लिखा था, उसे फाड़ डाला है। फिर अब लिखूंगी, सब-कुछ स्वीकारूंगी, स्वीकारा नहीं है, इसीलिए तो मेरी ऐसी दशा हो रही है, और कोई बात नहीं है। सबका पावना तो मुझे चुकाना ही होगा।

सेरगेई की एक चिट्ठी मिली; उन लोगों की चिट्ठियों की बाट जोहती रहती हूं मैं, उनकी चिट्ठियों के माध्यम से लगता है, मैं जैसे उसी की खबर पा रही हूं :

प्रिय अमृता देवी,

आपने मुझ पर जो विश्वास प्रकट किया है उससे मैं इतना अभिभूत हुआ हूं कि इसे मैं शब्दों के द्वारा प्रकट नहीं कर सकता। मैं तो सिर्फ यही सोच रहा हूं कि इस विश्वास के योग्य मैं हूं या नहीं। मैं तो नियति का खेल देख रहा हूं। जो कुछ हो चुका है, और आपसे मेरी मुलाकात के बाद जो कुछ हुआ है, उसे ही सोचकर मैं

आप ईश्वर की करुणा में वास कर रही हैं, और यह अवस्था सुख-दुःख के परे की अवस्था है। केवल प्रेम ही काल व विस्मृति को जीत सकता है। मनुष्य का नाश हो जाता है, मनुष्य काल से पराजित होता है तब जब उसके प्यार की शक्ति, प्रेम की काल-जयी शक्ति नष्ट हो जाती है। आपकी चिट्ठी पाकर मैं आनन्दित होऊँगा। इससे बढ़कर और कोई दूसरा आनन्द मेरे लिए नहीं है।...मैं सर्वदा आपका एक विश्वस्त मित्र रहूँगा।

सेरगेई की चिट्ठी मुझे सोचने को बाध्य कर रही है कि सत्य क्या है, अमरत्व क्या है? अमरत्व का स्वाद तो मैं पा रही हूँ, क्योंकि, जो मर चुका था उसका संजीवित रूप मैं मन द्वारा फिर छू पा रही हूँ। अमल का अभी ढेर मारे कागज लिये कमरे में घुसना क्या हम दोनों के लाइब्रेरी में बैठकर कैटलॉग बनाने की घटना से अधिक सत्य है? तो क्या अतीत मिथ्या है और वर्तमान सत्य? अतीत क्या कहीं चला गया है या कि यहीं स्तब्ध होकर अचल बैठा है? मन का ढक्कन खुल गया है—एक-एक करके छाया-मूर्तियाँ उठ आती हैं और अपने-अपने अस्तित्व को सच्चा बना रही हैं। हर समय अपने इस आवेग से मुझे डर लगता है। जिस तरह एक उष्ण धुँआता स्रोत फटकर पृथ्वी के गह्वर से निकल आता है, चारों ओर जमीन पर फैल जाता है उसी तरह मानो एक अज्ञात गहराई से यह दाहकारी प्रेम सहसा बाहर निकलकर मेरे चारों ओर की बड़ी हिफाजत से बचाकर रखी हुई बगिया के ऊपर फैल रहा है। मैं डरी-डरी-सी हूँ, हे ईश्वर, कहीं इस बगिया के फूल-पत्ते भस्म तो नहीं हो जायेंगे?

कभी-कभार उन्नीस सौ तीस ईस्वी व उन्नीस सौ बहत्तर ईस्वी—दोनों आपस में कुछ इस प्रकार घुल-मिल जाते हैं कि मैं बड़ी मुसीबत में पड़ जाती हूँ—अनुभूति की इस प्रत्यक्षता को मैं हरगिज शब्दों के द्वारा प्रकट नहीं कर पा रही हूँ। कारण, इस प्रकार की अभिन्नता को प्रकट करने योग्य शब्द शायद गढ़े ही नहीं गये हैं। हमेशा तो ऐसा घटता नहीं; एक वर्ष पहले भी यदि मुझसे कोई ऐसी बात कहता, तो मुझे विश्वास ही

होता। फिर भी मैं कहने की कोशिश कर रही हूँ, यदि किसी जीवनीपरक उपन्यास प्रकाशित हो, तो शायद मनोवैज्ञानिक इसके ण, उत्पत्ति आदि—सब-कुछ का विश्लेषण कर पायेंगे।

त गहरा गयी है। मैंने सुना, घड़ी ने टन्-टन् करके दो बजाये। मैं देख पा ही हूँ, शान्ति मेरी बग़ल में लेटी हुई है, और नीचे पियानो बजता ही जा रहा है। बिस्तर पर करवटें बदल रही हूँ मैं—'भई शान्ति, मुझे नींद नहीं आ रही है।'

'मुझे भी नहीं आ रही है। यूक्लिड भैया पियानो बजाते ही चले जा रहे हैं।'

'देख तो, कैसा खलल डाल रहा है नींद में!' मैं बिस्तर पर उठ बैठी हूँ, 'चलूँ, उसे मना कर दूँ।'

शान्ति कह रही है: 'नहीं, नहीं, अभी मत जा, जो कुछ कहना है कल कह देना।'

मैं खाट से उतर पड़ी हूँ, एक अव्यक्त आकर्षण मुझे उसकी ओर खींच रहा है—वह संगीत जैसे मंत्र हो और मेरा अस्तित्व अवश मंत्र-मुग्ध हो गया हो। मैं एक बार इसी दम उसके पास जाऊँगी, जरूर जाऊँगी, गये बिना चारा नहीं है, वह बुला रहा है, मुझे बुला रहा है! मैं दरवाजे की ओर बढ़ती जा रही हूँ। शान्ति भी उठ पड़ी है: 'यह तू क्या कर रही है, रू?'

'ज़रा कह आती हूँ कि पियानो बजाना बन्द कर दे।'

'तू पागल हो गयी है क्या? ज़रा घड़ी की ओर नज़र उठाकर देख, दो बजे हैं अभी, इतनी रात को भला कोई किसी के कमरे में ज है?'

'अगर रात के आठ बजे किसी के कमरे में कोई जा सकता फिर रात के दो बजे जाने में क्या हर्ज है?'

'हर्ज है! और ऐसा कोई नहीं करता है। खासकर कोई किसी मर्द के कमरे में रात को कभी नहीं जाती है।'

'पर तुम तो जाती हो?'

'मैं भला कहाँ जाती हूँ, तुम तो अजीब लड़की हो !'

'हाँ, जाती हो, सबके कमरे में जाती हो, काका के, पिताजी के...।'

'तो क्या रात के दो बजे जाती हूँ ? कभी नहीं, इसके अलावा हम लोग तो सगे-सम्बन्धी हैं।'

मुझे गुस्सा आ रहा है, बाक़ायदा गुस्सा आ रहा है। मैंने उसका हाथ हटा दिया है और दरवाज़े की ओर आगे बढ़ रही हूँ—मैं जाऊँगी ही। ज़रा जाकर दरवाज़े के बाहर खड़ी होकर कह आऊँगी, अभी और पियानो मत बजाना। इसमें दोष क्या होगा ? शान्ति की हिम्मत बढ़ गयी है। धौंस जमा रही है मुझ पर। शान्ति दरवाज़े में पीठ टिकाकर खड़ी हो गयी है, मुझे जाने नहीं देगी।

'तुम्हारे पर निकल आये हैं न ! अपने-आपको तुमने सोच क्या रखा है ?' मैं उसे हटा देने की कोशिश कर रही हूँ। शान्ति को भी गुस्सा आ गया है, वह कह रही है : 'क्या सोच रखा है मैंने अपने-आपको ? देखेगी—क्या सोच रखा है ? पुकारूँ मामी को ?'

मौत के माथे पर मन्त्र पड़ चुका है, मैं तकिये में मुँह छिपाकर रो रही हूँ।

'भाई शान्ति, तू तो जानती है कि हमारे बीच क्या चल रहा है; इसमें कहीं पाप तो नहीं लग रहा है न ?'

शान्ति गाल पर हाथ रखकर सोच रही है : 'सो तो लग ही रहा है।'

'किसे लग रहा है ? उसे या मुझे ?'

शान्ति चिन्ता में पड़ गयी है ! 'मुझे तो लगता है, दोनों को ही लग रहा है।'

'कभी नहीं, हरगिज़ नहीं। मुझे क्यों पाप लगेगा ? मैं तो उसे कितना मना करती हूँ।'

'तो फिर अब उसके कमरे में मत जाना।'

मेरे चेहरे की हालत देखकर शान्ति पसीज गयी है : 'पाप की चिन्ता क्यों कर रही है भई, तुम्हारा जो जी चाहे, करो। पर मत जाना,

ज्यादा दिन नहीं टिकेगा। मैं अपने घर-संसार में वापस आ जाऊँगी, आना ही होगा, किन्तु आज इस क्षण आप विश्वास करेंगे कि मैं कितनी बदल गयी हूँ? मैंने रमा को भी क्षमा कर दिया है, उस पर तनिक भी गुस्सा नहीं है मुझे। उसके छुटपन की बात याद आ रही है, तब वह बहुत प्यारी लड़की थी। उसने मेरी माँ का सब-कुछ छीन लिया है, यह सही बात है, किन्तु उसने भी तो तकलीफ पायी थी। सिर्फ़ बाहरी चीज पाने की वजह से वह लगातार असंगत ढंग से पागल की तरह पिताजी की किताबों में अपना नाम डाल रही है—जिनकी सूर्य-जैसी छः ओजस्वी सन्तानें थी, जिनकी पतिपरायणा पत्नी वर्तमान थी, उनका कितना-सा अंश बेचारी ने पाया था, बताइए? बचपन की बात याद आती है, तो यही सब सोचती हूँ। जानते हैं, रमा को भी शायद अब मैं प्यार कर सकती हूँ, विश्वास कीजिए, उसे प्यार कर रही हूँ मैं। रमा से एक दिन मैंने कहा था, जिसके प्रति प्यार हो उसे क्या कोई निन्दित, अपमानित कर सकता है? किन्तु आज मुझे लग रहा है कि रमा तो निमित्त मात्र थी—हम लोग यह खेल किसके इशारे पर खेल रहे हैं? बाहरी तौर पर जो हानि लगती है, अन्तर की ओर से शायद वही लाभ है—'यहाँ जो सिर्फ़ विफल, अनित्य और चंचल लगता है वही क्या वहाँ चुपके-चुपके अपूर्व नये रूप में सफल होता है?' विजयकृष्ण गोस्वामी ने पिताजी से कहा था : 'तुम्हारा पतन होगा!' पतन का बीज तो पिताजी अपने साथ ही लाये थे, वह था उनका आकाश-चुम्बी अहं—हम लोगों ने सब प्रकार से उसी अहं को बचाकर रखना चाहा था—कितने समय तक हम लोगों ने सोचा था, कि पिताजी को क्यों इस देश का सर्वोच्च पद नहीं मिला, उनमें क्या कुछ कम क्षमता थी? लेकिन सिर्फ़ रमा के लिए ही उन्होंने अपना सब-कुछ खोया और आखिर उसी के आश्रय में उनके, नाम-हीन, यश-हीन अवस्था में, प्राण गये। किन्तु आज मैं सोच रही हूँ कि देश का राष्ट्रपति होने से ही क्या कोन ऐसा लाभ होता? शायद उससे भी बड़ा लाभ उन्हें हुआ है—शायद जाने के पहले सम्पूर्ण अहं-शून्य होकर वे नत-मस्तक होकर गये हैं। बाहरी तौर पर सब-कुछ खोकर शायद अन्तर से उन्नत होकर उनकी सत्ता पूर्ण हुई है। उनकी विराट प्रतिमा में जो खामी थी, शायद आँसुओं ने उसे धोकर वे

ान्वित हो गये हैं। रमा ही इसकी निमित्त बनी है, हम लोग नहीं।
मेरी समझ में आ रहा है कि इस जगत् को हम लोग जैसा देखते हैं
वैसा नहीं है—समझ में आ रहा है कि 'ढक्कन खुलने का' अर्थात्
ावृणु' शब्द का क्या अर्थ है—तो सत्य का जो रूप मुझे दिखायी दे
ा है वह आखिर कैसा है ? वह मेरा पूर्व परिचित, अर्धविस्मृत एक
ानित मान कभी नहीं हो सकता है।"

मैं उसे देख रही हूँ, उससे बातें कर रही हूँ, उससे झगड़ रही हूँ—मेरे
झगड़ने का कारण है कि रीना मुझे उसकी किताब पढ़कर सुना रही है।
इसमें तो सिर्फ झूठ-ही-झूठ भरा पड़ा है। हमारी दुनिया को वह समझ
ही नहीं पाया है। मैं उससे कह रही हूँ—तुम कभी सोचना भी नहीं मिर्चा,
कि तुम्हारी किताब पढ़कर तुम्हारी स्मृति जाग उठी है, इसीलिए उसे पढ़
रही हूँ। लेकिन नहीं, बिलकुल ऐसी बात नहीं है। असल में स्मृति जो
उठी है, उसे प्राण मिला है, इसीलिए तुम्हारी रचना पढ़ी। नहीं तो, पहले
भी तो कितनी बार इसके बारे में सुना है, पर कभी इच्छा भी नहीं हुई
थी पढ़ने की। इस किताब को पढ़कर स्मृति तो जगेगी ही नहीं, बल्कि
स्मृति विभ्रान्त होगी, क्योंकि इस किताब में सत्य का मुखौटा पहने हुए
कल्पना का विकार है। उसने तो मान ही लिया था कि मेरे माँ-बाप ने
उस जैसे एक वर को फँसाने के लिए फन्दा डाला था, और मैं भी खुद
उस फन्दे की एक कारण थी, कुछ इसी तरह की बात वह पहले से ही
मान बैठा था, इसीलिए तो वह मुझे भी नहीं समझ पाया था। समझकर
भी समझ नहीं पाया था मेरा मन। मैं तो किसी भी दिन कह ही नहीं सकी
थी उससे अपने मन की बातें। मैं तो कुछ भी कह भी नहीं पायी थी
कहने का समय ही कब मिला ? इसी से तो उसने मेरे मुँह से ऐसी बा
कहलवायी हैं, जो मैं कभी कह भी नहीं सकती हूँ, जो मेरे शब्द ही न
हो सकते ! उसके अतृप्त मन को जो कुछ नहीं मिला है, इस किताब
उसने उसी का आयोजन किया है। मनोविज्ञान-शास्त्र में इसका एक
है, पर क्या नाम है, यह मुझे स्मरण नहीं आ रहा। इस विषय में

वह क्या भाग्य का खेल था या कि हुआ था अकस्मात् !
नहीं, वह सिर्फ़ पल-भर की नहीं थी घटना
वह था अनादिकाल का षड्यन्त्र।

हम लोग स्वयं भी कुछ करते हैं क्या ? या कि हम लोग कठपुतली हैं ? इतने दिनों जिसका एहसास तक नहीं था, हठात् वह कैसे इतना बड़ा होकर सामने आ खड़ा हो गया, और ठीक अभी ही क्यों बार-बार मैं उसकी ख़बर पा रही हूं ?

दो वर्ष पहले मेरी सहेली के पति से उसकी भेंट हुई थी, और वह बात मैंने अभी सुनी। उन्होंने कहा है कि प्रोफ़ेसर यूक्लिड बड़े अच्छे आदमी हैं और कलकत्ता की चर्चा से उच्छ्वसित हो उठते हैं। कलकत्ता के बहुत-से रास्ते उनके परिचित हैं। मुझसे उन्होंने पूछा था कि मैंने 'बकुलबागान रोड' को देखा है ? चालीस वर्ष पहले वे कलकत्ता में थे, लेकिन आज भी उन्हें यहां का सब-कुछ याद है। कलकत्ता उनके सपनों का देश है।

मैं उसकी चर्चा और भी सुन रही हूं : वह एक कल्पना की दुनिया में रहता है। भारत ही उसके ध्यान का केन्द्र है। उसकी रचनाओं में भी वास्तविक दुनिया से अधिक स्थान, कल्पना व अलौकिकता को मिला है। वह अपने-आपको भारतीय ही बताता है।

मैं जितनी उसकी खबर पा रही हूं उतनी ही और भी उतावली होती जा रही हूं। मैं अच्छी तरह समझ पा रही हूं कि उससे एक बार बिना मिले मेरी यह यंत्रणा दूर नहीं होगी। हालांकि मैं यह भी सोचती हूं कि मैं आख़िर किसको देखूंगी ? वह तेईस वर्ष का लड़का कहां है ! और वह भी भला किसको देखेगा ? कहां है वह षोड्शी कन्या ! पर वह तो मुझे देखना नहीं चाहता, इसलिए वह किसे देखेगा, इसके बारे में मैं अधिक नहीं सोचती हूं। किन्तु मैं जिसे देखना चाहती हूं उसे कहां पाऊंगी ? तो क्या मैं एक तेईस वर्ष के बालक को देखना चाहती हूं ? बालक को ? और नहीं तो क्या ? आज तो मेरे लिए वह बालक ही है, मेरा नाती हो सकता है। यदि आज तेईस वर्ष के मिर्चा को देख पाती, तो निश्चय ही उससे मेरा सौहार्द नहीं हो सकता था। दूसरी ओर, मैं आज जिसे देख

सकती हूँ वह मिर्चा तो वृद्ध है, उसे तो मैं पहचानती ही नहीं। वह तो ठहरा एक अपरिचित आगन्तुक, उसे देखकर मैं भला शान्ति कैसे पाऊँगी ? मैं हरगिज नहीं समझ पा रही हूँ कि मेरी तन्द्रा-रहित रात की यह व्याकुलता, जो प्रत्येक क्षण किसी अकारण वेदना से अनिर्दिष्ट अभिसार के लिए निकल पड़ना चाहती है, क्या किसी एक अपरिचित व्यक्ति के लिए हो सकती है ? या किसी और पड़ाव से कोई दूसरी शक्ति मुझे बुला रही है अज्ञात भविष्य की ओर ? ऐसा भी क्या संभव है कि यह सब ज्ञान और प्रेम के कारण हो ? तो क्या वहीं से यह सन्देश आ रहा है ? मेरा चिर-संशयी मन यह सब बात स्वीकार नहीं कर पा रहा है, हालांकि सन्देह करना भी नहीं छोड़ता है।

मेरे जीवन की इस सन्ध्या पर प्रत्यूष का प्रकाश आकर पड़ा है। प्रभात और सन्ध्या दोनों एक हो गये है, मानो समय चिरस्थिर हो।

बीच-बीच में ही सेरगेई की बात मुझे याद आती है—तो क्या यह अमरत्व का स्वाद है ? अपनी उस छुटपन की कविता को इतने दिन बाद मैं समझ पा रही हूँ। क्या सोचकर तब उसे लिखा था, सो तो पता नहीं : 'काल का जब खो जायेगा पल-क्षण !' उस सर्व अभिज्ञानशून्य काल के स्पर्शहीन आलिंगन मे मैं बँधी हुई हूँ और मेरे अतीत व वर्तमान दोनों एक हो गये हैं—यही तो अमरत्व है। लेकिन यदि यही अमरत्व है, तो फिर इतना कष्ट क्यों पा रही हूँ ? क्यों आँसुओं में डूबकर सुध-बुध खो बैठी हूँ ? मेरी समझ में नहीं आता है कि सचमुच ही यह कष्ट है या अमृत का स्वाद ? यदि यह कष्ट है तब तो छुटकारा चाहूँगी; तो क्या मैं सचमुच छुटकारा चाहती हूँ ? मैं क्या यह सोच सकती हूँ कि इन कुछेक महीनों की अभिज्ञता शून्य मे विलीन हो जाये ? मैं फिर से अपने घर-संसार और विषय-सम्पत्ति को लेकर व्यस्त बनी रहूँ ? मेरी उम्र के और सभी लोग तो इन्ही सब बातों को लेकर व्यस्त हैं। वे कल्पना भी नहीं कर सकते कि नाती-पोतों से घिरा रहकर और यथार्थ दुनिया मे डूबा कोई, एक ऐसी सपनों की दुनिया मे चला जा सकता है—जहाँ सिर्फ एक देह-

हीन, स्पर्श-हीन अस्तित्व का संवाद उसके चारों ओर की दीवारों को मिटा डाल सकता है। दुनिया की रगड़ से मनुष्य के मन में गड्ढे पड़ जाते हैं; वैषयिक मन तब हिसाब मिलाया करता है, मेरे मन की भी तो यही हालत थी। घर-बार ही तो किया इतने दिन, कानी कौड़ी तक का हिसाब किया है, और आज? अभी, इसी दम अगर कोई मुझसे कहे कि सब-कुछ छोड़-छाड़कर खाली हाथ चली आओ, उसे देख पाओगी, तो क्या मैं नहीं जाऊँगी? अगर कोई मुझसे कहे कि थियेटर रोड में चौतल्ला मकान चाहती हो, या उसे एक बार देखना चाहती हो, तो मैं क्या कहूँगी, इसमें भी भला कोई सन्देह है? यह जो अद्भुत परिवर्तन मुझमें हुआ है, इससे मैं अप्रसन्न नहीं हूँ, मैं कभी नहीं चाहती कि यह नष्ट हो जाये। मेरी उम्र के किसी मनुष्य के मन में अनुभूति की यह तीव्रता यदि लौट आती है, तो इसे मैं उसका सौभाग्य ही मानती हूँ।

अब समझ में आता नहीं
कि यह करुणा है किसकी
है किसके हाथ में अनन्त भण्डार?
भाटे के बाद के कीचड़ पर
जल के कल्लोल में कौन भरता गीत?
कैसा सौभाग्य, हाय कैसा सौभाग्य!
किसका सन्देश आता है अज्ञात संगम से?

इस अज्ञात संगम की ओर निहारकर मैं और किसी को नहीं, वल्कि अपने-आपको ही प्राप्त कर रही हूँ—जैसा कि याज्ञवल्क्य ने कहा है: मनुष्य अन्य किसी को कुछ नहीं दे सकता है, सब-कुछ अपने-आपको ही देता है: 'आत्मनस्तु कामाय पुत्रः प्रियः भवति।' पति और पुत्र को प्यार करके वस्तुतः मैंने अपने-आपको ही प्यार किया है, क्योंकि वे मेरे ही अस्तित्व को भरते रहे हैं। उसे याद करके मैंने और किसे क्या दिया—वल्कि दुनिया को देखने के लिए एक तीसरी आँख स्वयं मैंने ही प्राप्त की।

मेरे नाते-रिश्तेदारों में से किसी-किसी को जिज्ञासा है कि जिस स्मृति को

मैंने इन चालीस वर्षों तक भुलाकर ठाठ से एक निजी घर-संसार रचा था आज इस उम्र में हठात् फिर से उसे मन में जगाने की मुझे क्या जरूरत पड़ी है, और आखिर क्यों मैं अपने मन के जोर से इस वास्तविकता को भूलती जा रही हूँ ? उनकी ऐसी जिज्ञासा का मैं कोई उत्तर नहीं जानती। सिर्फ़ मैं अपने अन्तर में समझ पा रही हूँ कि यह काया-हीन प्रेम मेरे तन-मन में एक ऐसा अजीब संगीत छेड़ रहा है जिसे मैं इतने दिनों जानती नहीं थी और जो रास्ते में पड़ी मिलने वाली चीज नहीं है।

> अनुराग न हो हृदय-कमल में
> तो क्या कृष्ण-प्रेम कहीं माँगने से मिलता है ?
> कृष्ण-प्रेम क्या कोई ठीकरा है
> कि जो चाहे राह चलते चुन ले !

सेरगेई का कहना ठीक ही है कि इसमें अमरत्व का सन्देश है। सुर में आँसू के और प्रेम में चिर अतृप्ति के रूप में जो अशेष का सन्देश आता है मैं वही पा रही हूँ। मैं किसी भी तरह अब उसे भूल जाना नहीं चाहती हूँ।

और फिर, कोई दूसरा चाहे कुछ भी कहे, पर मेरे पति तो कुछ नहीं कहते हैं। उनसे मेरी बातें होती हैं; उन्होंने तो उस दिन कहा था : "दुनिया में ठीक एक ही घटना दो जगह नहीं घटती है, और हर घटना पर विचार अलग-अलग रूप से ही करना चाहिए। यह तो बिलकुल सच है कि तुम्हारे जीवन के हर हिस्से के साथ मेरा मन नहीं है। तुम जब कविता लिखती हो, तब तुम क्या सोचती हो, यह मैं नहीं जानता। तुम्हारे साहित्यिक जगत् से भी मेरा परिचय नहीं है। तुम्हारा कुल कार्य-क्षेत्र भी मेरा अनजाना है। जैसे वे सब तुम्हारे विभिन्न भाव हैं, वैसे ही यह भी तुम्हारा एक भाव है। इससे भला मुझे क्या नुकसान होगा ?" मैं हक्की-बक्की होती जा रही हूँ, यह देखकर कि वे कोई नुकसान महसूस नहीं कर रहे हैं। अगर करते, तो मुझे भारी मुश्किल होती। तब तो मैं उसे देखने जाने की बात सोच भी नहीं सकती, क्योंकि अपने पति के मन को कष्ट देकर मैं कभी कीमती-से-कीमती चीज पाने

तक नहीं करती। तब जो प्यार लौटा ... मैं क्या तथ्य...
र कोई पाप नहीं है, उस पाप का बोझ लेकर मैं क्या
सकती हूँ ?

...धीरे मेरी ऐसी हालत हो रही है कि मेरा काम-धाम करना ही
...कल हो रहा है। बाहर के लोगों के साथ तरह-तरह के विषयों पर
... बात कैसे करूँगी ? काम-काज के सिलसिले में दिल्ली जाती हूँ, तो भी
...ही चिन्ता सताती है कि अभी वहाँ जाकर डिपुटी सेक्रेटरी के कमरे में
...ठूँगी और अगर अनायास मेरी आँखों में आँसू आ गये तो क्या होगा ?
तब वे क्या सोचेंगे ? अपनी ऐसी हालत से मैं घबराती हूँ और प्राणपण
से चेष्टा कर रही हूँ अपने मन को स्वाभाविक अवस्था में लाने की। मैं
कुर्सी की पुश्त से टिककर बैठी रहती हूँ, मेरी आँखों से आँसू बहते रहते
हैं। नौकर-चाकर मेरी यह हालत और आँसू देखकर भौंचक्के हो जाते
हैं। उनकी दृष्टि में, इस उम्र में मेरी आँखों से आँसू बहने का एकमात्र
कारण यही हो सकता है कि अपनी पतोहू से मेरा कोई झगड़ा हो गया
हो। बंगाल की, मेरी उम्र की तमाम सासों का यह एक रोज़मर्रा का
काम है। मगर नौकर-चाकरों को ऐसा भी तो कुछ नज़र नहीं आ रहा
है। घर में कोई दुःखद घटना घटती, तो उसकी चर्चा सुनायी पड़ती,
और घर के हर आदमी पर इसका असर पड़ता, लेकिन ऐसा भी तो कुछ
उन्हें नज़र नहीं आता है। आखिर सभी तो आदमी हैं; वे मेरी अस्वा-
भाविक अवस्था को लक्ष्य कर रहे हैं, लेकिन उनकी समझ में कुछ नहीं
आ रहा है। मुझे भी लाज आती है, किन्तु मेरा मन मेरे वश में नहीं है
बिलकुल ही नहीं है। बाज़ार-हाट में सामने अगर किसी गाड़ी को ज...
देखती हूँ, तो मुझे लगता है, उतर जाऊँ, शायद वह उसमें हो, अ...
किसी के विदेश जाने की बात सुनती हूँ, तो मेरा मन हाहाकार ...
उठता है। मेरा बूढ़ा शरीर इस असह्य विरह-भार को ढो नहीं स...
इसलिए मुझे डर लगता है। अस्वस्थ होने की मेरी इच्छा नहीं है, ...
तब उससे फिर कभी भेंट नहीं हो सकेगी, लेकिन आश्चर्य है कि...

सितम्बर को जो सेरगेई सेबास्टिन चला आया, उसे क्या मैं बुलाने गयी थी? 'वह था अनादि काल का षड्यन्त्र!' जिस दिन पृथ्वी केवल नीहारिका-भर थी, उस दिन के साथ कार्य-करण से जुड़ी हुई है यह घटना! यही बात 'डो० प्रोफंडिस' नामक कविता में भी है: 'जहाँ यह सब-कुछ घटना था, वह सब-कुछ वहीं तो था!'

कोई-कोई कहता है, तुम जरा स्मृति-रोमन्थन कर लो, तो उससे कोई हर्ज नहीं है, मगर तुम जाओगी कहाँ? देखोगी किसे? फिर कोई यह भी कहता है कि देखोगी तो अच्छा ही होगा, तुम्हारा मन मोह-मुक्त होगा, उस तरुण युवक के प्रति तुम्हारा जो मोह है वह दूर हो जायेगा। मेरा दुनियाई मन और सतही मन भी यही कहता है। मैं सोचती हूँ, मैं देख पाऊँगी एक अपरिचित बूढ़े को, और ज्यों ही उसे देखूँगी त्यों ही मुझे लाज आयेगी, लगेगा, मैं यह किसे देखने आयी! लेकिन मेरा भीतरी मन कहता है, यह वैसी चीज नहीं है जिसे ऊपरी आँखों से देखा-परखा जा सकता है—जिसे तुम देखना चाहती हो वह आँखों से देखने लायक़ नहीं है। उसकी कोई उम्र नहीं होती। जैसे तुम्हारी कोई उम्र नहीं हुई है। उम्र तो एक उत्तरीय मात्र है, उसे हटाया जा सकता है—कोई साधना करके इसे हटाता है, तो किसी पर करुणा होती है, तो वह अपनी सत्ता को समझता है—पर किसकी करुणा? पता नहीं। आत्मा का स्वरूप क्या है, यह लेकिन मेरी समझ में आ रहा है। अब मुझे कोई संशय नहीं रहा। जो नहीं जानता, उसे यह अनुभूति समझ में नहीं आ सकती, जैसे कोई अंधा प्रकाश के अर्थ को नहीं समझ सकता। यह एक ऐसी उपलब्धि है जो तर्क के परे है, और जिसे न बुद्धि द्वारा समझा जा सकता है, न शास्त्र पढ़कर जाना जा सकता है। 'न मेधया न बहुधा श्रुतेन।' आज मेरी समझ में आ रहा है कि इस काल-जयी प्रेम को अब घर-संसार, मोह-माया जीत नहीं सकेगी। उत्तरोत्तर इसमें संवृद्धि होगी और यह मुझे संसार के भँवर से निकालकर दूर ले जायेगा: 'यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति,' जैसे नदी की बहुमुखी जल-धाराएँ संसार के विभिन्न आकर्षणों को पार कर समुद्र की ओर बहती

जाता है !

उसे एक बार देख आना ही होगा मुझे, लेकिन जाना तो आसान नहीं है। कितना सारा इन्तज़ाम करना पड़ता है—इसके अलावा मैं तो पहले से उसे कुछ जताना नहीं चाहती, क्योंकि तब वह जरूर अपना स्थान छोड़कर चला जायेगा। मेरी समझ में आ चुका है कि वह मुझसे मिलना नहीं चाहता है, या मिल नहीं सकेगा। क्यों नहीं मिल सकेगा, इसका सही कारण तो मेरी समझ में नहीं आ रहा है। तो क्या मेरे विषय में एक ऐसी किताब लिखने के बाद उसमें यह अपराध-ग्रन्थि पैदा हुई है ? नहीं, ऐसी बात नहीं—उसकी तो समझ में ही नहीं आया है कि ऐसा करके उसने कोई अन्याय किया है, जैसे कि मेरेगई की भी समझ में नहीं आया है। उनके लिए ऐसी बातें कोई महत्त्व नहीं रखतीं। अब मेरे लिए भी इसका कोई महत्त्व नहीं रहा। यह तो जल के ऊपरी तल पर हवा से उठती हुई हिलोर-जैसा है। मैं कोई इतनी बुद्धू नहीं हूँ कि ठीक उसी के लिए उतावली हो उठी हूँ। मेरे क्षोभ का कारण यह है कि उसने सत्य में मिलावट करने की आवश्यकता क्यों समझी !

लेकिन वह जीवन-भर मुझसे कतराता क्यों रहा ? मैंने 'ज' को बुलाया और पूछा : "बता सकते हो तुम कि मैं अगर वहाँ जाऊँ तो वह मुझसे मिलेगा ?"

"जरूर मिलेंगे। जिन्होंने आपकी चर्चा मुझसे इतनी आत्मीयता से की है वे आपसे नहीं मिलेंगे, ऐसी बात आपके दिमाग में आती भी कैसे है ?"

"तब वह चिट्ठी का जवाब क्यों नहीं देता ?"

"उन्होंने, और आपकी चिट्ठी का जवाब नहीं दिया है ? क्या कह रही हैं आप ?"

"अच्छा 'ज', क्या ऐसा हो सकता है कि अपनी प्रतिज्ञा रखने के लिए वह मुझे चिट्ठी नहीं लिखता है ?"

"कैसी प्रतिज्ञा ?"

"उसने पिताजी से प्रतिज्ञा की थी कि वह मुझसे कोई सम्पर्क नहीं

।"

"हाँ, यह तो हो सकता है।"

"क्या आश्चर्य है ! भला यह भी कोई रखने लायक़ प्रतिज्ञा है !"

"ऐसा क्यों कह रही हैं आप ? क्या अपने वचन पर अडिग रहने नहीं होते ?"

ने के बारे में मैं सोचती हूँ, दिन में तरह-तरह के प्रस्ताव करती हूँ ाने की तैयारी के सम्बन्ध में, क्योंकि आजकल विदेश जाना आसान नहीं हा। लेकिन रात को मुझे डर लगता है। सोचती हूँ, कहाँ जाऊँगी अकेली ? रास्ते में अगर बेहोश होकर गिर जाऊँ तो ? अगर स्ट्रोक हो जाये तो ? पार्वती के पति ने भी यही कहा है: "उस भले आदमी के बारे में जो कुछ सुना है उससे तो आशंका ही होती है। फिर, यह भी तो नहीं मालूम कि वे कैसा बर्ताव करेंगे ? तुम लोग जो अमृता को अकेले जाने दे रहे हो, वह कहीं बीमार पड़ जाये, तो क्या होगा ?" सभी सोच में पड़ गये हैं, मैं भी। केवल मेरे पति मुझे भरोसा दे रहे हैं: "कुछ नहीं होगा, कोई डर नहीं, कोई तुम्हें तकलीफ़ नहीं पहुँचायेगा, तुम बीमार नहीं पड़ोगी। सारा इन्तजाम होगा, तुम निर्विघ्न घूम आओगी।" मेरी बीमारी के सम्बन्ध में मेरे पति हमेशा चिन्तित रहते हैं, लेकिन अभी उन्हें कोई चिन्ता नहीं है। यह देखकर मैं अचम्भे में पड़ गयी हूँ कि मैं अगर एक क़दम पीछे हटती हूँ, तो वे मुझे दो क़दम आगे बढ़ा देते हैं। और इसे वे ज़रा-सी भी हिचक के बिना कर रहे हैं और यह देखकर हम सभी विस्मित हैं। "जाओगी, तुम जाओगी। और वहाँ जाकर तुम अपनी ऐयारी की इस कहानी को ख़त्म कर आओगी।"

उस दिन एयर इंडिया के ऑफ़िस में बैठी हुई थी। जो व्यक्ति हमारी मदद कर रहे थे उनका नाम था पुरोहित। वहाँ भी बैठे-बैठे मुझे डर लग रहा था। इतने अज्ञात देश में कैसे जाऊँगी ? इसके पहले जब मैं विदेश गयी थी तब या तो किसी दल के साथ गयी थी या निमंत्रित होकर। विदेश में

वही लोग मेरी कुल देख-भाल करते थे। वरना मैं क्या अकेले जा सकती हूँ? मैं निमंत्रण की प्रतीक्षा कर रही थी, यदि निमंत्रण आयेगा तभी जाऊंगी —वरना अकेले सिर्फ उसे देखने जाना तो सम्भव नहीं है। मैं बोली : "आज टिकट मत कटाइए।"

मेरे पति ने कहा : "क्यों? टिकट कटा लो न, निमंत्रण आयेगा; देखना, ठीक आयेगा।"

"नहीं, नहीं, आज रहने दीजिए, मुझे डर लग रहा है।"

"तुम्हें क्यों डर लग रहा है? डर तो मुझे लगना चाहिए!"

"तुम्हें भला क्यों डर लगेगा?"

"वाह, मुझे डर नहीं लगेगा, तो और किसे लगेगा?" वे खूब हंस रहे थे, "तुम जो पुरोहित की मदद ले रही हो।"

उस दिन, बहुत दिनों के बाद मैं खूब हँसी थी, मन हलका हो गया था।

यह निरभिमान व्यक्ति स्वच्छ, उदार, शुभ्र हँसी का फ़व्वारा छोड़ सकते हैं।

निमंत्रण आयेगा कि नहीं आयेगा, इसी उधेड़-बुन में पड़ी हुई हूँ। मैं जिन लोगों के साथ तरह-तरह के कामों के सिलसिले में इस देश में जुड़ी हुई हूँ, वे ही मुझे निमन्त्रित करेंगे। लेकिन यदि कोई सम्मेलन-गोष्ठी हो, तभी तो करेंगे, वरना अगले साल वे मुझे जरूर ही लिया जायेंगे! उन्हें इसकी क्या खबर, कि मुझे कितनी जल्दी पड़ी है। फिर, गोष्ठी-सम्मेलन कब होगा, कौन जाने! सेरगेई को आये हुए छ. महीने से ऊपर हो गये; कम नहीं। इन छः महीनों में मैं किसी रात को एक घंटे-भर से ज्यादा नहीं सोयी हूँ, मगर इसके चलते न मेरी तबियत खराब हो रही है, न दिन में नींद आ रही है।

उस दिन एक प्रोफेसर मुझसे मिलने आये थे। उन्होंने एक बड़ा-सा काम करने का बीड़ा उठाया था। तरह-तरह की बातों के बीच हठात् वे बोले : "मेरे एक ज्योतिषी हैं, उन्हीं के कहने पर मैंने इस काम का बीड़ा उठाया है।"

सुनकर मैं तो विस्मित हो गयी। बहुतेरे ज्योतिषी देखे हैं मैंने, परन्तु किसी को ठीक-ठीक कुछ कहते नहीं सुना है, सभी अनुमान से, अँधेरे में शिकार करते हैं, और उसके बाद ही जाप और पूजा-पाठ कराने को कहते हैं, जैसे यहाँ दो फूल और वहाँ दो पंखड़ियाँ फेंककर वे विश्व के अमोघ नियम को बदल डालेंगे !

मैं बोली : "आप ऐसे ढकोसलों पर विश्वास करते हैं ?"

"आप इसे ढकोसला समझती हैं ? मानता हूँ कि ज्यादातर ज्योतिषी ढोंगी हैं, पर सब-के-सब तो ढोंगी नहीं होते।"

"तो आप मुझे एक बार लिवा जायेंगे उनके पास ?" हँसी आ रही थी मुझे। मनुष्य जब दुर्बल हो जाता है तब उसका मेरुदंड ढीला पड़ जाता है। मेरा भी वही हाल हुआ है। अब चमत्कारों पर निर्भर करना पड़ रहा है ! यही सब सोच रही थी। और भी सोच रही थी—चलूँ, एक बार देखूँ न जाकर कि वे कैसे ज्योतिषी हैं और क्या कहते हैं ! कोई हर्ज तो है नहीं। सो उन प्रोफ़ेसर के साथ ज्योतिषी के घर गयी। वे मुझे वहाँ पहुँचाकर चले गये। ज्योतिषीजी दत्तचित्त होकर मेरा राशि-चक्र देख रहे थे। मैं सोच रही थी, मजाल है कि कोई यह बता दे कि मेरी क्या इच्छा है ! मेरी उम्र ही मेरा कवच है। ज्योतिषीजी बोले : "तो आप क्या जानना चाहती हैं ?"

"मेरे भविष्य के सम्बन्ध में कुछ बताइए, अतीत के बारे में कुछ सुनना नहीं चाहती। अवश्य जीवन अब थोड़े ही दिनों का है, सो भविष्य भी अब नहीं के बराबर है।"

"नहीं, ऐसी बात नहीं। अभी आप बहुत दिन जियेंगी। और बहुत जल्दी, मैं तारीख बता रहा हूँ। लीजिए, लिख ही दे रहा हूँ, 11 अप्रैल के भीतर आप समुद्र-पार जायेंगी, यानी कि विदेश जायेंगी।"

"मगर जाऊँगी कैसे, मेरे पास तो पैसे नहीं हैं ?"

"कोशिश कीजिए, निमंत्रण आयेगा, पैसा भी आयेगा।"

मैं स्तम्भित हो गयी। सोचने लगी, इन्हें अपना परिचय भी नहीं दिया है, फिर इतनी बात इन्होंने बतायी कैसे ?

"अच्छा, उसके बाद ? विदेश जाने से मेरा क्या लाभ होगा ?"

"वहाँ जाने से एक आदमी से आपकी मुलाकात होगी। सारा जीवन आप जिनसे मिलना चाहती रही हैं, उनसे मिलेंगी।"

मैं यथाशक्ति निर्विकार रहने की कोशिश कर रही थी—गम्भीर भाव से बोली : 'अच्छा, तो वह कौन आदमी है ?"

"वह एक म्लेच्छ है।" मैं चौंक उठी। सावधान होकर बात कर रही थी मैं।

"तो ऐसी कौन-सी बात है जिसके लिए मैं उस म्लेच्छ से मिलना चाहती हूँ ?"

ज्योतिषी ने अबकी बार एक अंग्रेज़ी शब्द का इस्तेमाल किया : 'रोमांस।'

"हा, हा, हा, हा," मैं हँस रही थी : "पंडितजी, आप किससे क्या कह रहे हैं, जरा इसे तो सोचिए ! ज़रा मेरे बालों की ओर तो नज़र उठाकर देखिए, यहाँ तो बर्फ़-जैसी सफ़ेदी छायी हुई है।"

मेरे ठहाके से वे विरक्त हुए : "मैं किसी के बाल, दाँत, नाखून वगैरह नहीं देखता, मैं तो उसके ग्रह-नक्षत्र की ओर देखता हूँ।"

अब और मुझे सन्देह नहीं रहा : 'यह था अनादि काल का षड्यन्त्र !' तो तैंतालीस वर्षों के बाद मिर्ज़ा यूसुफ़ से अमृता की मुलाकात होगी। इस गम्भीर रहस्य का मर्म समझने की मेरी क्या मजाल है—मुझ-जैसी मामूली नारी की ?

'पंडितजी, आपने तो एक बड़ी भयानक बात कही है," हल्के सुर में बात कर रही थी मैं, "अगर ऐसी घटना घटे ही तो इससे मेरा अपमान नहीं होगा, निन्दा नहीं होगी ?"

"नहीं, नहीं, निन्दा क्यों होगी ?"

"क्यों नहीं होगी ? इस उम्र में रोमांटिक मुलाकात होना क्या अच्छी बात है ?"

"क्यों नहीं ?" ज्योतिषीजी विरक्त हो उठे थे : "अपमान क्यों होगा ? मान-हानि का योग ही नहीं है।"

मेरे पास निमंत्रण आया, रुपये भी। एक-एक करके सारी भारी उलझन सुलझती जा रही हैं, जाने का रास्ता आसान होता जा रहा है। कैसा आश्चर्य है, आखिर कौन मेरा हाथ पकड़कर इस अज्ञात भविष्य की ओर लिये जा रहा है? एक साधारण बंगाली घर के मध्यवित्त परिवार में बैठकर भी जीवन इतना बदल जा सकता है? मेरी सहेलियाँ मुझसे कह रही हैं, इस जीवनीपरक उपन्यास को लिखने के लिए। मिर्चा की लिखी हुई उस असमाप्त कहानी को समाप्त करना है। उस उन्नीस सौ तीस ईस्वी के आरम्भ को जब मैं जीवन में समाप्त करने जा रही हूँ, तो फिर साहित्य में ही भला क्यों न करूँ? अब तो आ गया है वह समय— 'जीवन का अन्तिम क्षण, जिसके लिए प्रथम क्षण का स्पन्दन हुआ था।'

जीवनी लिखने की बात होती है, तो मैं रवीन्द्रनाथ के बारे में सोचती हूँ।

बुढ़ापे में बचपन की बातें स्पष्ट रूप से याद आती हैं। वे भी हमेशा अपने बचपन की कहानियाँ सुनाया करते थे। उसी से तो 'बचपन' नामक रचना का सूत्रपात हुआ था। मैंने तब बहुत बार उनसे कहा था: 'आप अपनी जीवनी लिखिये—भले अभी न सही, बाद में प्रकाशित होगी।' मैंने बार-बार उनसे कहा था, आप अपने जीवन की अन्तरंग बातों के बारे में कुछ लिखिये। वे कहते: 'जीवन की अन्दरूनी बातों के बारे में ही तो लिख रहा हूँ, फिर और क्या सुनना चाहती हो, कुछ मेरी रोमांटिक लाइफ़ के बारे में?' 'सिर्फ़ मैं ही नहीं, बहुतेरे सुनना चाहते हैं। आपके इस दीर्घ-कालीन जीवन में कितने लोगों ने आपको प्यार किया है, और भला करेंगे क्यों नहीं? प्यार करने लायक़ तो आप हैं ही, आप सामने रहें, तो भला आपके घर के पंचानन को तो प्यार नहीं किया जा सकता। लेकिन उस प्यार को आप जिस ढंग से इज्जत बख्शते हैं, उसे यथास्थान रखकर उसके माधुर्य को आप जिस ढंग से विकसित करते हैं और उससे जितना-सा लेना चाहिए उतना-सा ही लेकर आप उसे जिस ढंग से सार्थक करते हैं, आखिर यह भी तो एक कविता ही है और यह कविता आपकी रचनाओं से कुछ कम सुन्दर नहीं है, कम आश्चर्यजनक नहीं है। इसे यदि आप न लिखें, तब तो यह खो जायेगा।' मैं उनसे और भी कहती: 'इसके

बाद आपके जीवन की अनेकानेक घटनाओं का अर्थ लोग अपने-अपने मन के अनुरूप लगायेंगे और नीच व्यक्ति नीचतापूर्ण ढंग से रिसर्च के नाम पर लिखेंगे—आदमी आप कैसे थे, जिन्हें इसके बारे में कुछ भी मालूम नहीं, वे लोग ही आपकी जीवनी लिखेंगे और लिखेंगे अपनी-अपनी कुन्द कलम से, उस लेखन पर अपने-अपने छोटे मनों के अन्धकार की छाया को डालकर! इस तरह आपका सबसे बड़ा काव्य खो जायेगा।'

वे कहते हैं : 'जो जाने वाला है वह तो जायेगा ही। मेरा कितना-क्या रख सकोगी तुम? रख सकोगी मेरे इस शरीर को? मेरे इन हाथों को तुम रख सकोगी? जो कुछ जाने वाला था वह चला जा चुका है अमृता, और जो कुछ रहने वाला है वह रहेगा मेरे गीतों में, मेरी कविताओं में।'

वे और भी कहते : 'जिस रास्ते से होकर गुजर चुका हूँ, उस रास्ते पर फिर लौट नहीं सकता! यह बड़ा वेदनादायक है।' आज उस बात का अर्थ मेरी समझ में आ रहा है, जब पीछे की ओर ताककर मेरा वर्तमान वेदना के भार से अपनी सुध-बुध खो चुका है।

लेकिन यह बात भी सही है कि मैं अतीत को बुलाकर नहीं लायी हूँ, बल्कि दरवाजे को तोड़कर मेरे वर्तमान में उसने प्रवेश किया है और उसके साथ घुल-मिल गया है। जिसकी चर्चा चालीस वर्षों तक नहीं सुनी, उसी की चर्चा इन कई महीनों से लगातार सुन रही हूँ। मैंने सुना है कि उसकी पत्नी है, लेकिन कोई सन्तान नहीं है। वे दोनों प्राणी एक घर में रहते हैं, और वह दिन-रात अपनी लाइब्रेरी में, किताबों में डूबा रहता है। उसके जीवन में किताबें पढ़ने-लिखने के सिवा और कुछ नहीं है। यह बात मुझे डरा रही है, तब तो जिस आदमी से मैं मिलने जा रही हूँ वह तो एक पूरा आदमी ही नहीं है। जिसकी छाती पर पैरों में पायल, आँखों में काजल और हाथ में लड्डू लिये बालगोपाल नाचा नहीं, आखिर वह सम्पूर्णता कैसे अनुभव कर सकता है? सुनती हूँ, उसकी पत्नी कड़ा पहरा बिठाये रहती है उस पर। कोई-कोई कहता है, मेरी कोई चिट्ठी उसे नहीं मिली है। लेकिन इस बात पर मुझे विश्वास नहीं होता है। मेरी चिट्ठियों

में ऐसा कुछ नहीं था जिसके लिए वे मेरी चिट्ठियाँ हथिया लेंगी। फिर वे मुझसे डाह ही भला क्यों करेंगी—मैं तो ठहरी अतीत का एक स्वप्न-मात्र! उन्नीस सौ तीस ईस्वी के अठारह सितम्बर की उस दोपहरी के बाद से मिर्चा मेरे घर से चला गया था, आज तक मुझे उसकी एक चिट्ठी या दम-दिलासे की एक भी निशानी नहीं मिली है। इसी दुःख से तो मेरे कलेजे का एक हिस्सा जल गया है, धू-धू करके जलता रहा है, और अविश्वास के ज़हरीले धुएँ से मेरे प्यार का दम घुट गया है। मगर अब आज, इतने दिनों बाद सुना कि उसने किसीसे कहा है: मैंने उसे अपनी एक तसवीर भेजी थी स्वर्गद्वार से। मैं तो उसे लिख नहीं सकता था, इसीलिए मुन्ने की मार्फ़त भेजी थी—उस तसवीर में मेरी दाढ़ी को देखकर उसने मुन्ने से कहा था, 'कहना कि किनारे से दाढ़ी छाँट डालो।'

मैं सोच रही हूँ, ऐसा मैंने कहा था क्या? ऐसी तसवीर क्या मैंने देखी थी? कब देखी? तब मैं कहाँ खड़ी थी? आजकल मेरी नज़रों के सामने उन्नीस सौ तीस ईस्वी की घटनाएँ चित्र की भाँति तिर रही हैं। मैं देख पाती हूँ, पिताजी ने जब कहा था: 'दाढ़ी बढ़ा रखी है' तब वे कहाँ खड़े थे और मैं कहाँ थी। लेकिन मुन्ने ने जब मुझे वह तसवीर दिखायी, तब मैं ही भला कहाँ थी, और वह कहाँ था—कुछ भी तो नहीं देख पा रही हूँ। यह दृश्य तो मुझे याद नहीं आ रहा है। इसके अलावा उसकी वैसी तसवीर देखने पर मैं सिर्फ़ यह कहती कि उससे कहो किनारे से अपनी दाढ़ी को छाँट डाले—और कुछ नहीं कहती—ऐसा क्या हो सकता है? नहीं, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता! तब मैं ज़रूर रो-रोकर कहती: 'ऐ मुन्ना, मुझे ज़रा उससे मिला दो भाई।' मगर यह सब-कुछ भी तो याद नहीं आ रहा है मुझे। मैं सोचती ही जा रही हूँ, और सोचते-सोचते मेरे दिमाग़ में एक बात कौंध रही है, वह यह कि उसने सिर्फ़ तसवीर ही नहीं भेजी होगी, तब तो साथ में उसने चिट्ठी भी भेजी होगी। ज़रूर उसने चिट्ठी लिखी होगी, क्योंकि मुझे तसवीर दिखाने को कहा है, मगर वह चिट्ठी तो मुझे मिली ही नहीं!

मुझे अब पता चला है कि मुन्ना उससे बीच-बीच में पैसा मांगा करता था और उस पैसे को वसूलने के लिए ही वह उसे मुझ पर हो रहे जुल्मों की कहानियां बढ़ा-चढ़ाकर सुनाया करता था। इस तरह उसे परेशानी में डालकर उससे पैसा पाता था। मैंने मुन्ने के पास जाने की ठानी। अब मुझे भला लाज ही क्या है, वह तो युगों पुरानी बात है!

एक दिन शाम को मैं मुन्ने के घर जा उपस्थित हुई। उसकी दुरवस्था किसी दिन नहीं मिटी, मिटे भी तो कैसे, उसके बारह बच्चे हैं। सभी बड़े हो चुके हैं, पर उसकी तीन पीढ़ियों की अमिट ग़रीबी ज्यों-की-त्यों है। घर के सामने पहुँची, तो देखती हूँ कि घर में अंधेरा है। कलकत्ता के एक अच्छे-ख़ासे मुहल्ले में ही वह रहता है—बहुत दिनों से वहाँ रहता है। चारों ओर रोशनी झलमला रही है, सिर्फ़ इसी एक घर में अंधेरा है। कुछ देर पुकारने के बाद मुन्ना बाहर निकला। बहुत साल बाद मैंने उसे देखा। वह एकदम बूढ़ा हो गया है और उसका पहले से ही कुरूप चेहरा और भी भद्दा हो चुका है। उसकी चिपटी नाक व चेहरे की झुर्रीदार चमड़ी लटक आयी है। वह बोला : "कौन ? कौन हैं आप ?"

"मैं हूँ, मुझे पहचान नहीं पा रहे हो ?"

अंधेरे में उसने कुछ देर तक नजर गड़ाकर मुझे घूरा। फिर बोला : "ओ, रू हो। बहुत दिन बाद तुम्हें देखा, क्या बात है ?"

"तुम्हारे यहाँ रोशनी क्यों नहीं है ?"

"यह समझना तो कोई मुश्किल नहीं है। बिल नहीं चुका सका, इसलिए बिजली काट दी गयी है। अच्छा, तो भीतर आओगी ? रुको, एक मोमबत्ती ले आऊँ।"

मोमबत्ती लाकर मुन्ना मुझे देख रहा है : "तुम तो अभी भी बहुत ही सुन्दर हो, रू ! तुम्हारी उम्र की औरतें शायद ही इतनी सुन्दर नजर आती हैं। खासकर आजकल की लड़कियों के चेहरे-मोहरे के बारे में तो कुछ मत पूछो।"

"अच्छा, ऐसी बात है। बहुत आनन्द मिला सुनकर। मुन्ना, तुम्हारे पास मिर्चा की जो चिट्ठियाँ थीं उन्हें दे दो न !"

"मिर्चा की चिट्ठियाँ ! इतने दिन बाद तुम्हें उसकी याद आ...

"मैं अपनी जीवनी लिखूंगी, उसमें उसके बारे में भी तो जरा लिखना चाहिए !"

"अगर तुममें साहस हो, तो जरूर लिखना। और जीवनी अगर सिर्फ़ अपनी शराफ़त की बड़ाई करने के लिए लिखनी हो, तो मत लिखना।"

"मैंने सोचा है कि मिर्चा के बारे में बहुत अच्छी तरह से लिखूंगी।"

"बहुत सुखी हुआ सुनकर। सचमुच आनन्द हो रहा है, रू। सभी कहते हैं कि तुममें बहुत साहस है। क्या सुन्दर हमारा बचपन था रू, क्या मधुर थे वे दिन ! और क्या ही अच्छा लड़का था मिर्चा।" मुन्ना स्मृति का रोमन्थन कर रहा है : "इस तरह से एक घंटे के अन्दर उसे भगा देना।...मामा को कोई विचार नहीं था...एक छोटी-सी सनकी लड़की की बात सुनकर ऐसा कोई करता है...?" वह बकता ही चला जा रहा है।

"मुन्ना, चिट्ठियाँ दे दो न। मुझे तो कुछ याद ही नहीं आ रहा है। चिट्ठियाँ पढ़ने पर, हो सकता है, बहुत सारी बातें याद आयें। कितनी चिट्ठियाँ हैं, बताओ न !" मैं मन-ही-मन अन्दाज़ लगा रही हूँ, दस महीने में आखिर कितनी चिट्ठियाँ लिख सकता है, महीने में दो चिट्ठियाँ लिखी होंगी शायद।

"मो, थी तो बहुत-सारी, लेकिन उन सब चिट्ठियों को तो मैंने फाड़ डाला है।"

"क्यों फाड़ डाला ?"

"सावधान होने के लिए। क्या पता कौन, कब देख ले !"

"मुन्ना, उसकी वह दाढ़ी वाली तसवीर कहाँ है ? उसे फाड़ने की तो जरूरत नहीं थी।"

"वह तो तुम्हें दी है मैंने।"

"कभी नहीं। उस तसवीर को तो मैंने देखा तक नहीं। देखा ... तो भूलती नहीं।"

"वाह ! कमाल है ! एक आदमी को पूरी तरह भुलाकर

घर बसाया, घर-गृहस्थी की और अब कह रहो हो कि सुनती नहीं।"

"मुन्ना, दो, वह तसवीर ही दे दो। चिट्ठियाँ भी कुछ-न-कुछ होंगी ही, दो न!"

"अच्छा, चालीस साल पहले की चिट्ठियों को क्या मैं जेब में डाले घूमा करता हूँ? उन्हें ढूँढ़ना पड़ेगा। मुझे ढूँढ़ने दो। ऐसा करो, तुम सात दिन बाद आओ।"

सात दिन बाद मैं फिर गयी, गुस्से के मारे मेरा कलेजा जला जा रहा है! इतनी चिट्ठियाँ उसने लिखी थी और मुझे कुछ पता नहीं चला—वे चिट्ठियाँ तो उसने जरूर मुझे ही लिखी होंगी। इस मूर्ख आदमी को इतनी चिट्ठियाँ आखिर वह किस वजह से लिखेगा।

कुछ दिनों तक उसने मुझे घुमाया, उसके बाद एक दिन खबर भेजी कि चिट्ठियाँ उसे मिल गयी हैं। शाम के समय मैं फिर गयी, मुन्ना ऊपर से उतरकर आया, तोंदैदार, स्थूल शरीर, नंगा बदन, लुंगी पहने हुए। मुट्ठी के पास कई चिट्ठियाँ लंबी हुई थीं। उसके उस नंगे, पसीने से तरबतर बदन से चिपकी उन चिट्ठियों को देखा, तो मेरा बदन सिहर उठा!

मैंने अपना हाथ बढ़ा दिया: "दो।"

"बहुत ढूँढ़ा, तब कहीं जाकर ये तीन चिट्ठियाँ मिली हैं। तब तक इन्हें लो, बाद में और भी ढूँढ़ूँगा।"

उन चिट्ठियों को लेकर मैंने मोमबत्ती की रोशनी में ही पढ़ना शुरू किया है, मगर मुन्ना कह रहा है, "घर जाकर पढ़ना, रु। आओ, जरा बातें करें, बचपन के बारे में। पता है रु, मैंने तुम दोनों की छाया काँच के पल्ले में देखी थी। उसके बाद मिर्चा से मैंने कहा, आओ, तुम इस कुर्सी पर बैठो। उसके बाद मैं वहाँ जाकर खड़ा हो गया, जहाँ कुछ देर पहले तुम दोनों खड़े थे। तुमने देखा था? जब मैंने उससे कहा, यहाँ तुम दोनों की छाया मैंने देखी है, तो वह चौंक उठा।" मुन्ना बकता ही चला जा रहा है। मैंने चिट्ठियों को पढ़ना शुरू किया है—मधुर हैं ये चिट्ठियाँ—एक यूरोपीय मन प्राचीन भारत की आत्मा को छूने के...

जग रहा है और प्रेम के दहन में जल रहा है। उस सुन्दर मन की छवि मैं देख पा रही हूं। चिट्ठियां जीर्ण होने को आयी हैं। समझ में आता है कि इन चिट्ठियों के पहले उसने और भी चिट्ठियां लिखी हैं।

स्वर्गाश्रम, ऋषिकेश
10 नवम्बर, 1930 ई०

प्रिय मुन्ना,

ब्रह्मपुरी के अरण्य की निर्जनता में बहुत दिन बिताकर मैं कल रात को आश्रम लौटा, तो तुम्हारी चिट्ठी मिली। तुम्हारे और मेरे बीच ग़लतफ़हमी तो हो ही नहीं सकती है। कुछ ऐसी घटनाएं थीं, जिनके बारे में तुम्हें कुछ मालूम नहीं था, इसीलिए उनके बारे में मैंने तुम्हें खुले तौर पर लिखा है। लोग मुझे श्री चैतन्य कहते हैं तो कहें, इस तरह की सस्ती रसिकता मुझे स्पर्श नहीं करती। मैं यह जानकर खुश हुआ हूं कि मेरे दोनों मित्र इस पर विश्वास नहीं करते। मेरे वैराग्य के बारे में जब सोचोगे, तो यूरोपीयों की तरह मत सोचना, बल्कि एक भारतीय की तरह सोचना। तुम इस बात को मुझसे अच्छा समझोगे कि अपने उपदेशों का दुनिया में प्रचार करने के पहले ईसामसीह को मरुभूमि में बीस वर्षों तक क्यों साधना करनी पड़ी थी। ज़रा सोचकर देखो, ईसा-मसीह ने सिर्फ़ अठारह महीने अपने उपदेशों का प्रचार किया था और दुनिया को बदल डाला था। और मैं अपने समय के ऐसे बहुत-से बुद्धि-सम्पन्न मस्तिष्क व उच्चमना व्यक्तियों के बारे में जानता हूं जो अपने उपदेशों का प्रचार जीवन-भर करते रहें, तो भी खुद वे अपने मन को भी नहीं बदल सकते। मैं दुनियादारी की ओर जल्दी लौटना नहीं चाहता। जब रामकृष्ण ने सिद्धि प्राप्त की, तो सारा विश्व उनके दरवाजे पर आया, लेकिन स्वामी विवेकानन्द ने सारी दुनिया का भ्रमण किया, फिर भी किसी को दीक्षित नहीं कर पाये। ज्यादा कहने से लाभ नहीं, बस इतना ही कहूंगा कि 'साधना' का अर्थ देश-विदेश में भाषण देते फिरना और किताबें लिखना नहीं

है और न इस काल के असंख्य गधों के कानों में मन्त्र फूँकना ही है।

मेरे माता-पिता और बहन आस लगाये हुए हैं कि मैं घर लौटूँगा, इसीलिए मुझे बहुत दिनों से उनकी कोई चिट्ठी नहीं मिली है। थोड़े दिनों के लिए अपने देश वापस जाने का मेरा सब प्रबन्ध हो गया था। मेरी किताब 'जो प्रकाश बुझ चुका है', 18 सितम्बर को मेरे मित्र के पास पहुँच गयी है, यह एक अजीब बात है, है न? यह चिट्ठी अमृता को दिखाना।

तुम्हारा
मिर्चा

चिट्ठी पढ़कर मेरी समझ में आ रहा है कि पिताजी पर वह आग-बबूला हो रहा था। उनका देश-विदेश में लेक्चर देते फिरना, विद्या-अर्जन और विद्या-दान करना कुछ भी उसे अच्छा नहीं लग रहा था, किन्तु मन-ही-मन उन्हें बहुत बड़ा सोच रखा था, इसीलिए तो उन सब महापुरुषों के साथ उनकी तुलना की थी। पिताजी का यही सबसे बड़ा दुर्भाग्य था कि वे अपने प्रियजनों के लिए देवता बनना चाहते थे—यदि वैसा न होकर वे एक दोष-गुण-युक्त मनुष्य बने रहते, तो न उन्हें ही इतना दुःख उठाना पड़ता और न हमीं लोगों को।

स्वर्गाश्रम
25 नवम्बर, 1930 ई०

प्रिय मुन्ना,

मैं तुम्हारी चिट्ठी की प्रतीक्षा में था और आते ही जल्दी से उसे पढ़ा। मैं इस विषय में अपने घर में किसी को क्यों नहीं लिख रहा हूँ? अपनी बहन को थोड़ा-बहुत लिखा था। उनमें से कोई भी मेरे विषय में मेरे विचारों के सम्बन्ध में इतना अधिक नहीं जानते हैं कि केवल मेरी चिट्ठी पढ़कर सब-कुछ समझ सकें। उन्हें यह मालूम है कि मैंने एक हिन्दू लड़की से ब्याह करने की ठान रखी है और मैं भारत में और भी पाँच वर्ष रहूँगा। उन्हें इतना-भर ही

मालूम है, इससे अधिक कुछ नहीं। इसके लिए वे लोग मुझे बाद में दोष देंगे, यह मैं जानता हूँ। किन्तु अपने अन्तर की बात मैं किसी से नहीं कहता—कभी नहीं कहता। जो हो, मैं उन लोगों को विस्तार से बताऊँगा, लेकिन अभी नहीं। मैं प्रत्यूष की प्रतीक्षा में हूँ। तुम्हें क्या लगता है, प्रभात होने में देरी होगी? देख रहे हो न, साहित्यिक ख्याति क्या काम आयी? इसीलिए, मैं अब साहित्य या यश आदि की परवाह ही नहीं करता हूँ। मैं दिन-रात उपनिषद् पढ़ रहा हूँ और वेदों के विशेष अंश। मैं गुरुकुल गया था—आर्य समाज द्वारा संचालित यह एक विख्यात विद्यालय है। वहाँ विभिन्न धर्मों की तुलनात्मक समीक्षा पर भाषण देने के लिए मैं निमन्त्रित हुआ था। मैं राजी हुआ था, क्योंकि मैंने सोचा था कि गुरुकुल में मुझे संस्कृत में बातचीत करने का सुयोग मिलेगा। वह सुयोग मिला भी। वहाँ छात्र प्राचीन भारत की आध्यात्मिकता से उद्‌बुद्ध हैं, पेड़ों के नीचे पवित्र भाव से खुली हवा में ये लोग रहते हैं। अभी केवल यही जीवन मैं सहन कर पा रहा हूँ। तुमने पूछा है कि थोड़े दिनों के लिए भी मैं अपने देश क्यों नहीं जा रहा हूँ? क्योंकि तब वे लोग मुझे फिर आने नहीं देंगे! वे लोग मेरी आँखों की ओर ताककर समझ जायेंगे कि भारत ने मुझे क्या सिखाया है। वे लोग भयभीत हो जायेंगे और मुझे यूरोप में रोक रखेंगे। यूरोप अब मेरे लिए सपनों का महादेश है—वहाँ मैं मुक्त था, मेरी उम्र कम थी, वहाँ रहते मैं जीवन के सम्बन्ध में उदासीन था, और सुख-शान्ति से था। अब तो यह सब मेरे लिए स्वप्न है। सिसिली का तीर और रोम का ध्वंसावशेष, फ्लोरेंस का घना नीला आकाश और स्विट्ज़रलैंड की निर्जनता—यह सब शायद मैं फिर कभी नहीं देख पाऊँगा। मुझे यहाँ रहकर लड़ना पड़ेगा। इस भारत में रहकर भारत के साथ लड़ाई करूँगा। भारत ही ने मुझे बन्धन में जकड़ा है, भारत ही मुझे मुक्ति का मार्ग दिखायेगा। मैं किसी को ठग नहीं रहा हूँ, न अपने-आपको, न अपने देश को, इसीलिए अपने देश वापस जाकर अपनी आध्यात्मिकता के सम्बन्ध में व्यर्थ की बातें करने अथवा

अपनी योग-विषयक विद्या के सम्बन्ध में बड़ाई करने से क्या लाभ? जबकि यन्त्रणा, सिर्फ यन्त्रणा ही सच है। मैं चाहता हूँ कि तुम और भी जरा सहानुभूति के साथ मेरी बातों को समझो। तुम्हें अभी भी नहीं पता कि मेरा कैसा अथाह सर्वनाश हो चुका है, और उनका प्रभाव कितने गहरे तक पड़ा है। मैं यहीं रहूँगा। मैं पागल की भाँति संस्कृत व भारतीय दर्शन पढ़ रहा हूँ। एक बत्ती मिली है, उसी के सहारे बहुत रात तक पढ़ा करता हूँ। यह जगह बहुत ठंडी है, बहुत निर्जन है। यहाँ कुछेक पंडित हैं। अमृता को, कृपा करके मेरी वह तसवीर दिखा देना—उसे पता है कि मुझे इस बात का कितना कष्ट है कि उसे अपनी एक तसवीर तक भेजने का भी मुझे अधिकार नहीं है।

प्यार लेना।

तुम्हारा
मिर्चा

स्वर्गाश्रम
5 दिसम्बर, 1930 ई०

प्रिय मुन्ना,

तुम्हारी चिट्ठी पढ़ी। तुम्हें माफ़ करने का सवाल ही नहीं उठता है। तुमने ठीक ही किया जो अपने मित्र को अपनी मुसीबत के बारे में लिखा है। यह तो मेरी ही कमी है कि मैं तुम्हारी कोई सहायता नहीं कर पा रहा हूँ।...मैं पागल की तरह काम कर रहा हूँ। उपनिषद् के दर्शन पर अपना निबन्ध मैंने समाप्त किया है। उपनिषदों के बारे में मैं इतना कह सकता हूँ कि यह मेरे जीवन की सान्त्वना हैं और मेरे मरण में भी सान्त्वना प्रदान करेंगे। मैं जब क्लान्त हो जाता हूँ, तभी लिखता हूँ—फुरसत के समय को काटने के लिए मैं नहीं लिखता, न नाम-ख्याति के लिए ही, बल्कि अपने प्रकाशक के प्रति अपने कर्तव्य की खातिर लिखता हूँ। लिखना ही मेरे लिए अपराह्न-कालिक विश्राम है, इसीलिए मैंने ढेर सारा काम

किया है। अब मैं तुमसे एक बात पूछ रहा हूँ, वह यह कि क्या तुमने अमृता को मेरी वह तसवीर दिखायी ? वह अभी क्या कर रही है ? तुम अपनी हर चिट्ठी में ही यह लिखते हो कि अभी तक उसका संकट दूर नहीं हुआ है। लेकिन इस बात से तो कुछ समझ में नहीं आता है, यह बात तो कुछ भी न कहने के बराबर बात है। आशा है, तुम इस बात को समझते होगे कि उसकी खबर जानने के लिए मैं कितना उद्विग्न हो उठता हूँ। मैं जानता हूँ, और मेरा यह दृढ़ विश्वास भी है कि ठीक जो कुछ करना उचित है वह वही कर रही है और भविष्य में भी करेगी। मगर मैं उसके बारे में और भी जानना चाहता हूँ। आखिर तुम उसे मेरी चिट्ठियाँ क्यों नहीं दिखा रहे हो ? जब वह अकेली रहती है तब उसे मेरी चिट्ठियाँ दिखाओ और उसके मन की बातें, चाहे जैसे भी हो, मुझे जताओ। उसके मन की ठीक क्या दशा है, यह मैं जानना चाहता हूँ। यह बात लिखने से कोई फ़ायदा नहीं कि वह अतीत की बातें भूलेगी नहीं—कारण, 'अतीत' शब्द भी एक शब्द मात्र है। मेरी बात समझ पा रहे हो न ?

मुझे जो उन्मत्त अभिज्ञता हुई (तुम इसे प्रेम कह सकते हो) और जिसने गत तीन महीने से मुझे असीम यन्त्रणा से विद्ध किया है—अब जाकर मैंने उसका शुभ पहलू देखना शुरू किया है। उस लड़की ने मेरे जीवन को बदल डाला है और बदलकर इसे सहस्र-गुना अच्छा बना दिया है। मेरा यह जागरण सूर्योदय की भाँति ही महिमामय है। मैंने सत्य को देखा है, और सामाजिक जगत् व विद्या के जगत् की गन्दगियों को भी देखा है। चारों ओर की भीरुता व गन्दगियों के बीच मैं अपने-आपको पवित्र मान रहा हूँ। झूठ के बिसातखाने को मैं जितना देख रहा हूँ उतनी ही शान्ति मुझे यह सोचकर मिल रही है कि मैं दुःख पा रहा हूँ। मैं इस जीवन का उपभोग करना नहीं चाहता और करूँगा भी नहीं। मैं सुख नहीं चाहता, नहीं चाहता।

तुम्हारा मित्र
मिर्चा

इन चिट्ठियों को पढ़कर मैं सोच रही हूँ कि मिर्चा ने एक गँवार के गूदड़ में मोती बिखेरे थे। पिताजी से उसने प्रतिज्ञा की थी कि वह मुझे चिट्ठी नहीं लिखेगा, इसीलिए उसने मुन्ने को लिखा था—और वह निश्चित हो गया था कि मुन्ना मुझे उन चिट्ठियों को दिखायेगा और मैं वह सब-कुछ करूँगी, जो मुझे करना चाहिए। उसे विश्वास था कि मैं ठीक समय पर ठीक काम करूँगी। उसे तो इतना विश्वास था मेरे ऊपर, और मैंने क्या किया? जीवन-भर मैं यही सोचती रही कि उसने मुझे ठगा है। करने के लिए तो मैं ही सब-कुछ कर सकती थी। यह मेरा देश था। जान-पहचान के कितने मेरे अपने लोग थे, कितने ही शुभैषी थे! वे सब-के-सब श्रेष्ठ पुरुष थे। मेरा क्या कोई सहायक नहीं होता? फिर मैंने कुछ क्यों नहीं किया? *क्योंकि मेरी यह धारणा थी कि इस विषय में जो कुछ भी करणीय है*, उसे उसी पुरुष को ही करना चाहिए। स्त्रियाँ आगे बढ़कर क्यों पहल करेंगी? यह भी मेरा एक कुसंस्कार और दम्भ था। मैं एक बेवकूफ और निकम्मी लड़की निकली। अवश्य मुझे यह पता नहीं था कि पिताजी ने पुलिस भेज दी थी और कहलवाया था कि अगर उसने मुझे चिट्ठी लिखने की कोशिश की तो वे उसे देश से बाहर निकलवा देंगे। उन्होंने उसे लिखा था: 'तुमने मेरे घर को अपवित्र किया है। तुम घास-पात में छिपे हुए एक साँप थे। और साँप जब सिर उठाये तभी उसे मारना चाहिए। और मैंने यही किया है...।' इसीलिए उसके सामने कोई विकल्प नहीं था। इधर जीवन-भर उस पर सन्देह करके मैंने तकलीफ पायी है। इधर मुन्ना ने उसे झूठ में फाँस रखा है। कम-से-कम उस तसवीर के बारे में जब कहा है कि उसने मुझे उसकी वह तसवीर दिखायी है तब तो चिट्ठियों के बारे में भी कहा ही होगा। अतः यह क्या असम्भव है कि उसे लगा हो, कि मैंने जान-बूझकर कुछ नहीं किया। आखिर मेरी निष्ठा भी पंगु थी।...मेरे घर से दो मील के घेरे में ये चिट्ठियाँ थीं और वे मुझे मिलीं तैंतालीस वर्ष बाद। यही है कर्मफल, यही है होनी! मुन्ना बढ़-बढ़कर बातें किये जा रहा है: "बाद में पढ़ना। आओ, अभी ज़रा बातें करें।"

मैं बोली, "उल्लू कहीं का!" गुस्से के मारे मैं काँप रही हूँ। वह

चौंक उठा है। मुझ जैसी संभ्रान्त महिला के मुंह से एक ऐसी गन्दी गाली निकल सकती है, वह यह सोच भी नहीं सकता।

"क्या कह रही हो रू, क्या कह रही हो ?"

"कुछ नहीं, बस तुम्हारी तुलना एक जन्तु से की है।"

"किसको कह रही हो ?"

"उस जन्तु को। मुन्ना, ये सब चिट्ठियां तुमने मुझे क्यों नहीं दिखायी थीं ?"

"दिखायी थीं न !"

"दिखायी थीं ? झूठे कहीं के ! क्यों नहीं दिखायी थीं, बताओ।"

"देखतीं, तो तुम क्या करतीं ? तुम कुछ कर सकती थीं ?"

मैं टकटकी लगाकर देख रही हूं उस आदमी की ओर। उसके चेहरे पर का पसीना चमक रहा है, मोमबत्ती की रोशनी में वह आदिम गुफ़ा में पड़े एक जानवर की तरह लग रहा है। आखिर क्यों इस आदमी ने मुझसे ऐसी अमित्रता निभायी ? इन सारे प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है और अब उत्तर मिले भी तो क्या होगा !

"चलती हूं मुन्ना। इन तीनों चिट्ठियों को जो तुमने बचाकर रखा है, इसके लिए धन्यवाद।"

मन-ही-मन सोच रही हूं, उस पर झूठमूठ गुस्सा कर रही हूं, इन चिट्ठियों को पढ़कर क्या वह कुछ समझ सकता है ? या हो सकता है, उन्हें उसने अच्छी तरह पढ़ा ही न हो। बैग खोलकर मैं चिट्ठियां रख रही हूं कि तभी मुन्ना बोला : "जानती हो कैसी महँगाई आ पड़ी है ! कितने दिनों से कोई काम-काज नहीं मिला है ! अगर तुम पचास रुपये दो, तो कल राशन ला सकूं।" मैंने कुछ रुपये फेंक दिये और चली आयी, मुझे उबकाई आ रही है। मुन्ना पीछे से पुकारकर कह रहा है; "वह कहां है, जानती हो ?"

"हां जानती हूं।"

"अच्छा, कहां है, बताओ तो ?"

"ठीक जहां था, वहीं है।"

मुन्ना विस्मित ! "यह भी भला कोई पता है ?"

"और कोई पता मुझे नहीं मालूम, माई।"

मैं अचम्भे में पड़कर सोच रही हूँ, उन्नीस सौ तीस ईस्वी ने जैसे यह षड्यंत्र रचा था कि हमारा मिलन नहीं हो पाये उसी तरह इस उन्नीस सौ तिहत्तर ईस्वी ने यह षड्यंत्र रचा है कि हमारी भेंट हो जाय। मेरा आत्म-विश्वास बढ़ता जा रहा है; मैं शायद जाकर वहाँ पहुँच सकूँगी। मैं यह सोचकर हक्की-बक्की हो गयी हूँ कि 1930 ई० में जिसने इतने प्रेमातिरेक के साथ ऐसी चिट्ठियाँ लिखी थीं उसी ने 1933 ई० में वैसी किताब कैसे लिखी ? मुझे डर लग रहा है यह सोचकर कि उसका जो सुन्दर और कोमल मन इन चिट्ठियों की हर पंक्ति में प्रकट हो रहा है, वह मन जिन्दा है या पांडित्य के दबाव से ठूंठ बनकर सूख चुका है ? उसके पांडित्य की ख्याति सुन रही हूँ और डर रही हूँ मैं। मैं जानती हूँ कि विद्या के गुरुभार से मनुष्य पिस जाता है। मेरे पिताजी भी कहा करते थे: 'विद्या हममें से बहुतों के लिए पीठ पर का बोझ है हम लोग माल ढोने वाले जन्तु की तरह चले जा रहे हैं। एक मात्र रवीन्द्रनाथ ही ऐसे व्यक्ति हैं जिनके रक्त में विद्या घुल-मिल गयी है और दोनों ओर पंख बनकर निकल आयी है, और वही विद्या उन्हें बोझहीन करके आकाश में उड़ा रही है।'

जाने का समय जितना निकट आता जा रहा है उतना ही मैं यह समझ नहीं पा रही हूँ कि सहसा यह बवंडर कहाँ से आकर इस जीवन-नदी के मोड़ को घुमाये दे रहा है, और इसका उद्देश्य या परिणाम ही भला क्या हो सकता है !

मेरे पति मुझे भरोसा दे रहे हैं: "तुम यह निश्चित मानो कि इससे तुम्हारे जीवन में कुछ अच्छा होने वाला है। इसका कोई उद्देश्य है और और हम दोनों का ही इसमें लाभ होगा।"

"आपका भला क्या लाभ होगा इससे ?"

"होगा, मेरा लाभ होगा।"

लाभ तो हो ही रहा है। सिर्फ़ मैं ही नहीं, बल्कि हम सभी उन्हें भी पहचान रहे हैं, हम लोग उनका आदर कर रहे हैं। वे भी अपने-प को पहचान रहे हैं। उनके मन में कितना प्यार है, कितना धैर्य है र वे कितने निरभिमान हो सकते हैं—इसकी परीक्षा दे रहे हैं वे और नायास ही वे इस परीक्षा में सफल होते जा रहे हैं। मैं बीच-बीच में सोचा करती हूँ कि हमारे एक साधारण घर-संसार में बैठकर मेरे पति ने जो कुछ प्राप्त किया है उसे ऋषिकेश की उस गुफ़ा में बैठकर वह जज साहब मौनी साधु होकर प्राप्त कर सके हैं कि नहीं !

स्वप्नाच्छन्न की भांति मैं सब काम-काज किये जा रही हूँ। जो तमाम निमन्त्रण मिले हैं उनके लिए व्याख्यान तैयार कर रही हूँ, और निजी धन्धों के दूसरे काम निवटा रही हूँ, किन्तु इन सबसे मेरा मन स्पृहा-शून्य है, भावाविष्ट है मेरा मन ! इसी बात को लिखने के लिए ही मैंने यह क़लम पकड़ी है—बचपन में क्या हुआ था उसे लिखने के लिए नहीं। बचपन में प्रणय होना और जीवन के बीच रास्ते में उसका अकस्मात् बेमौत मरना कोई विशेष घटना नहीं है—ऐसा तो हमेशा ही हुआ है, हो रहा है और होगा। इसके बारे में बहुत-से लोग अपनी-अपनी जोरदार क़लमों से लिख गये हैं। मैं लिख रही हूँ बयालीस वर्ष बाद जो कुछ घटा उस विशेष घटना के लिए, क्योंकि यह एक विस्मयकारी घटना है, शायद अभूतपूर्व भी। यह अभूतपूर्व है इसीलिए मुश्किल भी हुई है क्योंकि ऐसे भावों को व्यक्त करने के लिए कैसी भाषा चाहिए, यह मुझे मालूम नहीं और इसीलिए मैं जो कहना चाह रही हूँ वह कह नहीं पा रही हूँ। लग है, ये शब्द और वाक्य जैसे निष्प्राण मात्र हों, मेरी अनुभूति को धा करने के अयोग्य !

मिर्चा के विषय में नये सिरे से कुछ याद आने के क़रीब सा पहले से ही अर्थात् सेरगेई के आने के पहले से ही मैंने अपने भीत अद्भुत व्याकुलता अनुभव की थी, यह बात तो मैं पहले ही क

जनक रूप देख पायी। मैंने किसी दूसरे पड़ाव पर पहुँचकर देखा कि हम लोग जिसे अतीत समझते हैं वह वास्तव में अतीत नहीं है, न वह कहीं चला जाता है। उसका आदि भी नहीं है, मध्य भी नहीं है, अन्त भी नहीं है—'नान्तम् न मध्यम् न पुनस्तवादिम्, पश्यानि विश्वेश्वर विश्वरूपम्।' पर यह देखकर मेरा क्या लाभ हुआ ? मैं आकुल होकर पूछती हूँ, यदि कोई ईश्वर हो, तो बताओ, क्या लाभ हुआ मेरा ? परन्तु उत्तर मैं ही जानती हूँ, लाभ-हानि की बात का तो यहाँ लेखा-जोखा होने वाला नहीं है। ऐसी बहुत-सारी घटनाएँ घटती हैं जिनकी कोई सार्थकता नहीं होती वास्तविक जीवन में, प्रतिदिन के जीवन में। उन्हीं अप्रासंगिक, अनर्थक घटनाओं से ही मनुष्य का जगत् घिरा रहता है, पशु का नहीं। इन आठ महीनों में कम-से-कम इतना-सा मेरी समझ में आया कि मैं पशु नहीं हूँ, मैं मनुष्य हूँ और विश्वरूप को देखने का अधिकार मुझे है।

महाकाल मुझे गोद में उठाकर नाच रहा है और उसकी खुली जटाएँ मेरे आँख-मुँह और समूचे शरीर को ढक रही हैं। मेरे लिए भूत-भविष्य, पूर्व-पश्चिम, दूरी व सामीप्य—सब एक हो गया है, मेरा कारागार चकनाचूर हो गया है; लज्जा, भय, आत्मीय-स्वजनों का बन्धन—सब झड़कर गिर गया है। सिर्फ़ प्रेम, काल-जयी प्रेम उस उज्ज्वल नीलाकाश में ध्रुव तारे की तरह मेरा मार्ग-निर्देशन कर रहा है। वही मुझे महासमुद्र के पार ले जायेगा।

हवाई-अड्डे पर पहुँचकर मेरी इच्छा हुई अपने पति को प्रणाम करने की। उनके प्यार की स्निग्ध हवा मुझे घेरे हुए है और मेरे तन-मन को शीतल किये दे रही है। किन्तु मैं यहाँ प्रणाम नहीं कर सकूँगी! वे परेशान होंगे। इसीलिए मैं धीरे-धीरे बोली : "जीवन-भर आपने मुझे इतनी स्वाधीनता दी रखी।"

वे ज़रा-ज़रा मुस्करा रहे हैं : "तुम्हारी स्वाधीनता क्या मेरी जेब में रहती है जो बीच-बीच में निकालकर दूँगा। तुम्हारी स्वाधीनता तो तुम्हारी ही वस्तु है।"

न हन्यते : चतुर्थ पर्व

महानगरी के राज-पथ में मैंने सद्यः परिचित जॉन से कहा : "हम लोग जब वुडलैंड के रास्ते पर पहुंचें, तो तुम मुझे बताना।" उसका पता मैंने बड़ी मुश्किल से पाया है। अपने देश में ही जान सकी थी—उसका पता व टेलीफोन नम्बर, जबकि इतनी तकलीफ उठाकर उसकी खोज की जरूरत नहीं थी। लेकिन देश में उसे खोज करना ही मेरे लिए एक बहुत बड़ा काम हो गया था। मुझे सही पता चाहिए ही; इतने दिन तो बिना पते के कितना घूमी!

गाड़ी चली जा रही है, नये देश, नये शहर, और अपरिचित चेहरों को पीछे छोड़ती हुई मेरे चिर-परिचित किसी लक्ष्य की ओर। मेरा मन आच्छन्न है। मैं जैसे नींद की खुमारी में हूं। मैं जो इस पते को हाथ में लिये बैठी हुई हूं उसके, और मेरे इस शरीर तथा मेरे इतने दिनों के इस जीवन के बीच की दूरी बहुत अधिक है। इन दोनों को एक करके रखना बड़ा मुश्किल हो रहा है। मुश्किल हो रहा है यह याद रखना कि मैं कौन हूं।

जॉन बोला : "हम लोग अब वुडलैंड में आ गये।"

दोनों ओर फैला हुआ यह जंगल है या शहरों के मकान—यह मुझे नहीं पता। मैं देख रही हूं छोटी-छोटी बगिया वाले बड़े-बड़े मकान—फिर कभी देख रही हूं बड़े-बड़े पेड़ों की पत्तियों के छाजन की छाया से ढका हुआ रास्ता वुडलैंड—दोनों में से कौन सच्चा है, और शायद एक भीतर है और एक बाहर। भीतर वाला ही ज्यादा सच्चा है, क्योंकि वह

ही देखता है, मन ही दर्शक है, मैं जिस जगत् में अभी रह रही हूँ वह तो मनोजगत् है। कितने दिन और कितनी जाग कर काटी रातों-भर मैंने इस रास्ते के बारे में सोचा है और नज़रों के सामने जैसे पेड़ों की छाया से ढका टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता तिर गया हो—यदि पेड़ न भी हों, तो भी वह कल्पना जायेगी कहां ? मैं अधमुंदी आंखों बैठी हुई हूं, और वुडलैंड जैसे किसी महाशून्य से तिरता हुआ आ रहा है—टुकड़ों में बँटा हुआ छायामय रास्ता।

गाड़ी रुकी। मॉली ने कहा : "अमृता, तुम जहां कहीं भी जाना चाहो, यह लड़की तुम्हें वहां लिवा जायेगी।"

मैंने पूछा : "तुमने क्या प्रोफ़ेसर को फ़ोन किया था ? पता है, कब वे घर पर रहते हैं ?"

"हां, किया था फ़ोन। लेकिन उनके सेक्रेटरी ने बताया कि उनके समय का कोई ठीक नहीं है।"

शार्ली छोटी उम्र की लड़की है, वह इस विश्वविद्यालय की छात्रा है। हम दोनों एक कैफ़ेटेरिया में खाने बैठीं। शार्ली ने खाना रखा मेज़ पर, मैं खाने-पीने की चीज़ों को पहचान नहीं पा रही हूँ, रह-रहकर हाथ से कांटा गिर-गिर जा रहा है। शार्ली ज़रा विस्मित है। रास्ते पर निकलकर आयी तो मैं बोली : "थियोलॉजिकल कॉलेज कहां है, तुम जानती हो ?"

वह बोली : "बस, इसके एक ब्लॉक बाद ही है।"

"पैदल जा सकती हूं न ?"

"अरे, कैसी बात करती हो, बस, एक ब्लॉक के बाद ही तो है ! पैदल क्यों नहीं जा सकोगी ?"

हम लोग आगे बढ़ती जा रही हैं, मैं बात करने की कोशिश कर रही हूं बड़े ही सहज, स्वाभाविक ढंग से।

"तुम्हें किसी से मिलना है उस कॉलेज में ?"

"हां, वहां मेरे एक मित्र हैं। मुझे उनसे मिलना है।"

"उन्हें पता है कि तुम आ रही हो ?"

"नहीं।"

"कितने दिन बाद भेंट होगी ?"

"बस, सिर्फ बयालीस वर्ष बाद।"

"बयालीस वर्षों तक तुम लोगों की भेंट ही नहीं हुई है ? तब तो तुम लोग एक-दूसरे को पहचान ही नहीं सकोगे।"

"मगर मुझे तो ऐसा नहीं लगता है। बयालीस वर्ष तो कोई खास लम्बा समय नहीं है। यह पृथ्वी कितनी पुरानी है, और सूर्य का जन्म भला कब हुआ है कौन जाने ?" हठात् मुझे लगा, ज़ोर-ज़ोर से ऐसी स्वगतोक्तियाँ करना उचित नहीं हुआ, वह क्या सोच बैठी, क्या पता ! लेकिन शार्लो इसके लिए विस्मित नहीं हुई है, वह विस्मित हुई है दूसरे कारण से। वह कह रही है, "बयालीस वर्ष बाद किसी मित्र से मिलना कैसा होता है, यह तो मैं सोच ही नहीं सकती।"

"सोच सकोगी, समय आने दो।"

"नाटकीय है यह मिलना !"

"सभी तो कहते हैं कि यह जीवन ही एक नाटक है, देखूं तो सही कि कैसा नाटक होता है !"

शार्लो बोली : "लो, पहुँच गयी।" सहसा मानो महाशून्य से, जादू की छड़ी की छुअन से, एक साइनबोर्ड बगीचे के ऊपर उभर आया। सिर्फ नाम-पता लिखा हुआ एक साइन-बोर्ड, क्या इतना अर्थवह हो सकता है ? तो क्या मैं उस सीखचों के चित्रखचित पर्दे को देख रही हूँ जो उसके और मेरे बीच टँगा रहेगा ?

उस मकान के बड़े दरवाजे के पास तक मैं हवा में तिरती हुई-सी चली जा रही हूँ; शार्लो ने दरवाजा खोला। बगल में एक बड़े-से बोर्ड पर बहुतों के नाम लिखे हुए हैं। उसने मुझसे पूछा : "तुम किससे मिलना चाहती हो ?"

मेरा निःश्वास बन्द होने को आया है, कुछ बोलना असम्भव हो गया है ! इसीलिए मैंने उँगली के इशारे से दिखा दिया।

"ओ वे, वे तो एक महान आदमी हैं, विख्यात व्यक्ति हैं...।"

मैं आगे बढ़ती चली जा रही हूँ, शार्लो मेरी बाँह में बाँह डाले चली जा रही है, क्यों, कौन जाने ? तो क्या मैं अस्सी बरस की बुड्ढी हूँ ? मैं

: "ये किसलिए इतने विख्यात हैं ?"
"वे महापंडित जो हैं।"
पंडित हैं ! मेरा मन फिर बैठ गया। यह मैं किससे मिलने आयी !
फिर पूछा : "शार्ली, अच्छा यह तो बताओ कि वे पंडित हैं या
ी ?" शार्ली अचकचा गयी है, वह बोली : "सो तो नहीं पता, मैं तो
मामूली-सी छाया हूँ। मैं उन्हें नहीं पहचानती।"

हम लोग लिफ़्ट के पास आ पहुँची हैं। वहाँ जो आदमी खड़ा था,
सने कहा : "यह तो प्राइवेट लिफ़्ट है, बाहर के आदमियों को सीढ़ियाँ
चढ़कर ऊपर जाना पड़ता है। बस तीन-मंजिला ही तो है, चढ़ने में कोई
दिक़्क़त नहीं होगी।"

शार्ली ने बहुत कड़े स्वर से कहा : "खोल दीजिए लिफ़्ट का दरवाज़ा।
ये कल रात को हजारों मील पार करके आयी हैं। ये सीढ़ियाँ चढ़कर
एक क़दम भी ऊपर नहीं जा सकेंगी।"

मैं सोच रही हूँ, वह ऐसी बात क्यों कह रही है ? तो क्या मैं क
रही हूँ ? शार्ली मुझे लिफ़्ट में पकड़े हुए है। क्या पता, कहाँ से इस घोर
विदेश में मेरी एक छोटी-सी माँ आ पहुँची है; जैसे वह मुझे गोद में उठा-
कर लिये जा रही हो !

लिफ़्ट तीसरे तल्ले पर रुका। हम लोग एक लाइब्रेरी में पहुँची हैं।
मैंने जैसे नींद से जागकर देखा—ओ, यह तो एक लाइब्रेरी है। शुभारम्भ
है। मैं लाइब्रेरी को पार करके एक गलियारे में पहुँची—दोनों ओर कमरे
हैं। एक कमरे को पार करके चली जा रही हूँ, कि तभी शार्ली ज़रा रुकी
और बोली : "प्रोफ़ेसर सा'ब अन्दर ही हैं।"

मैं भीतर घुसी।

घुसने के साथ-ही-साथ, बिलकुल उसी क्षण उस वृद्ध व्यक्ति ने एक
शब्द किया : "ओह !" उसके बाद उठकर खड़ा हो गया, फिर बैठ गय
और फिर उठ खड़ा हुआ और उसके बाद मेरी ओर पीठ दी। यह कै
कांड है ! तो क्या मुझे पहचान सका है ? आखिर कैसे पहचान सका
मेरी ओर तो उसने देखा तक नहीं है। तो इतने दिन बाद भी क्या
पद-चाप पहचान सकता है ? नहीं, यह तो असम्भव है। जो हो, मगर

तमाशा पार्नों के सामने होना उचित नहीं। मैं दरवाज़े के पास लौट आयी, तो देखती हूँ पार्नो चित्र-लिखित-सी खड़ी है। उसकी आँखें विस्फारित हैं। दो बूढ़े-बूढ़ियों की कालान्तर में नयी भेंट की यह एकमात्र दर्शक है। मैं बोली : 'पार्नो, तुम चली जाओ। तनिक बाद ही मैं तुम्हारे पास आ रही हूँ।"

मेरा मन अब शान्त है, स्थिर है। कोई उत्तेजना नहीं है मन में। जो कुछ करने को था, मैंने किया है।

"इस इतने बड़े शहर में आज यह तुम्हारा पहला दिन है, राह तो नहीं भूलोगी न!"

"नहीं, नहीं, मैं राह नहीं भूलूंगी।" मन-ही-मन कह रही हूँ, इतनी दूर जब पहुँच सकी हूँ, समय के महासिन्धु को पार करके, तो महाप्रयाण में भी अब मैं राह नहीं भूलूंगी।

दरवाज़े के पास से कमरे में आकर मिर्चा के नज़दीक पहुँच ही नहीं पाती हूँ। समूचे कमरे में किताबें फैली हुई हैं। किताबों का अम्बार है चारों ओर, कमरे की छत तक किताबों का ढेर लगा हुआ है। न जाने कैसी झुरझुरी-सी हो रही है मेरे बदन में, मेरे हाथ-पाँव काँप रहे हैं, ठंड से नहीं, डर से। सुना है, पत्थरों के नीचे दबकर सुकुमार जीव जीवाश्म हो जाता है, कहीं वैसा कुछ उसे तो नहीं न हुआ? ...मैं उसे देख रही हूँ; उसके सिर में बिलकुल ही बाल नहीं हैं, सिर्फ गर्दन के पास कुछ सफ़ेद बाल हैं—वैसा ही पतला चेहरा-मोहरा है उसका, और वैसा ही चंचल है वह, एक बार मेज़ पर से कागज़ उठा ले रहा है और फिर उसे रख दे रहा है। उसका पतला-सा शरीर जैसे हवा में काँप रहा हो।

"मिर्चा, तुम मुँह फेरकर क्यों खड़े हो?"

"तुम्हें मैं नहीं देखूंगा। मैं एक दूसरे आदमी के लिए इन्तज़ार कर रहा हूँ।"

"किसके लिए इन्तज़ार कर रहे हो मिर्चा, किसके लिए?"

"एक इनकम-टैक्स ऑफिसर के लिए।"

"इनकम-टैक्स ऑफिसर के लिए?"

"हां, हां, हां।"

"बेवकूफ़ी मत करो मिर्चा, जानते हो मैं कौन हूं?" उसके जवाब का इन्तजार किये बिना ही मैं कहती जा रही हूं, "पहचान सके हो मुझे? जानते हो कौन हूं मैं, कौन हूं मैं?"

"जरूर, ज़रूर (सर्टन्ली, सर्टन्ली)।" वह माथा हिला रहा है। यह तो वही मिर्चा है, बिलकुल ही वही तेईस साल का लड़का है, उसके इस तिरसठवें बरस में वही तेईस साल का लड़का बैठा हुआ है। वह मुझसे कहा करता था: 'तुम 'भीषण' शब्द का बहुत इस्तेमाल किया करती हो, तुम्हारा सब-कुछ ही 'भीषण' होता है।' इस बारे में मुझसे और भी बहुतों ने कहा है। मैं शायद आज भी वैसा ही कहा करती हूं, जिस तरह वह 'सर्टन्ली, सर्टन्ली' कहकर माथा हिला रहा है। क्या महा रहस्य है! क्या अपार विस्मय है! कितनी आसानी से अपने समस्त अस्तित्व के द्वारा मैं उसे पहचान पायी। यह वही है, यह वही है, दूसरा कोई नहीं। और मैं? मैं कौन हूं? मैं भी वही हूं, अक्षय है उसका सत्रहवें साल का मन, कर सकते हो आज भी उसका अन्वेषण? "तो बताओ, बताओ मैं कौन हूं, तो बताओ फिर।"

"तुम अमृता हो। जिस क्षण तुमने इस देश की धरती पर क़दम रखा था उसी क्षण मुझे पता चल गया था।"

"कैसे पता चल गया?" वह चुप्पी साधे रहा।

"बताओ, बताओ, बताओ न?"

"हुं:, एड ने बताया था।"

"एड को तो यह मालूम ही नहीं था कि मैं कब आऊंगी।"

"ख़ैर, मुझे पता था, मुझे पता चल गया था, बस।"

"मेरी ओर देखो, मेरी ओर देखो, प्रिय मिर्चा, मैं कितनी दूर से आयी हूं तुम्हें देखने के विचार से। तुम नहीं मुड़ोगे, देखोगे नहीं?"

"तो सुनो, अमृता," वह अपने अस्थिर हाथ से किताबों की अलमारी पकड़े हुए है—मानो उसे पकड़े बिना वह गिर जायेगा। "तो सुनो अमृता, इन तमाम बातों को मैंने कुछ और ढंग से देखा है। मैं यह नहीं कहता कि मैंने जो सोचा-समझा है वही ठीक है। हो सकता है, तुमने जो सोचा-

समझा है वही ठीक हो। हो सकता है क्यों, जरूर ही वही ठीक है।'

"मगर मेरी चिट्ठी का जवाब क्यों नहीं दिया तुमने ? चिट्ठी मिली थी न !"

"हाँ, छोटी-सी, दो-चार पंक्तियों की।"

"भले ही छोटी-सी रही हो, मगर तुमने जवाब क्यों नहीं दिया ? आखिर शराफ़त भी तो कोई चीज है।"

"शराफत के बारे में कौन सोच रहा था ?" उसके बाद वह ज़रा रुका, फिर बोला, "यही तो मैं कह रहा हूँ, मेरी वह अतुलनीय अभिज्ञता इतनी सुन्दर थी कि मैंने सोचा नहीं था कि उसे मैं फिर छू सकता हूँ—इसीलिए तो तुम्हें मैंने देश-काल के परे करके रख दिया था।"

"असली बात यह है कि तुमने सोचा था कि मैं अपने नये जीवन में तुम्हें भूल चुकी हूँ।"

"नहीं, नहीं, नहीं अमृता, कभी एक पल के लिए भी मैंने यह नहीं सोचा था कि तुम मुझे भूल सकती हो।" उसने एक किताब ताक पर से उतार ली, "मैं सिर्फ यह नहीं जानता था कि तुम मुझे देखना चाहती हो...।"

"क्यों ?"

"हम लोग तो यह जानते हैं कि कितनी सुन्दर-सुन्दर चीज़ें हैं, सुमेरु शिखर है, तुषार-मौलि हिमालय है, पर हम लोग क्या वहाँ जा सकते हैं ? हम लोग यह भी जानते हैं कि वे सब हमारे ही हैं, फिर भी क्या हम लोग उन्हें पा सकते हैं ? सो यही बात मेरी उस अतुलनीय अभिज्ञता पर लागू होती है। मैं उस तक पुनः पहुँच नहीं सकता, उसे पुनः पा नहीं सकता। लेकिन इसी कारण उससे दूर रहना उसे भूलना नहीं है। वह तो मेरे गुप्त विश्व की सर्वाधिक गुप्त सत्ता से संलग्न मेरा सुन्दरतम स्वप्न है।"

"पर मैं तो उसे पा सकती हूँ, उस तक पहुँच सकती हूँ। लो, देख लो, मैं आ गयी न !"

"तुम जो अमृता हो, अनश्वर अमृता हो, तुम जो कर सकती हो मैं क्या वह कर सकता हूँ ? तुम्हारी संस्कृति हजारों वर्ष पुरानी है, तुम्हारा

"हाँ, हाँ, हाँ।"

"वेवकूफ़ी मत करो मिर्चा, जानते हो मैं कौन हूं ?" उसके जवाब का इन्तजार किये विना ही मैं कहती जा रही हूं, "पहचान सके हो मुझे ? जानते हो कौन हूं मैं, कौन हूं मैं ?"

"जरूर, जरूर (सर्टन्ली, सर्टन्ली)।" वह माथा हिला रहा है। यह तो वही मिर्चा है, विलकुल ही वही तेईस साल का लड़का है, उसके इस तिरसठवें वरस में वही तेईस साल का लड़का वैठा हुआ है। वह मुझसे कहा करता था : 'तुम 'भीषण' शब्द का वहुत इस्तेमाल किया करती हो, तुम्हारा सव-कुछ ही 'भीषण' होता है।' इस वारे में मुझसे और भी वहुतों ने कहा है। मैं शायद आज भी वैसा ही कहा करती हूँ, जिस तरह वह 'सर्टन्ली, सर्टन्ली' कहकर माथा हिला रहा है। क्या महा रहस्य है ! क्या अपार विस्मय है ! कितनी आसानी से अपने समस्त अस्तित्व के द्वारा मैं उसे पहचान पायी। यह वही है, यह वही है, दूसरा कोई नहीं। और मैं ? मैं कौन हूं ? मैं भी वही हूं, अक्षय है उसका सत्रहवें साल का मन, कर सकते हो आज भी उसका अन्वेषण ? "तो वताओ, वताओ मैं कौन हूँ, तो वताओ फिर।"

"तुम अमृता हो। जिस क्षण तुमने इस देश की धरती पर क़दम रखा था उसी क्षण मुझे पता चल गया था।"

"कैसे पता चल गया ?" वह चुप्पी साधे रहा।

"वताओ, वताओ, वताओ न ?"

"हुँः, एड ने वताया था।"

"एड को तो यह मालूम ही नहीं था कि मैं कव आऊँगी।"

"ख़ैर, मुझे पता था, मुझे पता चल गया था, वस।"

"मेरी ओर देखो, मेरी ओर देखो, प्रिय मिर्चा, मैं कितनी दूर से आयी हूँ तुम्हें देखने के विचार से। तुम नहीं मुड़ोगे, देखोगे नहीं ?"

"तो सुनो, अमृता," वह अपने अस्थिर हाथ से कितावों की अलमारी पकड़े हुए है—मानो उसे पकड़े विना वह गिर जायेगा। "तो सुनो अमृता, इन तमाम वातों को मैंने कुछ और ढंग से देखा है। मैं यह नहीं कहता कि मैंने जो सोचा-समझा है वही ठीक है। हो सकता है, तुमने जो सोचा-

समझा है वही ठीक हो। हो सकता है क्यों, जरूर ही यही ठीक है।"

"मगर मेरी चिट्ठी का जवाब क्यों नहीं दिया तुमने? चिट्ठी लिखी थी न!"

"हां, छोटी-सी, दो-चार पंक्तियों की।"

"भले ही छोटी-सी रही हो, मगर तुमने जवाब क्यों नहीं दिया? आखिर शराफत भी तो कोई चीज है।"

"शराफत के बारे में कौन सोच रहा था?" उसके बाद वह जरा रुका, फिर बोला, "वही तो मैं कह रहा हूं, मेरी वह अतुलनीय अभिज्ञता इतनी सुन्दर थी कि मैंने सोचा नहीं था कि उसे मैं फिर छू सकता हूं— इसीलिए तो तुम्हें मैंने देश-काल के परे करके रख दिया था।"

"असली बात यह है कि तुमने सोचा था कि मैं अपने नये जीवन में तुम्हें भूल चुकी हूं।"

"नहीं, नहीं, नहीं अमृता, कभी एक पल के लिए भी मैंने यह नहीं सोचा था कि तुम मुझे भूल सकती हो।" उसने एक किताब ताक पर से उतार ली, "मैं सिर्फ यह नहीं जानता था कि तुम मुझे देखना चाहती हो...।"

"क्यों?"

"हम लोग तो यह जानते हैं कि कितनी सुन्दर-सुन्दर चीजें हैं, सुमेरु शिखर है, तुषार-मौलि हिमालय है, पर हम लोग क्या वहां जा सकते हैं? हम लोग यह भी जानते हैं कि वे सब हमारे ही हैं, फिर भी क्या हम लोग उन्हें पा सकते हैं? सो यही बात मेरी उस अतुलनीय अभिज्ञता पर लागू होती है। मैं उस तक पुनः पहुंच नहीं सकता, उसे पुन पा नहीं सकता। लेकिन इसी कारण उससे दूर रहना उसे भूलना नहीं है। वह तो मेरे गुप्त विश्व की सर्वाधिक गुप्त सत्ता से संलग्न मेरा सुन्दरतम स्वप्न है।"

"पर मैं तो उसे पा सकती हूं, उस तक पहुंच सकती हूं। लो, देख लो, मैं आ गयी न!"

"तुम जो अमृता हो, अनश्वर अमृता हो, तुम जो कर सकती हो मैं क्या वह कर सकता हूं? तुम्हारी संस्कृति हजारों वर्ष पुरानी है, तुम्हारा

ही प्रेम का प्रकाश होता है। बुद्धि के प्रकाश की भी सीमा है, उसका तो एक ही क्षेत्र है, किन्तु प्रेम का प्रकाश सबसे अधिक ज्योतिर्मय है, वह तो समूचे का सच्चा रूप दिखा देता है। यह प्रकाश जलता है, तो त्रिभुवन प्रेममय हो जाता है; अप्रिय प्रिय हो जाता है। तुम विश्वास करो मिर्चा, तुम्हारी याद आने के बाद मेरे पति मेरे लिए प्रियतर हो उठे हैं। इतना प्यार उन्हें मैंने पहले कभी नहीं किया था। विश्वास करोगे तुम ?"

वह गर्दन हिला रहा है, "जरूर, जरूर, सच है, सच है।"

"क्या सच है ?"

"यही, जो तुम कह रही हो। तुम जो कह रही हो वह ध्रुव-सत्य है। तुम तो हर समय सच ही बोला करती हो।"

"हाँ, सच्चाई के प्रति मैंने मन-समर्पण किया है। और इसीलिए तो सच्चाई को स्वीकारने मैं यहाँ आयी हूँ। ऐसा करना कोई आसान काम नहीं है, मिर्चा ! दुनिया, समाज, सगे-सम्बन्धियों, बेटे-बेटियों के सामने सम्मान के ऊँचे आसन से ज़मीन पर उतर आयी हूँ। हो सकता है, कोई सोच रहा हो कि मेरी बुद्धि सठिया गयी है। जब और भी ज्यादा लोग जानेंगे, तो वे क्या सोचेंगे मेरे बारे में, ज़रा यह भी सोचो। मेरे देश को तो जानते हो तुम। लोग मुझ पर उँगली उठायेंगे, कीचड़ उछालेंगे। बयालीस वर्ष बाद तुम्हें देखने आना क्या कोई आसान बात है !"

"ठीक कह रही हो। ऐसा करना बिलकुल ही आसान नहीं है। मैं तो हरगिज ऐसा नहीं कर सकता। कितनी बार अपने सपनों के भारत जाने का मुझे मौका मिलता है, पर मैं नहीं जाता हूँ। मैं भला कैसे जाऊँ वहाँ ?"

"क्यों, मैं वहाँ हूँ इसलिए ?"

वह माथा हिला रहा है, "हाँ, इसीलिए तो...।"

"और मैं तो, तुम यहाँ हो, इसीलिए आयी। आखिर मुझे इतना साहस कहाँ से मिला, बताओ तो ?"

"मैं भी तो यही सोच रहा हूँ कि आखिर तुम्हें इतना साहस कहाँ से मिला। अच्छा, बताओ तो, कहाँ से तुम्हें इतना साहस मिला ?"

"गांधीजी से। मैंने सोचा, वे अगर सच्चाई को स्वीकार सकते हैं,

ग्रौर मेरा इतिहास एक तो नहीं है। तुम ठहरीं अमर भारत की अमृता।"

"अच्छा, तो ऐसी बात है ! मगर मैंने तो सुना है कि तुम भी भारतीय हो।"

"ओ हाँ, मैं तो सबसे ही यही कहता हूँ कि मैं भारतीय हूँ।"

"मैं यह सब-कुछ सुनना नहीं चाहती। तुम मुड़ो मिर्चा, मेरी ओर मुड़ो। मैं तुम्हें देखूंगी आज।"

वह खड़ा तो है, किन्तु स्थिर नहीं हैं—हमारे बीच कम-से-कम तीन गज़ का फ़ासला है। मैं जोर-जोर से बोल रही हूँ—हमारी तो बहुत उम्र हो चुकी है, कानों की शक्ति जरूर कम हो गयी होगी। पर वह उद्भ्रान्त-सा लग रहा है।

"कैसे तुम्हें देखूं मैं ? दांते ने क्या कभी यह सोचा था कि वह अपनी बिएट्रिस को अपनी इन्हीं हाड़-मांस की आँखों से देख सकेगा ?"

मैं भी कांप रही हूं। उसके पागलपन को देखकर मुझे गुस्सा भी आने लगा है। इस आदमी ने सचमुच ही अपनी एक कल्पना की दुनिया बना डाली है और उसी में रह रहा है। पता नहीं, कहाँ से वह दांते-बिएट्रिस का प्रसंग खींच लाया : "देश-काल के परे भला क्या होता है ? मैं क्या भूत हो गयी हूँ ? पता नहीं, किस सपनों की दुनिया में, किस कल्पना के धुंधले स्वर्ग में तुम रहते हो, मिर्चा ? मैं तो इसी वास्तविक दुनिया की हाड़-मांस की अमृता हूँ और तुम्हारे पढ़ने-लिखने के कमरे में खड़ी हूँ। यह एक सच्चाई है और इस सच्चाई को तुम्हें स्वीकारना ही होगा, मिर्चा। छोड़ो तो अपनी पलायनवादी मनोवृत्ति को।"

"मैं कैसे क्या करूँ, अमृता ! तुम्हारे पति हैं, मेरे भी पत्नी हैं। अब मैं क्या कहूँ, बताओ ?"

मैं तो विस्मित, हतवाक् ! मिर्चा क्या बकता है ?

"मिर्चा, तुमने इतना पढ़ा, लेकिन तुम्हें प्रज्ञा नहीं मिली। प्रेम क्या एक वस्तु है जो तुम एक आदमी से छीनकर दूसरे को दे दोगे ? यह क्या विषय-सम्पत्ति है ? सोने का गहना है ? यह तो एक प्रकाश है मिर्चा, एक प्रकाश। जैसे बुद्धि का प्रकाश होता है, ज्ञान का प्रकाश होता है वैसे

ही प्रेम का प्रकाश होता है। बुद्धि के प्रकाश की भी सीमा है, उसका तो एक ही क्षेत्र है, किन्तु प्रेम का प्रकाश सबसे अधिक ज्योतिर्मय है, वह तो समूचे का सच्चा रूप दिखा देता है। यह प्रकाश जगता है, तो त्रिभुवन प्रेममय हो जाता है; अप्रिय प्रिय हो जाता है। तुम विश्वास करो मिर्चा, तुम्हारी याद आने के बाद मेरे पति मेरे लिए प्रियतर हो उठे हैं। इतना प्यार उन्हें मैंने पहले कभी नहीं किया था। विश्वास करोगे तुम ?"

वह गर्दन हिला रहा है, "जरूर, जरूर, सच है, सच है।"

"क्या सच है ?"

"यही, जो तुम कह रही हो। तुम जो कह रही हो वह ध्रुव-सत्य है। तुम तो हर समय सच ही बोला करती हो।"

"हाँ, सच्चाई के प्रति मैंने मन-समर्पण किया है। और इसीलिए तो सच्चाई को स्वीकारने मैं यहाँ आयी हूँ। ऐसा करना कोई आसान काम नहीं है, मिर्चा ! दुनिया, समाज, सगे-सम्बन्धियों, बेटे-बेटियों के सामने सम्मान के ऊँचे आसन से जमीन पर उतर आयी हूँ। हो सकता है, कोई सोच रहा हो कि मेरी बुद्धि सठिया गयी है। जब और भी ज्यादा लोग जानेंगे, तो वे क्या सोचेंगे मेरे बारे में, जरा यह भी सोचो। मेरे देश को तो जानते हो तुम। लोग मुझ पर उँगली उठायेंगे, कीचड़ उछालेंगे। बयालीस वर्ष बाद तुम्हें देखने आना क्या कोई आसान बात है !"

"ठीक कह रही हो। ऐसा करना बिलकुल ही आसान नहीं है। मैं तो हरगिज ऐसा नहीं कर सकता। कितनी बार अपने सपनों के भारत जाने का मुझे मौका मिलता है, पर मैं नहीं जाता हूँ। मैं भला कैसे जाऊँ वहाँ ?"

"क्यों, मैं वहाँ हूँ इसलिए ?"

वह माथा हिला रहा है, "हाँ, इसीलिए तो...।"

"और मैं तो, तुम यहाँ हो, इसीलिए आयी। आखिर मुझे इतना साहस कहाँ से मिला, बताओ तो ?"

"मैं भी तो यही सोच रहा हूँ कि आखिर तुम्हें इतना साहस कहाँ से मिला। अच्छा, बताओ तो, कहाँ से तुम्हें इतना साहस मिला ?"

"गांधीजी से। मैंने सोचा, वे अगर सच्चाई को स्वीकार सकते हैं,

तो फिर मैं वैसा क्यों नहीं कर सकूंगी ? और अगर वैसा नहीं कर सकी, तो फिर उनकी जयन्ती पर भाषण देकर क्या होगा ! मैं तो बहुत भाषण दिया करती हूं न।"

"गांधी क्या इतने बड़े हुए थे ?"

"हां, हां, उन्नीस सौ तीस ईस्वी में तुम उन्हें जितना जानते थे वे उससे बहुत बड़े हुए थे। वे जो मानवता की सेवा में लग गये थे, वे सिर्फ़ किताबें नहीं पढ़ रहे थे।...इसीलिए तो पूछ रही हूं तुमसे कि तुमने अपनी किताब में क्या चरित्र आंका है मेरा, वहां तो अपने-आपको पाया नहीं मैंने।"

"मगर वह तो स्वैर-कल्पना है, कल्पना। तुम्हें मैंने एक रहस्यमयी देवी बनाना चाहा था, जिसके कामों की कोई कैफ़ियत नहीं है—अनहोनी को होनी कर देने वाली काली की तरह।"

"खबरदार, काली के साथ मेरी तुलना मत करना...हमेशा तुमने मुझे काली कहा है, मैं क्या इतनी काली हूं ?"

"अच्छा, अच्छा, तुम दुर्गा की तरह हो, जो असम्भव कामों को कर सकती हैं, जो अनित्य हैं, जो एक हाथ में शस्त्र धारण करती हैं और दूसरे हाथ से अभय वर देती हैं, एक गूढ़ पहेली—वैसी ही पहेली जो तुम थीं...।"

"मैं तुमसे कह रही हूं, कल्पना सुन्दर होती है और सत्य सुन्दरतर, किन्तु अर्ध-सत्य तो भयंकर होता है। इसीलिए तो तुम्हारी वह किताब मेरे लिए विभीषिका के समान है। इसके अलावा, मैं तो बहुत सहज, सरल एक छोटी-सी लड़की थी मिर्चा, बस सिर्फ़ बीच-बीच में दार्शनिक होने का स्वांग रचा करती थी। यह रहस्य तो तुम्हारी सृष्टि है—तुम रहस्य को प्यार करते हो। लेकिन अबकी बार मैं असम्भव काम करने के लिए ही आयी हूं...।"

वह मेरी ओर पीठ दिये ही खड़ा है। मैंने उसकी तरफ़ अपना एक हाथ बढ़ा दिया है—मेरा अन्तर निष्कम्प है, स्थिर है—उसके इस रहस्य की खुमारी को मैं दूर करूंगी—इस वास्तविक दुनिया की धरती पर हम लोग परस्पर को देखेंगे।

कब क्या हो सकता है ! मैंने तो किसी दिन सोचा तक नहीं था कि मैं तुम्हें देख पाऊँगा !"

"तो फिर मुड़ो मेरी ओर।"

मिर्चा मुड़ा। लेकिन मुँह नहीं उठा रहा है। मुँह नीचा किये हुए है—मुझे देखने के लिए वह अभी तक तैयार नहीं है। मैं गिड़गिड़ा रही हूँ, "तुम मेरी ओर क्यों नहीं देख रहे हो ? तुमने जो अपनी किताब में लिखा है कि जिस दिन मुझसे तुम्हारी मुलाक़ात होगी, उस दिन तुम मेरी आँखों की ओर निहारोगे। वह बात भूल गये ?"

"मगर वह तो बहुत दिन पहले की बात है। चालीस वर्ष पहले की। हाय, चालीस वर्ष !"

"जानते हो, लोग मुझसे पूछा करते हैं कि कितने दिन तुम हमारे घर में थे ? मुझे तो कुछ याद नहीं आता है, कितने दिन थे तुम वहाँ, बताओ न ?"

"हज़ारों वर्ष।"

"तो फिर ? तो फिर तुम भी क्या यह नहीं जानते हो कि तुम कौन हो, हम लोग कौन हैं ? मैं तो उसी 'तुम' को देखने आयी हूँ जिसे कोई अस्त्र बींध नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकती।"

उसने संस्कृत में कहा : "न हन्यते हन्यमाने शरीरे।"

"तो फिर ? मैं तो उसी 'तुम' को, जिसका न आदि है, न अन्त—नान्तम् न मध्यम् न पुनस्तवादिम्—देखना चाह रही हूँ—तो मेरी ओर एक बार नज़र उठाकर देखो। विश्वास करो, मैं पल-भर में तुम्हें चालीस वर्ष पीछे ले जाऊँगी और तब तुम देखोगे कि हम लोग वहीं खड़े हैं जहाँ पहली बार हम लोग मिले थे। मेरी ओर ताकने से ही तुम अमर होगे मिर्चा, अमर होगे।"

मिर्चा ने मुँह उठाया।...मैंने देखा, उसकी आँखों की दृष्टि स्थिर है। कैसी मुसीबत है, जिस बात का डर था वही हुआ है—उसकी दोनों आँखें पथरा गयी हैं। वह अब किसी भी दिन मुझे नहीं देख सकेगा। क्या होगा ! क्या होगा अब ! हा ईश्वर, अब क्या उपाय है ! उन आँखों में मैं तो अब प्रकाश नहीं जला सकूँगी। मेरे हाथ में तो प्रदीप नहीं है—